इलाचन्द्र

जोशी



जहाज का पंछी

जहाज़ का पंछी

जहाज का पंछी

इलाचन्द्र जोशी



राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

विशेष रूप से संशोधित संस्करण, १९५१

मूल्य चार रुपये

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली द्वारा प्रकाशित।
ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी द्वारा मुद्रित।
५५२५–१६

विद्रोही कवि निराला को

जैसे उड़ि जहाज को पंछी
फिरि जहाज पै आवै।

—सूरदास

जहाज का पंछी

तो अन्त में मुझे इस गली में शरण मिली है—कलकत्ता महानगरी के इस नरक में, गन्दगी को भी गन्दा करनेवाले इस घूरे में, सभ्य संसार की इस फैशन की रंगीनी के आवरण के भीतर मानव-जगत् के मर्म में छिपे हुए इस कोढ़-केन्द्र में ! विश्वास मानिए, मैं केवल विवशता के कारण यहाँ आया हूँ, किसी प्रकार की ज्ञात या अज्ञात इच्छा, या कुतूहल या जीवन की गन्दगी का ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता से प्रेरित होकर नहीं । जीवन के विविध चक्करों में उलझनें और तरह-तरह के संघर्षों का सामना करने के बाद जब परिस्थितियों ने मुझे इस विराट् नगरी में लाकर पटक दिया तब मुझे कहीं इतनी भी जगह सुलभ न हो सकी जितने में मैं दो हाथ और दो पाँव पसारकर लेट सकता और अपने पिछले सत्ताईस वर्षों के जीवन की थकान कुछ समय के लिए भुला सकता । इसमें आप लोग यह अनुमान न लगाएँ कि मेरे लिए केवल लेटने योग्य जगह पा जाने की ही समस्या थी और पेट भरने की सारी व्यवस्था बिलकुल ठीक थी । नहीं, पेट भरने की तनिक-सी व्यवस्था मेरे लिए कहीं किसी भी रूप में नहीं थी । पर, सच मानिए, कलकत्ता में पाँव रखते ही जिस चिन्ता ने सबसे पहले मेरे मन पर आघात किया वह पेट से सम्बन्धित न होकर निवास से सम्बन्धित थी । 'क्या खाऊँ' यह प्रश्न मेरे मन में बहुत बाद में उठा: 'कहाँ जाऊँ' यह प्रश्न प्रधान बनकर पहले ही क्षण मेरी छाती पर चढ़कर बैठ गया । लगता था कि यदि कहीं लेटने-भर को जगह पा जाऊँ तो

कई युगों तक बिना अन्न-जल के लिये भी जी सकूँगा। इस विराट् नगरी की बड़ी-बड़ी सड़कों को दोनों ओर से घेरे हुए जो बड़े-बड़े भवन, सौध-श्रेणियाँ और अट्टालिकाएँ खड़ी थीं, उनकी ईंट-ईंट के भीतर जैसे मनुष्य-रूपी असंख्य कीट भरे पड़े थे; पर उनमें मेरे या मेरे ही जैसे निःसंबल, जीवन-संघर्ष में थके-हारे, युग-युग से भटकते हुए पथिकों के लिए कहीं तिल-भर भी स्थान नहीं था। कई दिनों तक पार्कों और फुटपाथों पर काल को काटता या धोखा देता रहा। सुबह से लेकर आधी रात तक का समय अधिकांशतः किसी पार्क में बिता देता और आधी रात के बाद जब पार्क का चौकीदार मुझे धक्का देकर जगाता तब बाहर निकलकर या तो किले के मैदान का आश्रय पकड़ता या किसी फुटपाथ की शरण जाता। जो दो रुपये किसी जुगत से मैंने बचा रखे थे वे भी जब दो-चार दिन तक दो जून चना-चिउड़ा चबाने में समाप्त हो गए तब पेट की ओर से भी बड़ी तीखी और मार्मिक शिकायतें मन के तारों के जरिये मेरे मस्तिष्क में पहुँचने लगीं। दृढ़ इच्छा-शक्ति से उनका प्रतिरोध या अवज्ञा करने का प्रयत्न करता हुआ मैं निरन्तर इस चेष्टा में रहा कि कहीं किसी प्रकार की नौकरी मिल जाय और दो रोटियों का ठिकाना लग जाय। पर चाहे मेरे संकोचशील, निष्प्रभाव और शंकित व्यक्तित्व के कारण हो, चाहे युग की सामूहिक परिस्थितियों के कारण, मैं कहीं किसी भी प्रकार की सुविधा जुटा सकने में असमर्थ सिद्ध हुआ।

मेरी शारीरिक और मानसिक स्थिति दिन-पर-दिन बिगड़ती चली गई। कॉलेज स्क्वायर के एक बेंच पर बैठा-बैठा मैं पास ही चना, चिउड़ा, मूँगफली और इसी तरह की दूसरी चीजों से सजे हुए खोमचों की ओर ललकती आँखों से देखता रहता। मुँह में पानी भर आता, पर आँखों का पानी सूख गया था, जैसे जीवन के अन्तहीन रेगिस्तान के भीतर दो अनादि और अतल धाराएँ सदा के लिए खो गई हों। इच्छा-शक्ति धीरे-धीरे ढीली पड़ती चली जा रही थी और सबसे बड़ा खतरा मुझे इस बात पर दिखाई देता था कि सबसे निकृष्ट प्रकार की करुणा—आत्म-करुणा—जगा सकने की शक्ति और समर्थता तक मुझमें शेष नहीं रह गई थी। मन में बार-बार यही निश्चय करता था कि अबकी जो भी व्यक्ति बेंच पर मेरी बगल में बैठेगा उसे अपनी सच्ची परिस्थिति बताकर, उसके भीतर करुणा जगाकर, कम-से-कम चना-चिउड़ा के लिए कुछ पैसे प्राप्त कर लूँगा। कभी पन्द्रह मिनट और कभी आधे घण्टे के अन्तर से एक नया आदमी आकर मेरी बगल में

बैठता था। पर हर तरह कोशिश करने पर भी मेरे मन की बात मेरे ओठों तक आकर रह जाती। प्रत्येक बार मैं सोचता कि अगले व्यक्ति के आगे अपनी व्यथा की करुण-कथा अवश्य प्रकट करूँगा, पर हर बार जबान पर जैसे ताला लग जाता। मेरे मुँह से बात जो निकल नहीं पाती थी उसका एक कारण तो स्पष्ट ही मेरे भीतर युग-युगों से अवरुद्ध सांस्कृतिक संस्कार था। पर उसके अलावा एक और कारण भी था।

मैं प्रारम्भ ही से इस बात पर गौर कर रहा था कि जब कोई व्यक्ति—चाहे वह छात्र हो या अध्यापक, दफ्तर का बाबू हो या साधारण चपरासी—पार्क का पूरा चक्कर लगाने के बाद थककर और किसी दूसरे बेंच में जगह न देखकर, मेरी बगल में आकर बैठता तब मेरी ओर एक बार सरसरी दृष्टि से देखने के बाद तत्काल अपनी जेब को सँभालते हुए सरककर बैठ जाता। मेरे सिर के रूखे-सूखे अस्त-व्यस्त बाल, घनी घास से भरी क्यारियों की तरह दो गलमुच्छे और उन गलमुच्छों के अगल-बगल और नीचे फैले हुए, एक हफ्ते से न छीले गए, फसल कटने के बाद शेष रह जाने वाले सूखे खूँटों की तरह छितराए हुए दाढ़ी के कड़े बाल, क्षय रोग के रोगियों की तरह मुरझाया हुआ मेरा दुबला-पतला, धुले हुए कपड़ों की तरह रक्तहीन सफेद चेहरा, धँसी हुई (और सम्भवतः अप्राकृतिक प्रकाश से चमकती हुई) आँखें, गड़े पड़े हुए गाल और गालों की ओर ठुड्डी की उभरी हुई, नुकीली हड्डियाँ, तिस पर कई दिनों से धुलने की सुविधा न होने से मैला कुर्ता और मैली ही धोती—ये सब उपकरण देखकर कोई भी व्यक्ति स्वभावतः मुझसे सावधान रहना चाहेगा, यह मैं पहले ही से जानता था इसलिए इस बात से मुझे कोई दुःख नहीं होता था। फिर भी इसका असर इतना तो पड़ता ही था कि कुछ प्रार्थना करने के सम्बन्ध में मेरा रहा-सहा साहस भी जाता रहता था। इसके अतिरिक्त, बाद में इस बात की एक और प्रतिक्रिया मेरे मन पर अपना प्रभाव छोड़ने लगी, जिसकी कल्पना-मात्र से मैं आतंकित हो उठता। जब मेरा हुलिया देखकर मेरी बगल में बैठनेवाले एक-एक करके प्रायः सभी व्यक्ति मुझ पर पेशेवर गुण्डा या गिरहकट होने का सन्देह करने लगे तब अपनी उस हताश स्थिति में उन लोगों के मन की भावना का छुतहा प्रभाव मुझ पर इस रूप में पड़ने लगा कि बीच-बीच में कुछ क्षणों के लिए मैं सचमुच तिरछी दृष्टि से (हाथ से नहीं) पास-वाले व्यक्ति की जेब की जाँच करने लगता।

एक बार कॉलेज स्क्वायर के एक बेंच में प्रायः बाईस-तेईस वर्ष के दो सम-वयसी-से लगनेवाले लड़के (सम्भवतः छात्र) मेरी बगल में इतमीनान से बैठ गए —दूसरे व्यक्तियों की तरह शंका से मुझसे अलग हटकर, दबकर, सरककर नहीं बैठे। दोनों ने एक बार सरसरी दृष्टि से मेरी ओर देखा। लगा कि मेरे सम्बन्ध में कुछ कुतूहल उनके मन में जगा। पर उन्होंने न कुछ पूछा, न मैं कुछ बोला। थोड़ी देर बाद बगलवाले लड़के ने जिसका चेहरा गोल था, रंग साँवला था और जो काफी स्वस्थ और तगड़ा दिखाई देता था, मेरी ओर पीठ फेर ली और वह अपने साथी से बँगला में अन्तरराष्ट्रीय राजनीति पर बातें करने लगा। बात बढ़ते-बढ़ते गरमागरम बहस में परिणत हो गई। प्रश्न बहुत फलने के बाद अन्त में कटकर, छँटकर, सिमटकर इस बात पर केन्द्रित हो गया कि क्या चीन और अमरीका के बीच कभी किसी भी बात पर समझौता सम्भव हो सकेगा। जो लड़का मेरी बगल में मेरी ओर पीठ करके बैठा हुआ था वह एक-एक शब्द—बल्कि अक्षर—पर पूरा जोर देते हुए कह रहा था कि "ऐसा कभी हो नहीं सकता। अमेरिका 'फ्री वर्ल्ड' से सम्बन्ध रखता है—उसका नेतृत्व करता है, जबकि चीन मानव-जीवन को पग-पग पर तरह-तरह के बन्धनों में उलझाए रखना चाहता है। अमेरिका मुक्ति का उपासक है, चीन बन्धनों का प्रतिष्ठाता। दोनों के आदर्शों में मूलगत वैषम्य है। इसलिए कभी दोनों के बीच समझौता नहीं हो सकता।" दूसरा लड़का कह रहा था, "सामूहिक मानवीय आदर्शों के बीच इतनी बड़ी खाई अणु-युग में अधिक समय तक रह ही नहीं सकती। इसलिए चीन, रूस और अमेरिका को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आना ही होगा—चाहे संघर्ष द्वारा हो, चाहे समझौते द्वारा। और मुक्ति और बन्धन के बारे में तुमने जो बात कही है उससे जाहिर है कि वास्तविकता के सम्बन्ध में तुम्हारा ज्ञान कितना छिछला और कृत्रिम है। आज मानव-जीवन में स्वतन्त्रता कहीं किसी भी रूप में विद्यमान नहीं है। आज मानवता के सारे तन्त्र, मन्त्र और यन्त्र स्वतन्त्रता को इस पृथ्वी पर से एकदम मिटा देने के लिए बाजी लगाए बैठे हैं। कहीं स्वतन्त्रता छिपे तौर पर, बदले हुए भेष में भी टिकी न रह जाय, इस आशंका से उसे डराने और भगाने के लिए सभी प्रयत्न किये जा रहे हैं। हाइड्रोजन बम के परीक्षणों द्वारा उसे आतंकित किया जा रहा है। कहीं पृथ्वी के उस पार किसी ग्रह से उड़कर मुक्ति पृथ्वी का आश्रय ग्रहण न कर ले, इस भय से सभी महासागरों के चारों ओर कड़ी निगरानी रखी

जा रही है।"

"तुम्हारा यह व्यंग्य साफ ही अमेरिका के प्रति है," पहला लड़का बोला। "अभी तुमने ठीक से अमेरिका का उद्देश्य समझा नहीं है।"

"और तुम्हीं ने रूस का उद्देश्य कहाँ समझा है?" दूसरे लड़के ने कहा।

"मैं अमेरिकी सभ्यता का उपासक नहीं हूँ, पर चीनी और रूसी सभ्यता से उसे बेहतर मानता हूँ," पहला लड़का कुछ उत्तेजित होकर बोला।

"मैं चीनी और रूसी सभ्यता का उपासक नहीं हूँ, पर अमेरिकी सभ्यता से उसे बेहतर मानता हूँ," दूसरे लड़के ने उसी लहजे में उत्तर दिया।

"अमेरिका यह चाहता है कि..."

"चीन यह चाहता है कि..."

बहस ने बढ़ते-बढ़ते ऐसा गरम रूप धारण कर लिया कि दोनों लड़के—जो स्पष्ट ही घनिष्ठ मित्र लगते थे—व्यक्तिगत स्तर पर उतर आये और एक-दूसरे के प्रति मार्मिक व्यंग्य कसने लगे। एक कहता था: "तुम दुम-कटे सोशलिस्ट हो।" दूसरा—मेरी बगलवाला लड़का—कहता था, "तुम पर-कटे कम्यूनिस्ट हो।" मेरी बगलवाला लड़का उत्तेजित होने के कारण इस तरह उछल-उछलकर बातें कर रहा था कि उसके कुर्ते की जेब में रखा हुआ काले रंग का बटुआ धीरे-धीरे बाहर की ओर निकलता चला आ रहा था। अन्त में यहाँ तक नौबत आई कि बटुआ पूरे-का-पूरा बाहर निकलकर बेंच पर आ गिरा—उसकी पीठ और मेरे हाथ के बीच में। मैं यद्यपि भरसक उनकी बहस में विघ्न डालना नहीं चाहता था (क्योंकि मुझे उनकी बातों में बड़ा रस मिल रहा था, यहाँ तक कि मैं अपनी भूख-वेदना को भी बहुत-कुछ भूल-सा गया था), तथापि जब उस लड़के का बटुआ मेरे हाथ के पास आ गिरा तब मैं रह न सका। भयभीत होकर मैंने चिल्लाना शुरू किया, "तनिक इस ओर भी देखिए महाशय, आपका बटुआ गिर गया है।"

लड़के ने पीछे की ओर मुड़कर देखा और घबराहट के स्वर में बोला, "कहाँ है?" और अपनी जेब में हाथ डालने लगा। मैंने नीचे से उठाकर उसके हाथ में बटुआ थमाते हुए कहा, "यह है।"

लड़के ने मुझे धन्यवाद दिया, पर धन्यवाद देते हुए उसने एक बार गौर से मेरी ओर देखा। देखते ही उसकी आँखों में शंकित भाव साफ झलकने लगा। कुछ देर तक वह उसी शंकित दृष्टि से मेरी ओर एकटक देखता रहा। बड़ा ही

भय उत्पन्न करनेवाली थी उसकी वह सन्देह, व्यंग्य और घृणा-भरी दृष्टि। और फिर मेरे सामने ही उसने बटुए को खोलकर, नोटों को निकालकर गिनना शुरू कर दिया, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि उसे केवल मेरी नीयत पर ही सन्देह नहीं है, बल्कि उसने मुझे पेशेवर गिरहकट ही मान लिया है। उसका साथी भी मेरे 'व्यक्तित्व' में दिलचस्पी लेने लगा और एक बार स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखकर उसने अपने साथी से पूछा, "क्या बात है? ठीक तो है सब?"

"हाँ ठीक ही है," पहला लड़का बोला, "केवल एक रुपये का हिसाब नहीं मिल रहा है।"

"अरे तब कोई बात नहीं है," दूसरे लड़के ने कहा, "कहीं खर्च हो गया होगा। बाद में याद आ जायगा।"

पहले लड़के ने बटुआ बन्द करके फिर एक बार उसी व्यंग्य, सन्देह और घृणा-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए बटुआ दूसरी तरफवाली जेब में रख लिया। उसकी उस दृष्टि से मैं इस कदर कट गया कि रह न सका। जिस बात को मुँह से निकालने का साहस इतने दिन तक किसी के आगे नहीं कर पाया था वह सत्य होने पर भी बरबस जैसे एक व्यंग्य के रूप में सहसा मेरे मुँह से निकल पड़ा—

"महाशय जी, इस तरह घूर क्या रहे हैं? साफ कहिए कि बटुआ मिलने की खुशी में आप मुझे 'चना-चूर' नहीं खिलाना चाहते!"

"हा: हा: हा:!" एक विकट ठहाका मारते हुए वह लड़का अपने साथी का हाथ पकड़ता हुआ उठा और बोला, "उठो, यहाँ से चलें।"

दूसरा लड़का मेरी ओर जिज्ञासा-भरी दृष्टि से देखता हुआ धीरे से उठा। उसकी आँखों में व्यंग्य की अपेक्षा समवेदना का भाव अधिक स्पष्टता से झलक रहा था। उसने अपने साथी से कहा, "अपने बटुए से एक रुपया निकालकर उसे दे दो।"

"क्या बात करते हो? पागल हुए हो क्या? अरे वह नम्बरी गुण्डा है। उसके चेहरे से तुमने नहीं पहचाना? मैं तो पहली ही नजर में भाँप गया था। तुम क्या यह समझते हो कि बटुआ यों ही गिर गया था?"

वह ऐसे साफ शब्दों में और ऊँची आवाज में बोल रहा था कि अगल-बगल के बेंचों में बैठे हुए लोग भी दिलचस्पी लेते हुए-से जान पड़े।

"मुझे इस बात से कोई बहस नहीं है," दूसरा लड़का कुछ खीझकर बोला।

"तुम अगर अपनी तरफ से रुपया नहीं देना चाहते तो मुझे एक रुपया उधार दो। मैं कल तुम्हें दे दूँगा।"

"अरे हटाओ भी! तुम गलत ढंग के भावुक आदमी हो। मैं तुम्हें एक क्या दस रुपये उधार देने को तैयार हूँ, पर यहाँ और इस समय नहीं। आगे चलो मेरे साथ।" यह कहकर वह बलपूर्वक अपने साथी को घसीटता हुआ-सा ले गया। मैं एक लम्बी साँस खींचकर वहीं बैठा रहा। सब-कुछ सुनने और समझने के बाद मुझे इस बात पर आश्चर्य होने लगा कि उस लड़के ने मुझे सन्देह में पीटा क्यों नहीं।

कुछ देर तक मैं सूने भाव से, एकदम जड़ और निश्चेष्ट मनःस्थिति में उसी तरह बैठा रहा। धीरे-धीरे मेरा भूख से थकित शरीर अवश होता चला जा रहा था। बैठने की शक्ति मुझमें नहीं रह गई थी। बेंच खाली पड़ा था। मैं लेटने ही जा रहा था कि कि सहसा सामने बाईं ओर से वही साँवले रंग और गोलाकार चेहरे वाला, मोटा-सा लड़का आता हुआ दिखाई दिया। उसके साथ इस बार उसका साथी दूसरा लड़का नहीं था। उसके पीछे-पीछे पुलिस का एक आदमी चला आ रहा था। मेरे पास आते ही वह लड़का ठहर गया और मेरी ओर संकेत करते हुए पुलिसवाले से बोला, "यही है। मेरी जेब से बटुआ निकालकर गायब कर लेना चाहता था!" तत्काल आठ-दस आदमी इकट्ठा हो गए। भीड़ में से एक आदमी बोला, "मैं भी कई दिन से इस आदमी को 'मार्क' कर रहा हूँ। पहले दिन इसे देखते ही मैं समझ गया था कि यह घिसा हुआ गिरहकट है। क्या जमाना आया है! इन चोट्टों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती चली जा रही है। इन दुष्टों ने अच्छे आराम का पेशा अख्तियार किया है।"

मेरे दिल की धड़कन बेतरह बढ़ गई थी और पाँव बरबस थरथरा रहे थे। पुलिस का आदमी कुछ देर तक अपनी छोटी-सी आँखों से, बड़ी ही क्रूर दृष्टि से मेरी ओर एकटक देखता रहा। उसके बाद क्रोध और अधिकार से भरी भारी आवाज में बोला: "मैं इसे जानता हूँ। रात में कभी पार्क में और कभी फुटपाथ पर लेटा रहता है। पक्का दसनम्बरी है। क्यों बे, क्या हाल हैं? चल उठ!" कहकर उसने मेरा दायाँ हाथ पकड़कर खींचकर मुझे उठाया। उसके बाद उसने उसी गोल मुँहवाले लड़के से कहा: "आपको भी रपट लिखाने के लिए मेरे साथ थाने में चलना होगा।"

"थाने में ? रिपोर्ट लिखाने के लिए ? मैं थाने-वाने कहीं नहीं जाऊँगा। मैंने तुम्हें बता और दिखा दिया और गवाही भी दिला दी। अब तुम्हारा काम है, चाहे इसे थाने ले जाओ चाहे उठाकर यहीं तालाब में फेंक दो। थाने में जाऊँ उल्टे मैं ? अरे बाबा, मैं बाज आया !"

"यह कैसे हो सकता है, साहब ! मेरा हाथ कसकर पकड़े हुए पुलिसवाला, जो स्पष्ट ही मिर्जापुरी लगता था, उस लड़के से बोला : "बिना रपट लिखाए कैसे काम चलेगा ? आप चलते क्यों नहीं मेरे साथ थाने में ? आप डरते काहे को हैं ?"

"अरे बाबा, न, न ! मैं थाने किसी भी हालत में नहीं जाऊँगा। मेरे चौदह पुश्तों में कभी कोई थाने नहीं गया, आज मैं जाऊँ ? न, यह कभी सम्भव नहीं हो सकता।" अपने भय को परिहास का रूप देते हुए लड़के ने कहा। सब लोग अच्छे कौतुक का अनुभव करते हुए हँस पड़े।

पुलिसवाला खीझ उठा। सम्भवतः आज मैं ही उसका पहला शिकार था और उसी को हाथ से फिसलते देखकर वह सचमुच चिन्तित हो उठा। रिपोर्ट लिखाने से एक अच्छा-खासा 'केस' उसके 'क्रेडिट' में जुड़ जाता। नहीं तो बिना सबूत के कितने ही 'गिरहकट' प्रतिदिन पकड़े, हवालात में बन्द किये और छोड़े जाते थे। ऐसे मामले पुलिस की नौकरी के हिसाब-खाते में—तरक्की की रिपोर्ट में—शायद नहीं जोड़े जाते थे। जब वह लड़के को 'रपट' लिखाने के लिए किसी तरह भी राजी न कर सका तब हताश मनःस्थिति में मुझे बुरी तरह घसीटता हुआ पार्क के बाहर ले गया। कुछ दूर आगे ले जाकर एक धक्का देकर उसने मुझे छोड़ दिया। इस धक्के से मैं कई कदम आगे फुटपाथ पर एक पुस्तकों की दुकान के नीचे, बड़े जोरों से औंधा गिरा। दाँतों से ओंठ कट जाने से मेरे मुँह से खून गिरने लगा, केवल इतना ही मुझे याद है। जाहिर है कि मैं बेहोश हो गया हूँगा, क्योंकि उसके बाद उस दिन की कोई स्मृति मुझे नहीं है।

जब होश आया तब प्रारम्भिक कुछ क्षणों तक मुझे लगा कि मैं सपना देख रहा हूँ। मुझे अपने चारों ओर पलंग-ही-पलंग दिखाई दिये। प्रत्येक पलंग पर कोई-न-कोई आदमी लेटा हुआ था। मैंने आँखों को दोनों हाथों से अच्छी तरह

मला और अर्द्धचेतना की-सी अवस्था में यह सोचने का प्रयत्न करने लगा कि वह कौन स्थान हो सकता है जहाँ मैं लेटा हूँ। मन और मस्तिष्क दोनों ऐसे दुर्बल हो गए थे कि ठीक से कुछ सोच ही नहीं पाता था। दो-तीन मिनट बीतने पर मैं यह अनुमान लगा पाया कि मैं एक अस्पताल में हूँ। एक नर्स आई। उसने मेरी नाड़ी देखी, तापमान लिया और रक्तचाप मालूम किया। उसके बाद वह एक खुराक दवा मुझे पिला गई।

अस्पताल के जिस कमरे में मैं लेटा हुआ था वह स्पष्ट ही जनरल वार्ड था। यह अनुभूति मुझे बहुत ही सुखद लगी कि मैं एक पलंग पर लेटा हूँ, फुटपाथ पर या बेंच पर नहीं। मुझे एक गिलास दूध पिलाया गया और दोपहर को हलका खाना भी दिया गया। मैंने दूध भी बड़े ही स्वाद से पिया और खाना भी बड़ी ही तृप्ति से खाया। मुझे लगा कि पुलिस वाले का धक्का देना मेरे लिए बड़ा ही वर-दान सिद्ध हुआ, नहीं तो मुझे कहाँ सोने को पलंग मिलता, पीने को दूध मिलता (फिर चाहे उसमें आधे से अधिक पानी ही क्यों न मिला हुआ हो) और खाने को 'वेजिटेबल सूप' और खिचड़ी मिलती ! जाहिर है कि यह मेरे ऊपरी मन की प्रतिक्रिया थी। मेरी आत्मरक्षा की भावना मेरे भीतरी मन की तीखी पीड़ा को उस समय बिलकुल दबाए रखना चाहती थी। अपनी तत्कालीन विवश परिस्थिति के गलत मूल्यांकन से उत्पन्न, सामाजिक अत्याचार के कारण खरोंचे गए नासूर की कँटीली अनुभूति को मैं जान-बूझकर उभाड़ना नहीं चाहता था। मैं जानता था कि यदि मेरी तत्कालीन निपट दुर्बल शारीरिक स्थिति में भीतर की वह गहरी मर्मपीड़ा कहीं उमड़ उठी तो मैं फिर बेहोश क्या हो जाऊँगा, सम्भवतः मेरी मृत्यु ही हो जायगी।

•

तीन-चार दिन बाद मुझे लगा कि मेरे शरीर में और मन में कुछ बल का संचार हो रहा है। एक मीठी मादकता-भरी आशावादिता एक मोहक गुलाबी नशे की तरह मेरे मन में और प्राणों में आने लगी। अस्पताल का सारा वातावरण, जो साधारण और स्वाभाविक परिस्थिति में किसी स्वस्थ और प्रसन्न व्यक्ति के अन्तर में भी उदासी की सीलन भर देता और निराशा और निरुत्साह की भावना जगाता

है, मेरी आँखों के आगे निराले, सुनहरे स्वप्न के-से रूप में भासमान होने लगा। मनुष्य के प्रति मनुष्य की सहज समवेदना और सहानुभूति के अस्तित्व पर से मेरा जो विश्वास उठने लगा था वह सामूहिक पीड़ा के उस वातावरण में फिर से मेरे मन में नये रूपमें जमने लगा। मुझे लगा कि जितने भी मरीज उस वार्ड में भरती हुए हैं वे सब अपनी-अपनी पीड़ा से विकल होने पर भी एक-दूसरे का हाल जानने और अपने-अपने अनुभवों का दृष्टान्त देकर परस्पर दिलासे की बातें कहने के लिए उत्सुक हैं। विशेषकर वे रोगी जो अपनी पीड़ा की प्रारम्भिक परिस्थितियों में कुछ उबर चुके थे, अपने-अपने पड़ोसी रोगियों के मन के तारों को छूने, उनके हृदय के अधिक-से-अधिक निकट आने के लिए बहुत व्याकुल दिखाई देते थे। किन्हीं भी दो पड़ोसी रोगियों का पारस्परिक स्नेहालाप मेरे मन को एक अपूर्व सुखद अनुभूति से गुदगुदा देता था। जब कोई नर्स आकर किसी मरीज को दवा देती हुई अपनी सारी व्यस्तता के बीच में उससे एक भी स्नेह-भरा शब्द बोल देती तब मेरा हृदय गद्‌गद् हो उठता था। जब कोई डॉक्टर किसी निराश रोगी को तनिक भी आश्वासन देता तब मेरा अन्तर व्यक्तिगत कृतज्ञता की-सी अनुभूति से पुलकित हो उठता। किसी अस्पताल में भरती होने का वह मेरे लिए पहला ही अवसर नहीं था। मैं जानता था कि इस देश के बड़े-से-बड़े और अच्छे-से-अच्छे अस्पतालों में भी ऐसे डॉक्टरों और नर्सों की संख्या कुछ कम नहीं रहती जो किसी मानवीय भावना से प्रेरित होकर नहीं बल्कि केवल 'आफीशल ड्यूटी' बजाने के उद्देश्य से मशीन की तरह मरीजों को देखते हैं और उनके प्रति मशीन की तरह ही रूखा और निर्मम उदासीन व्यवहार दिखाते हैं। किसी सरकारी दफ्तर के कर्मचारियों की तरह कायदे और कानून की कड़ी पाबन्दी के अतिरिक्त और कोई दूसरी भावना उन्हें परिचालित नहीं करती। पर अपनी इस बार की मनःस्थिति में मैं उन लोगों के 'कायदे और कानून' द्वारा परिचलित व्यवहार की उपेक्षा जान-बूझकर करता हुआ केवल उन विरले क्षणों के स्वागत की प्रतीक्षा में रहता जब उनके किसी एक-आध शब्द से या मुख के किसी भाव से उनके भीतर का सच्चा मनुष्य बोल उठता था।

मेरे मन के भीतर एक अजीब परिवर्तन हो रहा था। इसका बाहरी कारण तो स्पष्ट ही यह था कि बहुत दिनों बाद मुझे वास्तविक अर्थ में आराम करने का अवसर मिला था; मेरे तन के साथ ही मेरे मन को भी भरपूर आराम मिल रहा

था। पर केवल इतने ही कारण से मेरे मन का परिप्रेक्षण आमूल बदला हो ऐसा मैं नहीं मानता। न जाने कौन-सी रहस्यमयी रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया मेरे भीतर चल रही थी! अपने पिछले जीवन के अत्यन्त कड़वे, विषैले, मार्मिक और मारक अनुभवों के कारण मेरे भीतर जो कुण्ठा, पराजय और कटुता की भावनाएँ कुछ समय से घर करने लगी थीं और काले तूफानी बादलों की तरह मेरे मन के आकाश में छाने लगी थीं वे एक अत्यन्त तुच्छ कारण से बादल की ही तरह फट-कर साफ हो गईं। अपने बचपन के दुखी जीवन में भी अज्ञात आशा और अकारण उल्लास की जो सहज अनुभूतियाँ उषा के प्रथम प्रकाश की तरह मेरे अन्तर्मन को पुलक से व्याकुल किया करती थीं वे किसी रहस्यमय कारण से सहसा मन के अतल से उभरकर अस्पताल के उस उदास वातावरण को एक अजीब-सी मोहक रंगीनी प्रदान करने लगीं। मुझे जाने क्यों, बचपन की वे विजन दुपहरियाँ याद आने लगीं जब पिड़कियों और वन-कपोतों के विह्वल और करुण कूजन से जीवन में सर्वत्र एक अलस मीठी उदासी छाई हुई मालूम होती थी और उसी मीठी उदासी के वायु से भी झीने वातावरण में बीजाणु-रूप में भावी जीवन के सहस्रों अस्पष्ट सुनहले स्वप्न तैरते हुए-से लगते थे और शत-शत रूप-रेखाहीन, अजानित उन्नताकांक्षाएँ प्राणों को गुदगुदाती रहती थीं। मेरे वे स्वप्न कभी चरि-तार्थ नहीं हुए। जिन-जिन विविध क्षेत्रों में मैंने सच्ची लगन से काम किया, वहाँ मैं ठोकरें खाता और ठुकराया जाता रहा। तुच्छ व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलांजलि देता हुआ सामाजिक, राष्ट्रीय और सामूहिक हित को ध्यान में रखकर, अपनी सीमित समर्थता से भरसक ईमानदारी को अपनाता हुआ, विघ्नों और अवरोधों से निरन्तर लड़ता हुआ मैं जिन नये-नये पथों, नये-नये मोड़ों पर कदम बढ़ाता चला गया वहाँ मैंने सामूहिक विरोध और प्रतिरोध पाया। मैं मानता हूँ कि मेरे उद्देश्यों के विरुद्ध किसी ने कभी कोई आवाज नहीं उठाई और न मेरी ईमानदारी पर ही किसी ने—मेरे शत्रुओं ने भी—कभी कोई सन्देह प्रकट किया। पर बराबर मेरी गति और प्रगति को रोकने के लिए गुप्त संगठन और सम्मिलित षड्यन्त्र होते रहे। जीवन-सम्बन्धी अपने लम्बे अनुभवों के दौरान में मैं बहुत दिनों तक समझ न पाया कि मेरे उद्देश्यों से जब किसी को कोई विरोध नहीं है, मेरी ईमानदारी पर किसी को कोई सन्देह नहीं है, तब भी मेरे विरुद्ध सम्मिलित गुप्त षड्यन्त्र—केवल किसी एक विशेष क्षेत्र में नहीं, बल्कि सभी क्षेत्रों में—क्यों रचे जाते हैं।

अन्त में जब लगातार दो-तीन घटनाएँ ऐसी घटीं जिन्होंने मनुष्य-स्वभाव की अन्तरीण और आधारभूत महत्ता और उदारता के प्रति मेरे विश्वास को जड़ से हिलाना आरम्भ कर दिया तब मेरी भटकी और भरमायी हुई दृष्टि कुछ ठिकाने आ लगी। तब यह पुराना तथ्य मेरे आगे पहली बार नये रूप में उद्घाटित हुआ कि मेरी ईमानदारी ही मेरा सबसे बड़ा शत्रु है। उन घटनाओं का उल्लेख आगे अवसर आने पर करूँगा। यहाँ पर केवल इतना ही संकेत कर देना चाहता हूँ कि मेरे बचपन के उन सुनहले स्वप्नों के पूर्णतया कुचले जाने और घनिष्ठ-से-घनिष्ठ व्यक्तियों से भी असहानुभूति, धोखा और विश्वासघात पाने पर भी मैं न तो कभी अपनी स्वभावगत ईमानदारी के लिए पछताया और न मनुष्यता पर से मेरा विश्वास कभी हटा। अपनी चरम दुर्गति की परिस्थति में भी, जब मैं भूखा रहकर पार्कों या फुटपाथों पर रातें बिता रहा था, तब मेरा ऊपरी मन बहुत पीड़ित होने, खीझने और विद्रोही हो उठने पर भी, मेरे मन के भी मन के नीचे आशा की चिनगारियाँ विद्यमान थीं, बुझ नहीं गई थीं। क्यों नहीं बुझ गईं, इसका कारण मैं ठीक से बता नहीं सकता। अपने स्वभाव की विचित्रता को ही मैं इसका प्रधान कारण मानता हूँ।

जो भी हो, मैं कहना चाहता था कि मेरे भीतर के वे ही अग्निकण, जो विकट-से-विकट विरोधी परिस्थितियों में भी पूर्णतया नहीं बुझ पाए थे, अस्पताल में, न जाने किस रहस्यमय पंखे की हवा लगने से और अधिक सुलग उठे और मेरे अधमरे अन्तर को नये जीवन की गरमी और नया प्रकाश देने लगे। मैं मानता हूँ कि मेरे मन का रुख इस तरह आमूल बदलने और मेरे भीतर नये जीवन और नई आशाओं की सतरंगी किरणों के सहसा इस तरह छा जाने के लिए रोग-शोक, पीड़ा और कराह से भरा अस्पताली वातावरण किसी भी हालत में अनुकूल नहीं था। पर मैं कैसे समझाऊँ कि जीवन की उन्हीं विपरीत परिस्थितियों में मेरे भीतर जीवन को नये रूप से जानने, समझने और उसमें रस लेने की प्रवृत्ति जोर मारने लगी।

मेरे पलंग के बाईं ओर बगलवाले पलंग पर जो मरीज पड़ा हुआ था वह

आरम्भ ही से मौन धारण किए हुए-सा लगता था। उसकी उम्र चालीस और पैंतालीस के बीच की लगती थी। बीच-बीच में कभी एक अत्यन्त अस्पष्ट और अस्फुट आवाज उसके मुँह से बरबस निकल पड़ती, जो कराह थी या आह, यह कहना कठिन था। उस अस्फुट आवाज के द्वारा वह जैसे अपने अकेलेपन की अनुभूति को जादू की तरह भगा देना चाहता था। वह 'आ—ह !' और 'ओ—ह !' के बीच की-सी आवाज थी। मेरे भरती होने के दो-तीन दिन तक वह प्रायः सब समय अपना मुँह चादर से एकदम ढके रहता था। बीच-बीच में जब कुछ क्षणों के लिए मुँह आधा खोलता तो एक विचित्र और कुतूहल-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखता रहता। उसके बाद फिर अच्छी तरह मुँह बन्द करके घण्टों तक उसी तरह चित लेटा रहता और बीच-बीच में उसी अनोखे स्वर में आह-सी भरता रहता।

चौथे दिन दोपहर के कुछ पहले जब मैं आधे से अधिक पानी मिले हुए दूध को बड़ी तृप्ति से घूँट-घूँट करके पी रहा था, तब बीच में सहसा मेरा ध्यान इस बात की ओर गया कि मेरा वही पड़ोसी अपने मुँह पर से चादर एकदम हटाकर बड़े ही गौर से मेरी ओर देख रहा है, जैसे मेरे मुख के एक-एक अपरिस्फुट भाव और अस्पष्ट-से-अस्पष्ट मुद्रा का सूक्ष्म निरीक्षण करके मेरे बाहरी और भीतरी व्यक्तित्व का ठीक-ठीक निरूपण करना चाहता हो। व्यक्तित्व से वह आदमी स्पष्ट ही न तो पढ़ा-लिखा लगता था, न विशेष बुद्धिमान्। एक साधारण देहाती किस्म का कुछ सीधा और कुछ टेढ़ी-मेढ़ी गाँठ वाला लट्ठ-सा लगता था। वैसे इस तथ्य से मैं अपरिचित नहीं था कि व्यक्तित्व की ऊपरी अभिव्यक्ति कभी-कभी असलियत की परख में बहुत धोखा दे जाती है।

जो भी हो, मुझे वह व्यक्ति ऊपरी दृष्टि से कुछ प्रिय नहीं लग रहा था। मैं सम्भवतः उसके साथ अपने-आप बातचीत का सम्बन्ध न जोड़ता, पर अपनी अत्यधिक कुतूहलपूर्ण आँखों से वह जो मौन प्रश्न-रूपी तीरों की वर्षा मुझपर निरन्तर करता जा रहा था उसके निवारण का कोई दूसरा उपाय न देखकर मैंने स्वयं ही उसके प्रति प्रश्न करना आरम्भ कर दिया।

"कितने दिन हो गए तुम्हें यहाँ भरती हुए ?"

"करीब एक हफ्ता हो गया होगा।"

"शिकायत क्या है ?"

"पता नहीं बाबू, कहते हैं कुछ तिल्ली में खराबी आ गई है। पेट के बाईं

ओर कभी-कभी बड़े जोर का दर्द उठता है। वैसे मीठा-मीठा दर्द हर घड़ी बना रहता है।"

"अस्पताल के इलाज से कुछ फर्क हुआ ?"

"इतना फर्क तो हुआ ही कि यहाँ भरती होने के बाद से अभी तक जोर का दर्द नहीं उठा। यहाँ आने के पहले दो दिन ऐसा दर्द रहा कि मुझे लगा मैं अब जी नहीं सकता।"

"तुम यहाँ रहते कहाँ हो ?"

"वेलेजली स्ट्रीट के पास एक गली में।"

"क्या काम करते हो ?"

"हम धोबी हैं, बाबू," उसने इस लहजे में कहा जैसे धोबी होना कोई बड़ा अपराध हो।

"रहनेवाले कहाँ के हो ?"

"मेरा बाप मिर्जापुर का रहनेवाला था। मैं कलकत्ता ही में पैदा हुआ और बराबर यहीं रहता हूँ।"

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"नाम तो मेरा रामदास है, पर मुहल्ले के सभी लोग मुझे प्यारे कहकर पुकारते हैं।"

धीरे-धीरे अकारण ही उस व्यक्ति में मेरी दिलचस्पी बढ़ती चली जा रही थी।

"एक महीने में कितना कमा लेते हो ?" उसके पलंग के कुछ और अधिक निकट सरकते हुए मैंने पूछा।

"हम लोग कलकत्ता के पुराने धोबी हैं, बाबूजी। आपकी किरपा से हम लोगों की कमाई बराबर अच्छी रही है। अँगरेजों के जमाने में किसी-किसी महीने में तीन सौ रुपये तक की आमदनी हो जाया करती थी। बड़े-बड़े नामी अँगरेज मेरे बाप ही से कपड़े धुलवाया करते थे," कहते हुए वह तकिये पर बायें हाथ का कुहना टेककर चादर सहित पाँव तनिक समेटकर आधा उठ बैठा। शायद बहुत दिनों बाद उसे एक सहानुभूति-पूर्ण श्रोता मिला था। इतने दिन के मौन के बाद जैसे उसका हृदय किसीके आगे अपने मनको रीता करने के लिए अधीर हो उठा था।

"तो तुम्हारा खानदान कलकत्ताके कपड़े धोनेवालोंमें मशहूर है ?" बात

को बढ़ाने के उद्देश्य से मैंने कहा ।

"हाँ बाबूजी, मेरा बाप कपड़े सफाई से धोने और फैशन के मुताबिक बढ़िया इस्त्री करने के लिए सारे धर्मतल्ले में मशहूर था। डिगबी साहब, जो लाट साहब के दफ्तर में एक बड़ा अफसर था, मेरे बाप से बहुत खुश था। कहा करता था, 'बरेठा, हमारे और मेम साहब के कपड़े तुम अपने ही हाथ से धोना और किसी को मत देना। इस्त्री भी तुम खुद ही करना।' केवल डिगबी साहब ही नहीं, कलकत्ता में जितने भी नामी और बड़े अँगरेज थे सब मेरे बाप को ही कपड़ा देना पसन्द करते थे। साहब लोग धुलाई तो ज्यादा देते ही थे, बखसीस भी काफी देते थे। बाप के मरने पर उनके सभी अँगरेज गाहकों का काम हम भाइयों को मिलने लगा। मैं तब पन्द्रह-सोलह साल का लड़का था। मेरे बड़े भाई ने शुरुआत में बाप की जमी-जमाई गाहकी बिगाड़ दी थी। उसने कुछ बुरी आदतें सीख ली थीं और शराब पीने और जुआ खेलने में वह पैसा खराब तो करता ही था, काम में भी गफलत करने लगा। आधे से ज्यादा काम उसने अकेले मुझ पर और घर की औरतों पर छोड़ दिया। मैं तब नौसिखिया था। नतीजा यह हुआ कि कभी कपड़ों के खोये जाने की शिकायत आने लगी, कभी किसी साहब के नये कपड़े फट जाते थे, कभी किसी दामी कपड़े में गरम लोहे के दाग दिखाई पड़ते थे। धीरे-धीरे गाहक टूटने लगे। वैसे आपको बता दूँ कि मेरा बड़ा भाई काम में बहुत होशियार था। ऐसी बढ़िया इस्त्री करता था कि बड़ी-से-बड़ी अँगरेजी दुकानों के दरजी भी उससे हार मान लेते थे। वह बड़ा रँगीला था और बहुत खूबसूरत भी। जब वह गाता था तब सुननेवालों की तबीयत मस्त हो जाती थी। मैं आप को कैसे बताऊँ, क्या गला पाया था उसने! आहाहा!..."

कहते हुए उसकी स्नेह-गद्गद् आँखें जैसे भर आईं। अचानक उसका भ्रातृ-प्रेम पूरे जोरों से उमड़ उठा था। सम्भवतः अस्पताल के उस रोग-शोकपूर्ण वातावरण की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उनके मन में अपने प्रारम्भिक जीवन की स्मृतियाँ सरस संवेदना के साथ उभर उठी थीं। वह उन प्यारी स्मृतियों के बहाव में इस कदर बह गया था कि मेरे प्रश्न का आधा उत्तर देने के बाद उसे भूल ही गया था।

"और बंसी भी वह क्या बढ़िया बजाता था, बाबूजी!" अपनी उसी धुन में वह बोलता चला गया। "सुनकर पत्थर भी पिघलकर पानी हो जायगा, ऐसा

लगता था; और उसका नाम भी वंसी ही था। अगर शराब और जुए की लत ने उसे न बिगाड़ दिया होता तो वह हीरा था बाबूजी, खरा हीरा। मुझे वह बहुत प्यार करता था। मैंने एक दिन उससे कहा, 'बंसी, तुम शराब बहुत पीने लगे हो और जुए में भी बहुत-सा रुपया फूँक आते हो। इधर गाहक टूटते जा रहे हैं। अम्माँ दिन-रात यह सोचकर रोती रहती हैं कि आगे चलकर हम लोगों का क्या हाल होगा। भौजी भी तुम्हारे बरताव से बहुत दुःखी और उदास रहती है। अब्बा का जमा-जमाया कारोबार चौपट हुआ जा रहा है, तुम अपनी बुरी आदतें छोड़ क्यों नहीं देते?' मेरी बात सुनकर वह कहने लगा, 'तुम तनिक भी फिकर न करो प्यारे, मैं जल्दी ही सारा कारोबार फिर से जमा लूँगा; बल्कि पहले से और ज्यादा बढ़ा लूँगा, तुम देख लेना। बस, इस महीने के आखिर तक मुझे जितनी शराब पीनी है, पी लेता हूँ, फिर हमेशा के लिए बन्द। मैं जल्दी ही भला आदमी बन जाऊँगा प्यारे, तुम देख लेना। एक ज्योतिषी ने मुझे बताया है कि मुझे हजारों रुपया कमाना है। कैसे कमाऊँगा, यह ज्योतिषी ने भी नहीं बताया, पर यह तय है कि मैं कमाऊँगा जरूर। वह सब रुपया मैं तुम्हें दे दूँगा। तब हम लोग एक बड़ी-सी लानदरी खोलकर घर ही बैठे रहेंगे और नौकरों से कपड़े धुलवाएँगे।' पर उसकी आदतें फिर भी नहीं सुधरीं। वह अपने को सुधारने के लिए बेचैन था, कोशिश करता था, पर कोई फल नहीं होता था। तब हम लोग बालीगंज में रहते थे। उन दिनों बालीगंज में बहुत कम लोग बसे हुए थे। हमारे पड़ोस में एक बंगाली मेहरिया रहती थी, जो बाबू लोगों के यहाँ चौका-बरतन का काम करती थी। उससे बंसी की जान-पहचान हो गई। वही जान-पहचान उसे ले बीती, बाबूजी!···" उसकी आँखें सहसा डबडबा आईं।

कुछ क्षण के लिए चुप रहने के बाद उसने फिर कहना आरम्भ किया, "एक दिन वह बहुत ज्यादा शराब पिये हुए था। बंगालिन को अकेला समझकर वह रात में ग्यारह बजे के करीब उसके यहाँ गया। वहाँ उस बंगालिन के जान-पहचान के दूसरे लोग उसकी घात में बैठे थे। उस 'खोलाबाड़ी' के भीतर ज्योंही वह घुसा त्योंही चारों ओर से उसके सिर पर लाठियों की बौछार होने लगी। उसका सिर तीन-चार जगह खुल गया और वह बेहोश होकर गिर पड़ा। उसके बाद वे लोग उसे उठाकर एक सुनसान जगह में एक गन्दी नाली के पास छोड़कर भाग गए। हमारे ही पड़ोस के किसी एक धोबी का लड़का बारह बजे के करीब शहर से लौटता हुआ उसी रास्ते से होकर घर की ओर चला आ रहा था। उसने जब नाली के पास एक आदमी को पड़ा देखा तो उसके नजदीक जाकर उसे

गौर से देखने पर उसने पहचान लिया। वह घबराया हुआ आया और हम लोगों का दरवाजा खटखटाकर उसने सबको जगाया। खबर सुनकर हम सब वहाँ पहुँचे। बंसी को उस हालत में देखकर मैं धाड़ मारकर रो पड़ा। अम्माँ सिर पीटने लगी और भौजी बेहोश हो गई। अचानक मेरे पेट में बाईं ओर ठीक उसी जगह जोर का दर्द होने लगा जिस जगह आज भी हो रहा है। उस दिन से पेट का यह दर्द बीच-बीच में उभर उठता है, कभी कम, कभी ज्यादा ··"

मैं देख रहा था कि उसके कपाल पर—सिर के नीचे से लेकर भौंहों तक—झुर्रियों की घनी और काली रेखाएँ धीरे-धीरे उभर उठी थीं। प्रारम्भ में उन रेखाओं के केवल क्षीण और अस्पष्ट चिह्न मुझे दिखाई दिये थे। मैंने इस बात की तनिक भी प्रत्याशा नहीं की थी कि अपने पड़ोसी से साधारण परिचयात्मक प्रश्न करने पर इस तरह आतंक उत्पन्न करनेवाली और मर्मव्यथा जगानेवाली हौल-नाक घटना की स्मृति उभर उठेगी।

"यह तो तुमने सचमुच बड़ी दुख-भरी कहानी सुनाई!" मैंने आन्तरिक पीड़ा-भरे स्वर में कहा। "पर अब बीती बात पर विलाप करने से कोई फायदा नहीं है। तुम्हें उस बात को एकदम भुला देना चाहिए, नहीं तो तुम्हारी बीमारी बढ़ सकती है। हाँ, तो तुम यह बता रहे थे कि अँगरेजों के जमाने में एक महीने में तीन सौ रुपये तक की आमदनी तुम लोगों की हो जाया करती थी। पर आज-कल क्या हाल है, यह तुमने नहीं बताया।"

मैं उसे दूसरी बातों में उलझाना चाहता था जिससे वह अपने भाई की लोमहर्षक मृत्यु की बात भूल जाय।

"दो-ढाई सौ रुपया महीना आज भी हम लोग मिलकर कमा लेते हैं। पर तब के तीन सौ और आज के ढाई सौ में बहुत बड़ा फरक है बाबूजी!"

"हम लोग कौन?"

"मैं और मेरे लड़के, जो अब काफी जवान हो गए हैं। भाई के मरने पर कुछ दिन के लिए हम लोगों को बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ीं। पर बाद में धीरे-धीरे मैंने मेहनत करके कारोबार फिर से जमा लिया—यहाँ तक कि पहले के टूटे हुए गाहक भी मुझे कपड़ा देने पर राजी हो गए। मुझसे सभी अँगरेज साहब और मेमें खुश रहती थीं। बुड्ढा डिगबी साहब मर गया था। उसकी बुढ़िया मेम मुझसे कहती थी, 'प्यारे, तुम अपने बाप की तरह ही काम में होशियार हो।'

"एक दूसरा साहब किसी बड़े दफ्तर का सबसे बड़ा हाकिम था। उसकी मेम भी मेरे काम से बहुत खुश थी। एक दिन वह मुझसे बोली : 'तुम्हारा कोई लड़का सयाना हो तो बोलो। अपने साहब से कहकर उसे दफ्तर में प्रासी रखवा देंगे।' पहले मैं समझा नहीं कि यह 'प्रासी' क्या बला है। बार-बार पूछने पर भी वह एक बार झल्लाकर बोल उठी : 'प्रासी! प्रासी! अरे टुम क्या हमाड़ी बाट समझटा नहीं!' मैं बेवकूफों की तरह उसका मुँह ताकता रह गया। इतने में आया आ पहुँची। उसने बात सुनकर मुझे समझाया कि मेम का मतलब चपरासी से है। तब मेरा लड़का बहुत छोटा था। मैंने वही बता दिया। सुन कर मेम बोली : 'टो कोई बाट नहीं। टुमाड़ा लड़का बड़ा हो जायगा टब याड डिलाना।' पर तब कौन जानता बाबूजी कि इतनी जल्दी सुराज मिल जायगा और साहब लोगों को बोरिया-बँधना उठाकर सात-समुंदर पार अपने घर लौट जाना होगा।"

इतनी देर तक मैं एक ही स्थिति में और एक ही विशेष मुद्रा में आधा लेटा और आधा बैठा था, जिसके कारण मेरा दुर्बल शरीर थक गया था। मैंने प्यारे से कहा कि अब कुछ देर तक वह भी आराम करे और मैं भी आराम से लेटना चाहता हूँ। और मैं करवट बदलकर पाँव अच्छी तरह फैलाकर लेट गया। काफी देर तक मैं आँखें बन्द किये करवटें बदलता रहा। उसके बाद धीरे-धीरे कब मेरी आँखें लग गईं, मुझे पता नहीं। जब जगा तब सारा वार्ड मरीजों से मिलने को आये हुए आत्मीय जनों की सम्मिलित गुंजन-ध्वनि से मुखरित हो रहा था। स्पष्ट ही चार से अधिक बज चुके होंगे, क्योंकि मिलनेवालों के लिए चार से छः बजे तक का समय नियत था। मैंने लेटे-ही-लेटे जब प्यारे की ओर मुँह किया तब देखा कि चार औरतें उससे मिलने के लिए आई हुई हैं। उनमें दो औरतें अधेड़ थीं और दो जवान। अधेड़ औरतों में से एक की उम्र प्रायः प्यारे के ही बराबर लगती थी और दूसरी चालीस के आस-पास की लगती थी—चालीस में दो-एक वर्ष कम ही होंगे, अधिक नहीं। दोनों जवान लड़कियाँ प्रायः समवयसी मालूम होती थीं, बीस के आस-पास की जान पड़ती थीं। एक लड़की मुक्त भाव से मुस्कराती हुई जनरल वार्ड के सामूहिक दृश्य में बड़ी दिलचस्पी ले रही थी। उसकी प्रसन्न मुख-मुद्रा से लगता था कि गहरी मानवीय पीड़ा की कोई अनुभूति उसके नव-यौवन

के सहज उल्लास से तरंगित प्राणों को अभी तक छू नहीं पाई है। वह एक फूल-दार कन्नीवाली, गुलाबी रंग की ताजा धुली साड़ी पहने थी। उसका सिर आधा खुला था। उसके बालों को देखकर लगता था कि उसमें कंघी करने में काफी समय लगा होगा और माँग निकालने में बड़ी मेहनत से काम लिया गया होगा। चमकते हुए साँवले रंग के कपाल के बीचोबीच गाढ़े लाल रंग की गोल चमक-बिंदी अँधेरी रातमें बेतार के खम्भे के ऊपर चमकने वाली लाल रोशनी की तरह दहक रही थी। कानों के नीचे मधुमालती की कलियों की तरह दो लोलक लटक रहे थे। हाथों में सुनहरे रंग की चूड़ियों में नीले काँच के चौकोर टुकड़े नीलम की तरह जड़े हुए-से लगते थे। दूसरी लड़की मोटी नीली किनारी की बहुत ही सफेद और साफ साड़ी पहने थी। वह कुछ सकुचाई हुई-सी लगती थी और साड़ी के छोर को उसने सिर से दो अंगुल नीचे तक सरका लिया था। वह भी कुतूहली आँखों से वार्ड के मरीजों, उनसे मिलनेवालों और दाइयों और नर्सों की व्यस्तता का दृश्य देख रही थी। अधेड़ स्त्रियाँ प्यारे से परम प्रेमपूर्वक बातें कर रही थीं। उनकी छिटपुट बातों से लगता था कि वे उसका हाल जान चुकी थीं और उसकी दशा में सुधार देखकर स्नेह-भरी मुसकान मुख पर झलकाती हुई उसे घर का हाल बता रही थीं।

प्यारे ने मुझे जगा हुआ देखकर प्रेम-गद्गद भाव से एक स्त्री की ओर उँगली दिखाते हुए मुझसे कहा, "बाबूजी, यह मेरी भौजी है। अपने जिस भाई का किस्सा मैंने आपको सुनाया था, यह उसी की घरवाली है।"

मैं उठ बैठा और मेरे कुछ सोचने के पहले ही मेरे दोनों हाथ जुड़कर ऊपर का उठ गए और बरबस ही मेरे मुँह से निकल पड़ा, "नमस्ते!"

वह भली औरत केवल स्निग्ध दृष्टि से, जिसमें विस्मय का भाव भी निहित था, मेरी ओर देखती रह गई। उसने प्रत्युत्तर में न हाथ जोड़े और न 'नमस्ते' ही कहा। स्पष्ट ही मेरा व्यवहार उसे बड़ा ही विचित्र और अप्रत्याशित लग रहा था। पर उसकी भोली, भली और स्नेह-भरी आँखों में मेरे प्रति आशीर्वाद और शुभ-कामना साफ झलक रही थी।

उसके बाद प्यारेने दूसरी स्त्री की ओर संकेत करते हुए कहा, "और यह मेरी घरवाली है।"

मैंने उसकी ओर भी चुपचाप हाथ जोड़ दिए। इस बार नमस्ते नहीं कहा।

वह स्पष्ट ही मेरे इस व्यवहार को अच्छा कौतुक समझकर खुलकर मुस्कराती हुई मेरी ओर देखती रही। मैं विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि उस समय मैंने उन दोनों औरतों को सहज भाव से ही हाथ जोड़े थे—जान-बूझकर नाटक करने का उद्देश्य मेरा कदापि नहीं था। पर मेरे उस सहज व्यवहार को उन दोनों ने जिस रूप में ग्रहण किया था उससे मुझे बोध हो गया कि उनकी अनभ्यस्त आँखों को मेरा वह व्यवहार निश्चय ही नाटकीय और हास्यास्पद लगा होगा। 'बाबू' वर्ग का कोई व्यक्ति उनके प्रति हाथ जोड़ सकता है इसकी कल्पना उन्होंने कभी अपने जीवन में नहीं की होगी। मेरे रुग्ण चेहरे और जीर्ण व्यक्तित्व के भीतर से भी 'बाबूपन' झाँक सकता है, यह जानकारी मुझे तनिक भी सुखद नहीं मालूम हुई। मुझे लगा जैसे कोई मेरे उस जर्जर व्यक्तित्व के माध्यम से मेरे साथ अत्यन्त क्रूर परिहास कर रहा था।

मेरा वह नाटकीय व्यवहार देखकर दोनों लड़कियों की दृष्टि भी मेरी ओर आकर्षित हो गयी थी। प्यारे ने मेरा परिचय उन लोगों को देते हुए कहा, "यह बहुत ही भले बाबू हैं। इनके साथ आज मेरा सारा दिन बड़े आराम से कट गया। नहीं तो लेटे-लेटे मेरा जी ऊब जाया करता था और वक्त काटना दूभर हो जाता था।"

उसके बाद दोनों लड़कियों की ओर देखते हुए वह बोला, "और बाबूजी, यह है मेरी लड़की बेला और वह है मेरी बहू।" उसकी आँखों का अनुकरण बड़े गौर से करने पर भी मैं ठीक से यह न जान सका कि कौन बेला है और कौन बहू। फिर भी ऐसा लगा कि चमक-बिंदीवाली लड़की ही बेला होगी। वह विस्मित, उत्सुक दृष्टि से बड़े गौर से मेरी ओर देख रही थी।

प्रायः पौन घण्टे तक प्यारे के घर की औरतें वहाँ रहीं; उसके बाद चली गईं। उनके चले जाने पर मैं फिर लेट गया। ऐंग्लो-इण्डियन नर्स ने आकर शीशे के एक बहुत ही छोटे से गिलास में प्यारे को दवा पिलाई। प्रायः उसी समय मुझे भी दवा पिलाई जाती थी, पर आज कोई भी नर्स मुझे दवा पिलाने के लिए नहीं आई। मैं प्रतिक्षण बड़ी उत्सुकता से इस बात की प्रतीक्षा कर रहा था कि कोई

नर्स आकर मुझे भी दवा पिला जाय। काफी देर हो गई, पर कोई भी नर्स नहीं आई। वह लक्षण मुझे किसी अमंगल का सूचक लगा। मैं दवा के लिए विशेष उत्सुक नहीं था। मेरी अधीरता और आशंका का कारण कुछ दूसरा ही था। मुझे यह भय था कि कहीं मुझे स्वस्थ होने की सूचना न दी जाय, क्योंकि मैं जानता था कि इस तरह की सूचना के बाद मुझे निश्चय ही पलंग खाली करने और अस्पताल से चले जाने का नोटिस मिल जायगा। अस्पताल छोड़ने को बाध्य होने के बाद विराट् विश्व में कहीं तिल-भर भी स्थान मेरे लिए नहीं रह जायगा और फिर किसी पार्क या फुटपाथ की शरण लेनी पड़ेगी, यह मैं अच्छी तरह जानता था।

जीवन की परिस्थितियों का क्रूर यथार्थ मनुष्य के सहज स्वभाव को कैसे उलटे-सीधे घुमावों से मोड़ता और आत्मरक्षा की कैसी-कैसी विचित्र व्यावहारिक कलाएँ सिखाता रहता है, इस बात पर विचार करने पर कभी-कभी आश्चर्य होने लगता है। जो प्रवृत्ति मेरे स्वभाव में कभी नहीं रही, घोर संकट के टूट पड़ने की आशंका ने मुझे अपनाने को बाध्य कर दिया। सारे शरीर में चादर अच्छी तरह से लपेट-कर मैं दोनों हाथों से पेट दबाता हुआ, अत्यधिक पीड़ा की मुद्रा में मुँह बिचकाता हुआ ऐसा भाव जताने लगा जैसे बरबस निकलती हुई कराह को प्राणपण से रोकने का प्रयास कर रहा होऊँ।

"क्या हुआ बाबूजी ?" प्यारे मेरे रंग-ढंग देखकर घबराहट की आवाज से बोल उठा।

मैंने उसकी ओर न देखते हुए उसी तरह लेटे-लेटे धीमी आवाज में कहा, "पेट में दर्द उठ रहा है। कभी-कभी ऐसा हो जाया करता है। अभी ठीक हो जायगा।"

"डॉक्टर को बुलाऊँ क्या ?" वह फिर उसी घबराहट के स्वर में बोला।

"तुम चुपचाप लेटे रहो, घबराने की कोई बात नहीं है," पहले ही की तरह धीमी आवाज में मैंने कहा।

उसके बाद वह फिर कुछ न बोला। कुछ देर बाद मेरे कानों में किसी नर्स के ऊँची एड़ी वाले जूतों की आवाज भनक उठी। मैं उसी मुद्रा में उसी तरह लेटा रहा और उसी तरह आँखें बन्द किये रहा। मेरे कानों को महसूस हो रहा था कि नर्स तेज कदम रखती हुई उसी तरफ को चली आ रही है जहाँ मेरा पलंग था और सचमुच वह आवाज ठीक मेरे ही पलंग के पास आकर रुक गई। मैं अपने

कपाल की नसों, आँखों और नाक को असहनीय पीड़ा की मुद्रा में तानता और सिकोड़ता हुआ और पेट को दबाता हुआ लेटा ही रहा।

"हल्लो बेड नम्बर फिफ्टीन, क्या हाल है ? अभी कुछ ही समय पहले तो खासे चंगे थे तुम ? अभी-अभी क्या हुआ ? आज तो तुम्हारे बेड को खाली करने की बात थी।"

"आ···ऽ···ऽ···ह !" मैं सुस्पष्ट स्वर में कराह उठा।

"क्या हुआ ? बताते क्यों नहीं ?" डाँट के-से स्वर में नर्स बोल उठी।

"हाय ए···ऽ···म !" मैंने उत्तर के रूप में कहा।

"आखिर हुआ क्या ? बताओगे नहीं तो कैसे काम चलेगा ?" पहले से भी अधिक तीव्र स्वर में नर्स बोल उठी।

मैंने मन-ही-मन सोचा कि क्या सचमुच मेरे नाटक का परदा उसके आगे खुल चुका है। तब तो खैरियत न होगी। और भय और आशंका की उस मनः-स्थिति में नाटक को अधिक-से-अधिक यथार्थ रूप देने के सिवा मैंने कोई दूसरा चारा नहीं देखा।

"मैं म···र र···हा हूँ, न···र्स !" मैं रोने के-से स्वर में प्रत्येक शब्द को इस तरह खींचता हुआ बोला, जैसे बोलने में भी मुझे असीम कष्ट हो रहा हो।

"मर रहे हो, यह तो मैं देख ही रही हूँ; पर आखिर शिकायत क्या है ?"

"मे···रा पे···ट···" को और अधिक जोर से दबाते और मुख की मुद्रा को और अधिक विकृत बनाते हुए, उसकी ओर बिना देखे ही मैंने कहा।

"ओह समझी ! पेट में दर्द उठ रहा है न ?" इस बार उसके स्वर में तीव्रता की अपेक्षा व्यंग्य अधिक भरा था। "दर्द उठेगा क्यों नहीं ? माले मुफ्त दिले बेरहम !"

उसे इस तरह साफ उर्दू बोलते देखकर मैं अपने कुतूहल को अधिक दबा न सका। पीड़ा की मुद्रा की अभिव्यक्ति में तनिक भी कमी न आने देने का भरपूर प्रयत्न करते हुए मैंने आँखें तनिक खोलीं और उसकी ओर देखा। इतना तो मैं पहले ही—बिना उसे देखे ही—समझ गया था कि वह कोई दूसरी ही नर्स है। जो नर्स पिछले कुछ दिनों तक शाम की ड्यूटी पर रहती थी उसका स्वर बहुत ही कोमल था। एक तो वह बोलती ही बहुत कम थी और जब कभी बोलने की अनि-वार्य आवश्यकता पड़ जाती तब बहुत ही धीमी आवाज में, अस्फुट स्वर में बोलती

थी। लगता था जैसे किसी पुरुष के आगे बोलने में नारीसुलभ स्वाभाविक संकोच का अनुभव कर रही हो। उसके गोरे मुख पर किसी भले घर की किशोरी कुमारी की तरह शालीनता-भरी लज्जा का एक झीना-सा परदा हर समय विद्यमान रहता था। पर आज स्पष्ट ही उसकी ड्यूटी बदल गई थी और मेरे सामने एक नई ही नर्स थी।

आँख खोलने पर मैंने देखा, एक लम्बे कद की, इकहरे बदन की, देशी गेहूँ के-से रंगवाली, प्रायः चौबीस-पच्चीस साल की युवती नर्स के वेष में मेरे आगे खड़ी थी। उसने अपने दोनों हाथों को कमर के दोनों छोरों पर इस तरह टिका रखा था जैसे किसी को लड़ने की चुनौती दे रही हो। उसकी भौंहें कुछ-कुछ तनी थीं, आँखों पर तनिक क्रूर-से व्यंग्य की छाया पड़ी हुई थी, लम्बी नाक का नुकीला सिरा आगे की ओर कुछ तना हुआ-सा लगता था और लिपस्टिक से रँगे ओठ किसी का खून चूसे हुए-से लगते थे।

क्षण-भर रुककर वह बोली, "अस्पताल का मुफ्त का खाना इस बेमुरौवती से खाते चले जाते हो कि डकार को भी दबा जाते हो। अब भोगो उसका नतीजा। जैसी करनी वैसी भरनी। देखूँ, कहाँ पर हो रहा है दर्द? चादर हटाओ।" और उसने मेरे हटाने का इन्तजार न करके स्वयं ही चादर को हटा दिया और मेरे कुरते को भी तनिक ऊपर हटाकर अपनी लम्बी-लम्बी पतली उँगलियों से, जिनके अग्रभाग में क्यूटेक्स से रँगे हुए नाखून किसी हिंस्र जन्तु के रक्तरंजित पंजे की तरह दिखाई देते थे, मेरे पेट की परीक्षा लेना ही चाहती थी कि मेरी भ्रमित बुद्धि सहसा ठिकाने आ लगी। इसलिए मैंने उसे टोकते हुए कहा, "नहीं, नहीं, मेरे पेट में दर्द नहीं है।"

वह ठिठक गई। "तब कहाँ है?" भ्रमित दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए उसने पूछा।

"मेरी छाती की बाईं पसलियों में और छाती के भीतर भी दर्द हो रहा है।"

अविश्वास और विश्वास के बीच की मुद्रा से उसने एक बार मेरी ओर देखा। बात असल में यह थी कि अपनी घबराहट—अस्पताल के आश्रय से निकाले जाने की आशंका—के कारण मैंने पेट में दर्द होने का बहाना बना तो लिया और नाटक को अच्छी तरह निभाया भी, पर तब—उसी घबराहट के कारण—यह बात मेरे ध्यान ही में नहीं आई कि पेट में दर्द उठने की शिकायत

करने का अर्थ होगा फाकाकशी। इतने दिन बाद, भाग्य के किसी अप्रत्याशित चक्र से, पेट में कुछ डालने की सुविधा प्राप्त हुई थी—फिर चाहे वह खैराती अस्पताल का अखाद्य भोजन ही क्यों न हो। पेट के दर्द की शिकायत करने से डॉक्टर इतना-सा राशन भी बन्द कर देगा, नर्स की कटु व्यंग्य-भरी बातों से इस तथ्य की ओर अकस्मात् मेरा ध्यान गया। इसलिए मैं सँभल गया और मैंने छाती में दर्द बताया। यह मेरा दुर्भाग्य ही था जो बहाना बनाने के पहले मेरे ध्यान में यह बात न आई। अन्यथा सन्देह के लिए तनिक भी गुंजाइश न रह जाती।

जो भी हो, नर्स ने मेरी छाती के बाएँ भाग पर बीच की उँगली से स्थान-स्थान पर हौले से 'खटखटाना' आरम्भ किया। जब वह इस तरह मेरे दर्द का परीक्षण कर रही थी तब मैं आधी आँखों से उसके मुख की ओर देख रहा था। अपनी उस घोर संकटपूर्ण मनःस्थिति में भी सहसा—न जाने क्यों और कहाँ से—एक बात की याद आ जाने से मेरे लिए यह खतरा उपस्थित हो गया कि मैं कहीं हँस न पड़ूँ। बात यह हुई कि मुझे एक क्षण में बिना किसी सिलसिले के, अपने छात्र-जीवन के एक साथी की याद आ गई, जो बड़ा हँसोड़ था। उसे देखे हुए बारह वर्ष से भी अधिक समय बीत चुका था। उस क्षण में ठीक उसी की याद क्यों आई, किसी दूसरे की याद क्यों नहीं आई, मैं कह नहीं सकता। और उसकी याद आते ही मैं सोचने लगा कि यदि छात्र-जीवन में यही नर्स किसी अस्पताल में मुझे मिली होती और इसी तरह वह अपनी उँगली से मेरी छाती की परीक्षा लेती, और मैं यह किस्सा अपने उसी साथी को सुनाता तो वह निश्चय ही यह कहता कि "यार, तुम समझे नहीं, वह इस बहाने से तुम्हारे दिल का दरवाजा खटखटा रही थी।" और यह सोचते ही मेरे भीतर से हँसी की फुरेरियाँ उठने लगीं। सबसे मजे की बात यह थी कि मैं ठीक दिल के ऊपर ही दर्द बताने के लिए पहले ही से निश्चय किये बैठा था। मैं कभी अपने ओठों को दाँत से काटकर और कभी दाँत पीसकर अपने भीतर से उठनेवाली व्यग्र हँसी के वेग को रोकने के उद्देश्य से भरपूर प्रयत्न करने लगा। जब किसी तरह भी रुकना असम्भव हो गया तब बरबस एक कराह की-सी आवाज निकालकर (जो वास्तव में न रुकनेवाली हँसी की 'आह' थी) मैंने मुँह फेर लिया।

नर्स मेरी बाईं छाती को स्थान-स्थान पर उँगली से ठोकती हुई कह रही थी कि "जिस जगह ज्यादा दर्द हो, बोल देना।" मैं बोलता क्या, मैं एक तो पागल

करनेवाली हँसी से यों ही मरा जा रहा था, तिस पर उसकी उँगली की हौली-हौली चोटों से मुझे गुदगुदी-सी मालूम हो रही थी। जब उसकी उँगली ने ठीक उस जगह चोट की, जिसके नीचे, मेरे अनुमान से, हृदय-पिंड स्थित था, तब मैं बोल उठा, "बस, बस, ठीक यहीं......दर्द उठ रहा है......बड़े जोरों से......और यहीं से चारों ओर फैल रहा है।"

"ओह, इनजाइना पेक्टोरिस लगता है। बड़ी खतरनाक बीमारी है यह !" अपने डॉक्टरी ज्ञान का परिचय देती हुई-सी नर्स बोली। मैं किसी तरह भी रह न सका और 'आ-ह' का शब्द मुँह से निकालते-न-निकालते 'फिक्' करके हँस पड़ा।

"हैं ! यह क्या ? तुम हँस रहे हो ?" बिजली का-सा धक्का लगने की तरह अपनी उँगली को मेरी छाती पर से पल में हटाती हुई नर्स बोली; और जिस ओर मैंने मुँह फेर रखा था, बड़ी तेजी के साथ वह उसी ओर आ पहुँची। उत्कट क्रोध-भरी दृष्टि से वह मेरी ओर इस तरह एकटक देखने लगी जैसे पल में मुझे भस्म कर देना चाहती हो। उसे देखते ही मेरा हँसी का सारा मनोभाव, जो मेरे एकदम न चाहने पर भी बरबस, भूत की तरह, मेरे सिर पर सवार हो गया था, उसी क्षण कपूर की तरह विलीन हो गया।

"अस्पताल में आकर तुम नर्सों और डॉक्टरों को बेवकूफ बनाना चाहते हो !" उसी अग्नि-दृष्टि से मुझे देखते हुए उसने कड़ककर कहा।

मेरे होश ठिकाने आ लगे थे और अपनी आत्म-विनाशी मनोवृत्ति पर मैं मन-ही मन बुरी तरह खीझ रहा था। प्रायः रोने के-से स्वर में गिड़गिड़ाते हुए मैंने कहा, "नहीं नर्स, ऐसी बात नहीं है। और...और...मैं कुछ हँस भी नहीं रहा था। उस हँसी को आप रोना ही समझें। मैं कैसे समझाऊँ कि मेरी ठीक क्या दशा हो रही थी और अब क्या होगी ! मैं...मैं।"

"बस, बस ! बकरे की तरह अब बहुत 'में-में' मत करो। मैं सब समझती हूँ। पहले तुमने अपने पेट में दर्द बताया, फिर छाती में बताने लगे और जब मैंने देखना शुरू किया तब तुम मुझे बेवकूफ बनाते हुए हँसने लगे। मैं अभी हाउस सर्जन को बुलाकर तुम्हें निकलवाती हूँ।" और वह फनफनाती हुई चली गई। मैं 'नर्स ! नर्स !' कहता ही रह गया, उसने पीछे की ओर झाँका तक नहीं।

मुझे अपनी मूर्खता के लिए अपना सिर पीटने और बाल नोचने की इच्छा

होती थी। अपनी उसी हताश स्थिति में मैंने करवट बदली और प्यारे की ओर मुँह किया।

"बात क्या है, बाबूजी?" घबराई हुई दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए उसने पूछा।

"मेरा दुर्भाग्य जगा है प्यारे और कुछ नहीं," अत्यन्त क्षीण और निराश स्वर में मैंने कहा। "अस्पताल में और कुछ दिन के लिए रहने और खाने का ठिकाना लग जाता, सो अपनी दुर्बुद्धि से मैंने वह सुयोग भी खो दिया। सभी अस्पतालों में इस तरह की सुविधा नहीं मिलती। अब फिर पहले की ही तरह कलकत्ता की सड़कों और पार्कों में भटकता फिरूँगा और रात में फुटपाथों की शरण पकड़नी होगी...।" कहते हुए मेरे हृदय के सूखे और धुँधुआते हुए रेगिस्तान के न जाने किस छिपे कोने से बहुत दिन बाद पानी उमड़कर आँखों के रास्ते से बह चला। आत्म-परिहास की परिणति आत्म-करुणा में होते देखकर मैं उसी क्षण अत्यन्त लज्जित भी हो उठा और अपने पौरुष को धिक्कारता हुआ तत्काल आँखें पोंछकर हर तरह की परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार हो गया।

प्यारे हक्का-बक्का-सा मेरी ओर देखता ही रह गया। स्पष्ट ही मेरी बात का ठीक-ठीक अर्थ लगा सकने में वह अपने को असमर्थ महसूस कर रहा था। बिलकुल ही न समझा हो ऐसा तो सम्भव नहीं है। मेरी परिस्थिति संकटपूर्ण है, इतनी बात तो निश्चय ही उसकी समझ में आ गई होगी, पर उस संकट का ठीक-ठीक स्वरूप और सीमा निर्धारित कर सकना उसके लिए स्वभावतः आसान नहीं था। वह अभी तक ठीक से यह भी नहीं समझ पाया होगा कि मैंने बीमारी का बहाना बनाया था या सचमुच का शारीरिक कष्ट मुझे था। क्योंकि बीमार न होने पर भी कोई व्यक्ति क्यों अस्पताल में पड़े रहना चाहेगा और वहाँ से हटाए जाने पर दुःखित होगा? यह ठीक है कि मैंने कलकत्ता की सड़कों और पार्कों में भटकने और रात में फुटपाथ की शरण पकड़ने की बात उससे कही थी। पर इस तथ्य को शाब्दिक अर्थ में ग्रहण कर सकना उसके लिए निश्चय ही कठिन सिद्ध हो रहा होगा। तथापि उसने मेरी आँखों में आँसू उमड़ते देखे थे। इसलिए उसकी अन्तःप्रज्ञा इतना तो निश्चय ही समझ गई होगी कि मेरी स्थिति असाधारण रूप से शोचनीय है—फिर चाहे उसका कारण जो भी हो। उसकी आँखों से पता चलता था कि वह मुझसे स्थिति के और अधिक स्पष्टीकरण की प्रत्याशा करता है। पर मैं आवेश

में आकर जितना बता चुका था उतना ही, मेरी दृष्टि में, आवश्यकता से बहुत अधिक था।

"बाबू, आप कलकत्ता में कब से हैं और क्या करते हैं?" कुछ देर तक चुप रहने के बाद प्यारे ने जैसे साहस बटोरते हुए प्रश्न किया।

"इस बार यहाँ आये मुझे करीब दो महीने हो चुके। इसके पहले भी मैं एक बार कलकत्ता में रह चुका हूँ। तब किसी जान-पहचान के आदमी—बल्कि दोस्त—के यहाँ ठहरा हुआ था। इस बार यहाँ आने पर मालूम हुआ कि पिछले साल वह किसी बीमारी का शिकार होकर मर गया। उसकी घरवाली और बाल-बच्चे सब देश चले गए हैं। मैं आजकल बेकार हूँ। लाख कोशिश करने पर भी कोई काम मुझे मिल नहीं पाता···"

"तो बाबूजी, मेरी एक बात···" प्यारे अपनी बात पूरी न कर पाया, या मैं ही ध्यान न दे पाया, क्योंकि मेरी नजर सामने से आते हुए डॉक्टर और नर्स पर पड़ गई थी। दोनों साथ-साथ, एक-दूसरे के कदम-से-कदम मिलाते हुए तेज चाल में चले आ रहे थे और उनकी दृष्टि मेरी ओर—अर्थात् 'बेड नम्बर फिफ्टीन' की ओर लगी हुई थी। यदि कोई पुलिस का सिपाही मुझे गिरफ्तार करने आता तो मैं निश्चय ही उतना भयभीत न होता जितना उन दोनों व्यक्तियों को आते देखकर हो रहा था।

ठीक मेरे पलंग के पास आकर दोनों रुक गए। डॉक्टर एक लम्बा-सा सफेद चोगा पहने था और उसके हाथ में रबर की वही चिर-परिचित परीक्षण-नली थी, जो बाबा आदम के जमाने से किसी भी डॉक्टर के पास प्रायः हर समय रहती है। उसकी आँखों पर बहुत ही पतले शीशे का ऐनक चढ़ा हुआ था, जिसके भीतर से उसकी बहुत ही गम्भीर—सम्भवतः क्रुद्ध—आँखें साफ दिखाई दे रही थीं।

"क्या बात है? पलंग क्यों नहीं छोड़ता?" बंगला लहजे की हिन्दी में डॉक्टर ने प्रायः गरजते हुए कहा।

"मैं अभी बीमार हूँ, डॉक्टर···" मैंने जान-बूझकर 'डॉक्टर' के आगे 'साहब' नहीं जोड़ा।

"तुम कभी बीमार नहीं है। हम डॉक्टर है कि तुम?" अपनी आवाज को 'सा' से 'रे' चढ़ाकर वह बोला।

"तुम," मैंने उसी तरह लेटे-लेटे संक्षिप्त उत्तर दिया।

"तब हम जो कहता है, वैसा करता क्यों नहीं ?" उसका स्वर 'रे' से एकदम 'प' पर पहुँच गया था।

मेरी दुराशा ने जिद पकड़ ली।

"तुम क्या कहता है, हम क्या जानें," अपनी मुद्रा से टस-से-मस न होते हुए मैंने कहा। "फिर, अपनी तकलीफ को हम बेशी जानता है कि तुम ? हमारी छाती में दर्द उठ रहा है, उसका इलाज करने के बजाय तुम हमको अस्पताल से निकालना माँगता है ?"

अस्पताल के सभी पलंगों से कुतूहली आँखें सम्मिलित रूप से मेरी ओर केंद्रित हो गई थीं। यहाँ तक कि जो दो-एक मरीज इसके पहले पीड़ा के कारण काफी ऊँचे स्वर में कराह रहे थे, उनका कराहना भी बन्द हो गया। तीन-चार नर्सें, दो-एक डॉक्टर और वहाँ पर आकर खड़े हो गए।

"हाम तुम्हरा कान पाकड़ के हियाँ से निकलवा देगा," इस बार डॉक्टर की आवाज निखार पर पहुँच गई थी, "शहर का जित्ता जुआचोर और पाकिटमार है सब हियाँ हाँसपाताल में आकर जामा हो गया है। पुलिस के हाथ से एक दफा बचकर निकल गया है, अब नहीं बचने सकेगा। हाम तुमको अच्छा करके जानता है। अभी पुलिस को बोलाय के तुमको ग्रेफ्तार करवा देगा। तुम क्या समझता है आपने को ?" और असह्य क्रोध से फनफनाते हुए उसने एक दूसरे डॉक्टर से बंगला में कहा, "जाओ, जल्दी से एक आदमी को भेजकर एक कान्स्टेबल को बुलाओ तो। देखता हूँ, यह आदमी कैसे पलंग नहीं छोड़ता है।"

यह जानते हुए भी कि मुझे अन्ततः पलंग छोड़ना ही पड़ेगा, दूसरा कोई चारा नहीं है, मैं डॉक्टर की ओर उत्कट दृष्टि से देखता हुआ हठवश लेटा ही रहा। कान्स्टेबल को बुलाने का प्रबन्ध करने के बाद डॉक्टर वहाँ से हटकर नर्सों के साथ उसी वार्ड में पश्चिमवाले कोने पर पहुँचा और एक दूसरे पलंग के पास खड़ा हो गया जहाँ अधेड़ उम्र की एक रोगिणी खाँस रही थी। मेरी आँखें और कान उसी ओर केन्द्रित हो गए।

"क्या हाल है ?" बड़े रूखे स्वर में प्रायः कड़कते हुए, डॉक्टर ने रोगिणी से प्रश्न किया।

"अभी खाँसी बहुत आती है बाबा," गिड़गिड़ाने के-से स्वर में रोगिणी बोली।

डॉक्टर ने उसकी बात पर तनिक भी ध्यान न देते हुए उसके पलंग के ऊपर टँगे दैनिक रिपोर्ट के कार्ड को उठाकर देखना शुरू कर दिया।

"सब ठीक तो है," कार्ड को फिर से यथास्थान रखते हुए डॉक्टर ने कहा, "तुम्हारा बोखार अच्छा हो गया है। थोड़ा-सा खाँसी है, सो भी घर पर दो-एक दिन दावा खाने से अच्छा हो जायगा। हम दावा लिख देता है, बाजार से खरीद के भोर में और संझा को दो खोराक खाना।" यह कहकर उसने एक नर्स से 'प्रेसक्रिप्सन' लिखने की किताब माँगी और जेब से कलम निकालकर उस पर कुछ घसीटा। उसके बाद वह पुरजा रोगिणी की ओर बढ़ाते हुए कहा, "यह लो और पालंग खाली करो।"

"मैं दवा...खक्-खक्-खक्...कहाँ से खरीदूँगी, बाबा! मैं गरीब...खक्-खक्-खक्......" रोगिणी खाँसी के कारण अपनी बात ठीक से पूरी भी नहीं कर पाई।

"जैसे भी हो, जहाँ से भी हो, हम कुछ नहीं जानता। तुमको पालंग खाली कर होगा।"

"अभी कुछ रोज के लिए...खक्-खक्-खक्...और रहम करो बाबा! अभी मैं...खक्-खक्-खक्...अच्छी कहाँ हुई...खक्-खक्-खक्..."

"बड़ा मुश्कील है", खीझ-भरे स्वर में डॉक्टर बोला, "हर पेशेन्ट पालंग खाली करने से माना करता है। दाई, इसका हाथ खींचकर हियाँ से हटाओ।"

एक दाई ने, जो पास ही खड़ी थी, वैसा ही करना शुरू किया। रोगिणी छटपटाती हुई बोली, "अरे यह क्या जबरजस्ती करती हो? डॉक्टर साहेब, आप इसे मना क्यों नहीं करते? मैं कहाँ जाऊँ? मेरा कहीं घर थोड़े ही है। मुझे कुछ दिन और यहीं आराम कर लेने दो बाबा, गोड़ गिरती हूँ।" अब की उसे बिलकुल खाँसी न आई, यह आश्चर्य ही था। उसकी बात सुनकर मेरी कान खड़े हो गए और मैं प्रायः उठ बैठा। क्या यह काकताली थी या जीवन की वास्तविकता कि एक ही अस्पताल में एक ही दिन और एक ही समय ठीक मेरी ही जैसी परिस्थितियों में पीड़ित एक दूसरे प्राणी का अस्तित्व विद्यमान था? यहाँ तक कि उसका 'टैक्नीक' भी ठीक मेरे ही जैसा था। मुझे यह समझने में देर न लगी कि उसकी वह खाँसी पूरी नहीं तो काफी हद तक बनावटी थी।

'दाई'—अर्थात् अस्पताल की नौकरानी—ने उसकी एक न सुनी और उसका

हाथ बलपूर्वक खींचकर उसे पलंग से नीचे उतार दिया। वह नीचे फर्श पर बैठकर, "हाय राम रे! हाय दैया रे! क्या अंधेर है रे! भगवान् के घर में तनिक भी न्याय नहीं है रे!" चिल्लाती हुई दहाड़ मारकर रोने लग गई और खाँसना शायद वह भूल ही गई, या उसकी उपयोगिता पर से उसका विश्वास हट गया। अस्पताल के नीरस और निर्विचित्र जीवन से उकताये हुए मरीजों के लिए तनिक से 'इन्टर्वल' के बाद एक अच्छा—पहले से भी अधिक रोचक—तमाशा जुट गया था। खाँसनेवाले खाँसना भूल गए और कराहनेवाले कराहना। स्वयं मैं अपनी संकटपूर्ण परिस्थिति को भूल-सा गया था और उसी रोगिणी की ओर मेरा ध्यान केन्द्रित हो गया था। मुझे अपने 'टेक्नीक' पर अब बड़ी ग्लानि होने लगी थी।

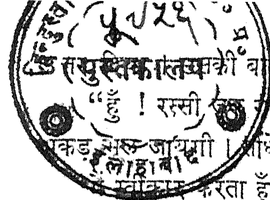
इतने में अस्पताल के एक नौकर ने एक कान्स्टेबल के साथ वार्ड के भीतर प्रवेश किया। उसे देखते ही प्यारे घबराई हुई आवाज में मुझसे बोला, "बाबूजी, अब आप पुलिसवाले के यहाँ पहुँचने के पहले ही चुपचाप उठकर चले जाइए। और मुझसे किसी दिन मेरे घर पर मिलिएगा, एक बहुत जरूरी बात आपसे करनी है।" और उसने बहुत जल्दी में अपनी गली और मकान का नक्शा मुझे समझा दिया।

मैंने बड़े धैर्य से कहा, "तुम बिलकुल न घबराओ। ये लोग मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। फिर भी मैं जानता हूँ कि मुझे जाना ही पड़ेगा।"

पुलिसवाले को मेरी ओर आते देखकर बड़ा डॉक्टर भी रोनेवाली रोगिणी को छोड़कर प्रायः दौड़ता हुआ चला आया। कान्स्टेबल को कुछ निकट से देखते ही मैं क्षण-भर के लिए कुछ सहम-सा गया। वह वही कान्स्टेबल था जिसने कालेज-स्क्वायर में मुझे पकड़ा था और फिर एक जोर का धक्का देकर फुटपाथ पर प्रायः पटक दिया था। उसी की कृपा से मुझे अस्पताल का आश्रय मिल पाया था।

मैं पलंग के सिरहानेवाले लोहे के डण्डे पर टेक लगाकर इतमीनान से आधा लेटा हुआ था। मेरे पास आते ही अपनी क्रूर व्यंग्य-भरी दृष्टि से मेरी ओर घूरता हुआ कान्स्टेबल गम्भीर स्वर में बोला, "कहिए जनाब, क्या हाल है? अभी आपको ठीक से सबक नहीं मिल पाया मालूम होता है! अभी कुछ बाकी है, जान पड़ता है। यहाँ भी किसी की गिरह पर नजर है क्या?"

"जी हाँ," मैंने उसी तरह आधे लेटे हुए ऊपरी धीरज कायम रखते हुए



...की बातका ढंग देखकर मैं कट गया था ।

"हुँ ! रस्सी जल गई पर ऐंठन न गई । एक लप्पड़ जमा दूँगा तो सारी अकड़ निकल जायगी । सीधे से उठते हो कि मुझे उठाना होगा ?"

मैं स्वीकार करता हूँ कि 'लप्पड़' की धमकी से मैं मन-ही-मन घबरा उठा था । मेरे अत्यन्त क्षीण स्वास्थ्य और दीर्घ अनशन से जर्जर शरीर का जो हाल था वह कुछ दिन के लिए अस्पताल का अखाद्य खैराती भोजन प्राप्त होने के बाद भी प्रायः वैसा ही बना हुआ था । कान्स्टेबल के सुदृढ़ मिर्जापुरी हाथ के 'लप्पड़' को सहन कर सकने की तनिक भी शक्ति उसमें नहीं थी । इसलिए सहसा सारा 'नाटक' भंग करते हुए मैं उठ बैठा और पाँवों पर से चादर हटाकर पलंग से नीचे उतरकर खड़ा हो गया । कान्स्टेबल के प्रति बनावटी अवज्ञा का भाव जताते हुए मैंने डाक्टर को लक्ष्य करके कहा : "सुनो डॉक्टर, तुम्हारी नीचता किस सीमा तक पहुँच सकती है, यह मैंने देख लिया । मैं समझ गया हूँ कि जब तुम लोग जबरदस्ती मुझे यहाँ से हटाने पर तुले हुए हो तब मेरा अधिक प्रतिरोध करना निष्फल है, क्योंकि मुझमें उसके लिए शारीरिक शक्ति कुछ भी शेष नहीं रह गई है । मैं जाता हूँ, पर जाने के पहले यह बता जाना चाहता हूँ कि तुम्हारी मनुष्यता को मैंने इस पुलिसवाले की नीचता से भी कई स्तर नीचे गिरा हुआ पाया जो मुझे गिरहकट बताकर भी मुझे जेल में बन्द नहीं कर पाता—मेरे ऊपर दया करके नहीं बल्कि अपनी बुजदिली और बेबसी के कारण । मैं जानता हूँ कि यह मुझे अस्पताल से बाहर ले जाकर फिर उसी तरह किसी फुटपाथ पर पटक देगा जिस तरह इससे पहले पटका था । अगर यह सचमुच मुझे गिरहकट और चोर समझता है तो क्यों नहीं मुझे जेल में बन्द करवा देता ? और तुम क्यों नहीं इस काम में उसकी मदद करते ? उसकी सारी दिक्कत यही है कि उसे थाने में मेरी गिरहकटी या चोरी की रिपोर्ट लिखवानेवाला कोई नहीं मिल रहा है । तुम ही लिख दो एक जाली रिपोर्ट, जिससे मैं जेल में बन्द होने की सुविधा पा सकूँ । जब अस्पताल से मुझे जबर्दस्ती निकालकर तुम मेरे कुछ दिन के खाने और ठिकाने का सिलसिला तोड़ने पर तुले ही हो तब कम-से-कम इतनी मनुष्यता तो दिखाओ कि जेल में मेरा ठिकाना लगा दो । वहाँ अगर अधिक कुछ न हुआ तो एक निश्चित आश्रय तो मिल ही जायगा—फिर चाहे वह कालकोठरी ही क्यों न हो । और याद रखो डॉक्टर, आज भले ही तुम इस पुलिसवाले की सहायता

से या स्वयं अपने अधिकार के बल पर किसी व्यक्ति को निस्सहाय और निराश्रय समझकर उसे अधिक-से-अधिक दुर्गतिपूर्ण परिस्थितियों में ढकेलकर अपने अहम् की—अपने झूठे अधिकार के मद की—तृप्ति कर लो, पर यह भूलकर भी न समझना कि आज के युग की हजारों विकृतियों के ताने-बाने से उलझी हुई विषम आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के शिकारों के प्रति स्वयंभू समाजपतियों का यह रुख जनता द्वारा बराबर इसी तरह उपेक्षित रहता चला जायगा।"... यह कहने के साथ ही मैं अनुभव कर रहा था कि मैं एक अच्छा-खासा लेक्चर उस कायर डॉक्टर को पिलाता हुआ उसे अच्छा बेवकूफ बना रहा हूँ, हालाँकि स्वयं भी हास्यास्पद बन रहा हूँ। अपने उस लेक्चर से मेरे भीतर का मस्तराम खूब हँस रहा था। तथापि इस बार भीतर की उस हँसी का लेशमात्र चिह्न भी मैं बाहर प्रकट नहीं होने देता था। अपने चेहरे की मुद्रा न देख सकने पर भी उस पर अंकित क्रोध, घृणा और तिरस्कार की मिश्रित अभिव्यंजना का चित्र मेरे मन के आगे सुस्पष्ट आ रहा था। "वह दिन जल्दी ही आ रहा है," मैं कहता चला गया, "जब और कोई नहीं तो मैं अकेला एक-एक मकान की छत पर चढ़कर गला फाड़-फाड़कर चिल्लाऊँगा कि देख लो दुनियावालो, यह है तुम्हारा 'फ्री वर्ल्ड' जिसमें मुझे और मेरे जैसे असंख्य व्यक्तियों के साथ समाज का यह अंधेर चल रहा है कि पहले तो वह उन्हें कहीं कोई आश्रय ही नहीं देता और फिर जब वह बेचारा विवश होकर निराश्रित अवस्था में भटकने लगता है तब उसकी उस अनचाही निराश्रयता के लिए उसे दण्डित करता है और परेशान किये रहता है। तुम लोग जो समाज के ठेकेदार हो या उन ठेकेदारों के पिट्ठू, ऐसी झूठी और ढोंग-भरी व्यवस्था का जाल फैलाए बैठे हो कि प्रतिपल जो ज्वलंत सत्य तुम लोगों की आँखों से होकर गुजरता है उसे कुचलने या उसका गला घोटने का अमल करने में ही अपनी झूठी मनुष्यता की शान मानते हो। पर ऊपर से सफेद दिखाई देनेवाली तुम लोगों की करतूतों के भीतर जो सड़न पैदा हो गई है उसे कब तक छिपाये रह सकोगे? संगमरमरों या संगमरमरनुमा पत्थरों से चमकती हुई इस आलीशान इमारत के भीतर पीड़ित मानवता की सेवा का जो नाटक तुम लोग रचाए हो उसके भीतर से उठनेवाली असहाय और उपेक्षित मानवता की पुकार को लाख चेष्टा करने पर भी अधिक समय तक दबा न सकोगे। उसका एक-एक पत्थर एक दिन चीख उठेगा, एक-एक ईंट उसकी ढोंग की कहानी को चिल्ला-चिल्लाकर दुहराएगी।

तुम और तुम्हारे ही जैसे स्वाधिकार-प्रमत्त दूसरे व्यक्ति मेमने की खाल ओढ़े हुए नर-पिशाच हैं—'फिल्दी ब्रूट्स,' 'इनह्यूमैन रैचेज !…"

पता नहीं, मेरे अर्द्धचेतन मन ने इस तरह का भाषण कब से तैयार करके रट-सा रखा था। तैश में आकर जब मैं इतनी सब बातें बेलगाम बोलता चला जा रहा था तब यह देखकर मेरे मन के भीतर छिपा हुआ तमाशबीन अच्छे आनन्द का अनुभव कर रहा था कि सभी उपस्थित व्यक्तियों—डॉक्टरों, नर्सों और मरीजों—पर उसका आश्चर्यजनक हिप्नोटिक प्रभाव पड़ रहा है। यहाँ तक कि वह उजड्ड कान्स्टेबल भी मुँह बाये खड़ा था और चकित होकर सुन रहा था। जिस डॉक्टर को संबोधित करते हुए मैं लेक्चर दे रहा था और गालियाँ सुना रहा था उसे मुझे बीच में एक बार भी रोकने का साहस नहीं हुआ। जब अन्त में मैंने अंगरेजी में उसे गाली दी तब उसे जैसे होश आया। सहसा तमककर वह भी अंगरेजी में ही बोला, "देखो, इस तरह गाली देने का कोई अधिकार तुम्हें नहीं है। तनिक होश सँभालकर बातें करो।"

"चलो, अब तुम दूसरे के अधिकार की बात तो करने लगे; अभी तक केवल अपने ही अधिकार की डींग हाँकते फिरते थे। पर तुम्हारी हीनता मैं खूब देख चुका हूँ। पुलिसवाले की आड़ में छिपनेवाले तुम्हारे जैसे कायर डॉक्टर का मुँह देखने में भी मुझे घृणा मालूम हो रही है। इसलिए मैं जाता हूँ…" और यह कहकर अपनी ऊपरी घृणा और आवेश को पूरी मात्रा में कायम रखता हुआ, बहुत दिन बाद अपनी 'विजय' के दम्भ से इतराता हुआ (और साथ ही मन के भीतर के भी भीतर इतमीनान से पलथी मारकर बैठे हुए फक्कड़ की हँसी का अनुभव हर समय करता हुआ) मैं ठाठ से जमे हुए कदमों से अकड़ता हुआ बाहर निकला। कहीं भीतर घुटी हुई हँसी अस्पताल की इमारत के बाहर निकलने के पहले ही सौ-सौ उच्छ्वसित फुहारों में फूट न पड़े और मेरी भाषणकला के जादू का जमा-जमाया प्रभाव कहीं टूट न जाय, इस आशंका के कारण मैं प्राणपण से अपने हास्यावेग को दबाने का प्रयत्न कर रहा था। अस्पताल से बाहर निकलने पर फाटक के पास पहुँचते ही जब हँसी का विस्फोट होने ही वाला था तब सहसा पीछे से किसी की आवाज सुनाई दी, "जरा सुनिए, मिस्टर !"

मैंने मुड़कर देखा। एक सफेद वर्दीधारी जवान डॉक्टर, जो स्पष्ट ही बड़े डॉक्टर का सहायक लगता था और जो सम्भवतः मेरा भाषण सुन चुका था, मेरी

ओर तेज चाल से चला आ रहा था। मेरा हँसी का 'मूड' उसी दम समाप्त हो गया। खीझ-भरी दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए मैं ठहर गया। मेरे एकदम निकट आने पर उसने एक बार सरसरी दृष्टि से अपने चारों ओर देखा। उसके बाद अपनी जेब से दस रुपये का एक नोट निकालकर मेरी ओर ससंकोच बढ़ाते हुए उसने धीरे से अंगरेजी में कहा, "कृपया इसे स्वीकार कर लीजिए।" उसकी आँखों में अनुरोध का-सा भाव भरा हुआ था, दया का नहीं। इस नितान्त अप्रत्याशित 'भेंट' से हतप्रभ होकर मैं कुछ देर तक आश्चर्य और कुतूहल से भरी आँखों से उसकी ओर देखता रह गया।

मेरी मुद्रा देखकर उसने बड़ी ही शालीनता से, बड़े ही शिष्ट शब्दों में कहा, "आज अस्पताल में जो घटना घट गई उसके लिए मैं और मेरे साथी बहुत लज्जित हैं। अन्याय को सुस्पष्ट देखते हुए भी हम लोग अपने 'बॉस' का विरोध खुलेआम न कर सके, इसके लिए हमें बहुत दुःख है। आप इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करके मुझ पर अनुग्रह करें नहीं तो मुझे बहुत दुःख होगा। यह आप को दान या सहायता के रूप में मैं नहीं दे रहा हूँ, बल्कि यह आपकी बातों के प्रति आन्तरिक आदर-भाव का प्रतीक है।"

मैं फिर क्षण-भर के लिए अनिश्चित मनःस्थिति में निश्चेष्ट खड़ा रहा। उसके बाद सहसा उसकी ओर हाथ बढ़ाता हुआ बोल उठा, "तब लाइये, लेकिन इतना स्पष्ट कर दूँ कि यह मैं उधार के रूप में स्वीकार कर रहा हूँ। कभी परिस्थिति कुछ सुधरी तो इसे चुका दूँगा।" यह कहकर मैंने वह नोट उससे ले लिया और उसके प्रति स्नेह और श्रद्धा से हाथ जोड़कर फाटक से बाहर निकल गया।

बाहर आकर फुटपाथ पर पहुँचते ही मेरे पाँवों की गति रुक गई। कहाँ जाना चाहिए, क्या करना चाहिए, अनिश्चित मानसिक अवस्था में खड़े-खड़े मैं इस तरह सोच ही रहा था कि इतने में वह अधेड़ रोगिणी भी अस्पताल के फाटक से बाहर निकल आई, जो पलंग से बलपूर्वक हटाए जाने पर दहाड़ मारकर रोने लगी थी। वह कुछ बड़बड़ाती हुई चली जा रही थी। स्वयं अपने को गाली दे रही थी या अस्पताल के कर्मचारियों को, ठीक से कुछ कहा नहीं जा सकता।

सहसा मेरे मन को एक प्रेरणा हुई। मैंने उसे रोककर कहा, "तनिक ठहरो, इसे भँजाता हूँ," यह कहते हुए उसे मैंने दस का नोट दिखाया। यह देखकर मुझे आश्चर्य ही हुआ कि उस अधपगली ने मेरा आशय तत्काल समझ लिया और बिना

कोई दूसरा प्रश्न किये वह रुक गई। एक आदमी उसी फुटपाथ पर, पास ही, कपड़े की दुकान फैलाए बैठा था। मैंने उसकी ओर दस का नोट बढ़ाते हुए उससे 'छुट्टा' माँगा। उसने एक-एक करके दस रुपये गिनकर दे दिये। उनमें से पाँच रुपये उस अधपगली रोगिणी को थमाकर मैं सामनेवाले फुटपाथ पर जा पहुँचा, जहाँ एक 'चना-चूर' वाला खोमचा लगाए बैठा था। मैंने उसे दो आने की गरम दाल देने को कहा, जो गरम हाँडी के नीचे दबी हुई थी। जब वह दाल तोल रहा था, तब मैं सोच रहा था कि उस जवान डॉक्टरसे 'उधार' की बात कहकर मैंने उस पर अच्छा 'जयाया'। और फिर एक बार हँसने का 'मूड' जगा। आज जब सोचता हूँ तो आश्चर्य होता है कि निराशा, निराश्रय और निराहार की उन परिस्थितियों में भी वह कौन प्रवृत्ति या शक्ति मेरे भीतर निहित थी, जो मेरे मन के प्रचण्ड विद्रोहात्मक विस्फोटोंके बीच में भी स्फुट हास से मुझे गुदगुदा देती थी, जिसके फलस्वरूप उत्कट घृणा और आक्रोश का पूरा अनुभव करते हुए और उस अनुभव को अभिव्यक्ति देते हुए भी मेरे भीतर कटुता नहीं आने पाती थी।

'चना-चूर' लेकर और बाकी पैसे जेब में सँभालकर मैं वहीं खड़े-खड़े पुड़िया खोलकर खाने लगा। जब सब खा चुका और नल का पानी पी चुका, तब कुछ शान्ति मिली। इसके बाद मैं फुटपाथ पर ही कॉलेज के बँगले के नीचे-नीचे बहुत दूर तक लम्बी कतार में सजाई गई बँगला, हिन्दी और अंगरेजी की पुरानी पुस्तकों को देखने लगा। वहाँ बहुत आदमी खड़े थे और अपने मन के विषय के अनुकूल किसी पुस्तक का नाम पढ़कर उसे उठाकर, खोलकर पढ़ने लग जाते थे। जब मैं उन पुस्तकों का 'निरीक्षण' करनेके लिए आगे बढ़ा तब एक लड़के के कुरते को मेरा शरीर कुछ छू गया—किसी एक पुस्तककी ओर हाथ बढ़ाने के प्रयत्न में। लड़का तल्लीन भाव से साहित्य-सम्बन्धी एक बँगला पुस्तक के किसी पृष्ठ को पढ़ रहा था। मेरे वहाँ पहुँचने पर वह बिना मुझे देखे ही पीछे की ओर हट जाना चाहता था, पर भीड़ की ठेलमेल में जब उसने मुझे अपने एकदम निकट सम्पर्क में पाया तब बड़े गौर से एक बार उसने मेरी ओर देखा। देखते ही उसकी मुद्रा बदल गई और वह किताब पढ़ना छोड़कर स्वतःचालित होकर अपनी जेब टटोलने

लगा । सम्भवतः उसे सुरक्षित पाकर वह आश्वस्त हुआ और एक बार सन्देह की और घृणाभरी दृष्टि से मेरी ओर देखकर उस स्थान से हटकर दूर चला गया । मैं इस बात को लक्ष्य करके, जान-बूझकर भोला बना हुआ-सा अपने मन की पुस्तक को खोलकर देखने और पढ़नेमें व्यस्त हो गया । पर मन नहीं लग पाता था । इसलिए कुछ देर बाद मैंने फिर उस पुस्तक को यथास्थान रख दिया और किसी दूसरी पुस्तक पर हाथ लगाया । इतने में एक आदमी, जो विशेष पढ़ा-लिखा नहीं मालूम होता था, और जो कुरता और लुंगी पहने था, मेरा हाथ पकड़ते हुए धीरे से बोला, "देखो, गिरहकटी करनी हो तो कोई दूसरी जगह पकड़ो । मैं और मेरे घर के लोग करीब पचपन बरस से पुरानी किताबें बेचनेका रोजगार करते चले आ रहे हैं । बराबर इसी एक जगह में मैं अपनी दुकान फैलाता हूँ । और अगर तुमने यहाँ किसी की गाँठ काट ली तो कल ही से मेरे बहुत गाहक घट जायँगे । इसलिए अच्छा यह होगा कि तुम चुपचाप यहाँ से खिसक जाओ ।"

इतना तो मैं बहुत दिन से समझे था कि एक लम्बे अरसे से भोजन और नियम की कोई व्यवस्था न होने से केवल मेरा शरीर ही दुर्बल नहीं हुआ है, बल्कि मेरे मुख की अभिव्यक्ति में भी चोरों, गिरहकटों, अपराधियों और दुष्प्रवृत्तियों की-सी छाप पड़ गई है । शीशा रोज देखने का अवसर तो मुझे नहीं मिलता था, पर कभी-कभी किसी दुकान के आगे खड़े होने पर जब मुझे अपना चेहरा सहसा, न चाहने पर भी, दीख जाता था, तब स्वयं मैं डर जाता था । कपाल में झुर्रियाँ पड़ी हुई, आँखें गड्ढों में धँसी हुई, आँखों के नीचे नीले-नीले दाग, गाल पिचके हुए, गाल के ऊपर की हड्डियाँ और नाक की डण्डी उभरी हुई, बाल रूखे और धूल से धूसरित । और इस सारे ढाँचे के ऊपर झलकनेवाली निराशा, घृणा और विद्रोह की मिश्रित छाया । कुल मिलाकर एक ऐसा हुलिया मेरा बन गया था कि यदि कोई मेरे सम्पर्क में आते ही, मुझे देखते ही, कतराकर निकल जाना चाहता और अपनी जेब की रक्षा की बात सोचने लगता हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात मेरे लिए नहीं थी । पर सब-कुछ जानते और समझते हुए भी जब-जब कोई व्यक्ति सुस्पष्ट संकेत से मुझे यह बता देता कि पाकिटमारी करना ही मेरा व्यवसाय है, तब-तब मेरे मन के भीतर कोई पीड़ा टीस मार उठती । फिर भी धीरे-धीरे इस तरह के अनुभवों का मैं आदी होता चला जा रहा था ।

किताबवाले ने जब अपनी आशंका प्रकट की और खरी-खरी बातें मुझे

सुना डालीं तब अपनी उस मरी हुई हालत में भी मेरे मन में पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि उसके मुँह पर एक तमाचा जड़ दूँ और साथ ही उसे बता दूँ कि मैं परिस्थितियों का मारा होने पर भी कोई ऐसा-वैसा आदमी नहीं हूँ और अभी कुछ ही समय पहले अस्पताल में बड़े-बड़े डॉक्टरों को अपने भाषण से चुप करा आया हूँ। पर तत्काल मैं सँभल गया। क्रोध को गले-गले तक पीता हुआ मैं धीरे से बोला, "तुम दुकानदार हो और मैं ग्राहक हूँ, तुमने दुकान फैला रखी है इसलिए किसी भी आदमी को इस बात का पूरा हक है कि वह किताबों को देखे। अगर अपने मन की कोई किताब मिल गई और दाम जँच गए तो मैं अवश्य ही उसे खरीदना चाहूँगा, नहीं तो अपने आप ही यहाँ से हट जाऊँगा। तुमने जो इस तरह की बात मेरे मुँह पर कही है वह किसी भी भले आदमी के मुँह से निकल नहीं सकती···"

"देखो, अब बहुत लेक्चर न बघारो। मैं सब जानता हूँ। अगर सचमुच तुम्हें कुछ खरीदना है तो जल्दी देखकर ढूँढ़ लो। या मुझे ही बता दो कि तुम्हें किस तरह की या किस विषय की किताब चाहिए, मैं खोज दूँगा···"

"नहीं, मुझे किसी खास विषय की किताब नहीं चाहिए। किसी पर भी मन जम जाने की बात है।"

"पैसा है पास में ?" कटु व्यंग्य से मेरी ओर देखते हुए उसने कहा।

सुनकर मैं तिलमिला उठा। उससे लड़-झगड़कर या तर्क करके उस पर यह विश्वास जमाना असम्भव था कि मैं और चाहे जो भी होऊँ, पर जिस तरह की धारणा उसने पहली दृष्टि से मेरे सम्बन्ध में बना ली है वैसा मैं किसी भी हालत में नहीं हूँ। सहसा मेरे मन में यह धुन सवार हो गई कि किताबवाले के आगे यह बात हर हालत में प्रमाणित हो जानी चाहिए कि मैं पुस्तकों का प्रेमी हूँ। उसी क्षण मेरी दृष्टि एक बहुत पुरानी किताब पर गई जिसका नाम मैंने पढ़ा—'कॉन-फेशन्स आफ ए ठग'। इस पुस्तक के नाम से मैं पहले से परिचित था, पर उसे पढ़ा नहीं था और न पढ़ने की कोई इच्छा उस समय मेरे मन में थी। पर केवल किताब बेचनेवाले की धारणा को ध्वस्त करने की प्रेरणा से मैंने शान में अकड़ते हुए उसे उठा लिया और उसे दिखाते हुए पूछा कि 'इसके दाम क्या हैं ?' उसे हाथ में लेकर देखते ही किताबवाला बोला, "पाँच रुपया।" सुनकर मेरा कलेजा धक् से रह गया। मुरझाए स्वर में मैंने कहा, "इतनी पुरानी किताब का दाम

पाँच रुपया, यह तुम क्या कह रहे हो ?"

"यह 'रेयर बुक्स' में से है मिस्टर, कहीं मिलती नहीं। कोई छापता नहीं है। पुरानी होने से तो ऐसी किताबों की कीमत बढ़ती है। ऐसी किताबों की कीमत तुम क्या समझो। शौकीन लोग ही जानते हैं, पाँच रुपये पर तो मैं इसे लुटा रहा हूँ। मैं तभी तो कहता था कि तुम्हें खरीदना-वरीदना कुछ है नहीं, बेकार की भीड़ जमा रहे हो।"

मेरे अहम् को बड़ी चोट पहुँची। मैं उसे बिना खरीदे नहीं रहना चाहता था। पर जवान डॉक्टर ने दस का जो नोट दिया था उसमें से केवल चार रुपया चौदह आने ही बचे थे। मैं सोच रहा था कि उनमें से मेरे लिए चौदह आने भी बच जायँ तो काफी हैं; शेष चारों रुपया मैं किताब के लिए खर्च कर सकता हूँ। पर वह माँगता है पूरे पाँच। मैं उस पर रोब जमाने के लिए उससे सौदा भी नहीं करना चाहता था। इसलिए सब कुछ सोचने-समझने के बाद मैंने निश्चय किया कि मैं उसे एक बार चार रुपया 'ऑफर' करूँगा; उतने में राजी हो जाय तो ठीक है, नहीं तो ठाठ से वहाँ से चल दूँगा।

मैंने कहा, "तुमने अपनी बात कह दी, अब मैं भी अपनी बात कह देता हूँ। मैं इस किताब के लिए चार रुपये तक दे सकता हूँ, इससे ज्यादा एक पैसा नहीं। मन पड़े बेचो, मन न पड़े न बेचो, तुम्हारी खुशी।"

वह कुछ क्षणों के लिए अकचकाई हुई-सी आँखों से मेरी ओर देखता ही रह गया। उस समय उसके उस आश्चर्य का कारण ठीक से न समझ सका। पर बाद में मुझे जो अनुभव हुए उनके आधार पर आज मैं जान गया हूँ कि उसके आश्चर्य का क्या कारण रहा होगा। पुरानी किताबों के ग्राहक साधारणतः काफी देर तक मोल-तोल किया करते हैं, इसलिए हर पुरानी किताबें बेचनेवाला उचित मूल्य से कम-से-कम चौगुना बढ़ाकर बताता है। उसने जो पाँच रुपये उस पुस्तक के बताए थे, मोल-तोल करने पर अन्त में डेढ़ दो रुपये तक पर वह निश्चय ही आ जाता। पर जब एक ऐसे आदमी ने बिना मोल-तोल के चार रुपया 'ऑफर' कर दिया जिसे वह निश्चित रूप से लोफर और पाकिटमार समझे बैठा था, तब उसे आश्चर्य होना स्वाभाविक था।

उसने अपना हाथ मेरी ओर बढ़ाते हुए धीरे से कहा, "अच्छा निकालिए।"

मैंने जेब से चार रुपया निकालकर उसे दे दिये और शेष चौदह आने अपने

अनिश्चित काल तक के सम्बल के लिए बचाकर, पुस्तक बाएँ हाथ में लेकर मैं निरुद्देश्य पगों से धीरे-धीरे कदम रखता हुआ अनिर्दिष्ट लक्ष्य की ओर चलने लगा। तनिक उस समय के मेरे चित्र की कल्पना कीजिए। चार रुपये, जिनसे मैं दो आने का चना सुबह और दो आने का चना शाम चबाकर प्रायः दो सप्ताह तक के लिए पेट के सम्बन्ध में किसी हद तक निश्चिन्त हो सकता था, उन्हें झूठी शान के 'मूड' में, एक क्षण के आवेग में गँवाकर, 'कॉनफेशन्स आफ ए ठग' नामक पुस्तक हाथ में लिये मैं अकड़ता हुआ फुटपाथ पर चला जा रहा था। कुछ ही दूर आगे चलने पर मैं दाएँ हाथ की ओर मुड़ा और न जाने क्या सोचता हुआ एक छोटी और अपेक्षाकृत सुनसान सड़क से होता हुआ पूरब की ओर चलता रहा। चित्तरञ्जन एवेन्यू के पास पहुँचने पर सहसा बाईं ओर एक विशाल भवन दिखाई दिया, जिसके फाटक पर बड़ी-बड़ी मूँछोंवाला, अधेड़ उम्र का एक दरबान संगीन-जड़ी बन्दूक हाथ में लिये और गले में कारतूसों की माला डाले एक स्टूल पर बैठा था। मकान की बनावट और रंग-ढंग से यह स्पष्ट था कि वह कोई आफिस या कारखाना नहीं, बल्कि किसी सेठ का निवास है।

एक क्षण में यह विचार बिजली की तरह मेरे दिमाग में कौंध गया कि सेठ से मिलना चाहिए, शायद यहाँ कोई काम मिल जाय और फिलहाल मेरे भोजन और निवास की दुविधा हल हो जाय। मैं सीधे फाटक की ओर इस तरह मुड़ा जैसे पहले ही से यहाँ जाने का निश्चय करके आया होऊँ। जब फाटक पर पहुँचा तब दरबान ने टोका और गरजते हुए कहा, "कहाँ जाते हो?"

"सेठजी से मिलना है," मैंने कृत्रिम धैर्य के साथ संक्षिप्त उत्तर दिया।

"क्या काम है?" संगीन की नोक को मेरी ओर कुछ तिरछा करके उसने पूछा।

"काम बहुत जरूरी है, पर सिर्फ उन्हीं को बताया जा सकता है।"

"दरबान अत्यन्त सन्दिग्ध दृष्टि में मुझे गौर से घूरने लगा। सम्भवतः यही सोच रहा होगा कि मेरे जैसे हुलियावाले व्यक्ति का क्या 'जरूरी' काम सेठ से हो सकता है। मैं किताबवाले हाथ को अपनी छाती से टिकाते हुए (इस उद्देश्य से कि दरबान किताब देखकर मुझे एक 'लोफर' न समझकर एक पठित भद्र पुरुष समझे) भीतर घुस गया। दरबान निश्चय ही फिर कुछ कहकर टोकना चाहता था, पर न जाने क्या सोचकर चुप रह गया। भीतर दालान में प्रवेश

करने पर मैंने देखा, एक आदमी मकान के सबसे नीचे हिस्सेवाले बरामदे पर खड़ा है।

"सेठजी कहाँ हैं?" मैंने उससे प्रश्न किया।

"क्या काम है?"

"एक बहुत जरूरी काम है।"

"आखिर वह जरूरी काम क्या है?"

"वह किसी दूसरे को नहीं बताया जा सकता।"

"तुम्हा···आपका नाम?" मेरे हाथ की पुस्तक की ओर देखते हुए उसने पूछा।

"एक कागज लाओ और कलम या पेंसिल दो, लिख देता हूँ।"

वह अनिच्छा से कमरे के भीतर गया और कागज-कलम लाकर उसने मेरे हाथ में दे दिया। मैंने अंग्रेजी अक्षरों में ऐसे ठाठ से अपना नाम घसीट दिया कि सेठजी यदि खानदान-भर के आदमियों से पढ़वाते तो भी यह जानना कठिन होता कि उसमें क्या लिखा गया है। वह आदमी कागज लेकर भीतर गया। मैं बाहर बड़ी उत्सुकता से उसकी प्रतीक्षा करता रहा।

थोड़ी देर में लौटकर उसने सन्देह-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए फिर प्रश्न किया, "तुम्हा···आपका काम क्या है, पहले बताइए?"

"अरे भाई, कह तो दिया कि बहुत जरूरी काम है और किसी दूसरे को बताने का नहीं है।"

कुछ हिचक के बाद उसने कहा, "अच्छी बात है, तब चले आइए।"

मैं उसके पीछे-पीछे हो लिया। भीतर, सबसे नीचे के तल्ले में ही सेठजी की 'गद्दी' थी। एक बहुत बड़े कमरे में आर-पार धुली चाँदनी बिछी हुई थी और जगह-जगह गाव-तकिये रखे हुए थे। सामने एक सज्जन पीले रंग की पगड़ी, सफेद कुरता और सफेद ही धोती पहने तकिये पर टेका लगाकर पाँव फैलाए बैठे थे। पाँच-छः व्यक्ति उनकी अगल-बगल में बैठे थे, जिनमें तीन तो अलग-अलग रंगों की पगड़ियाँ पहने थे और शेष तीन काले रंग की गुजराती ढंग की फेल्ट टोपी। मैं अपनी कई जगह फटी चप्पल पहने ही भीतर प्रवेश करता जा रहा था कि सहसा सम्मिलित स्वर से 'हैं··हैं··हैं!' की आवाज ने मेरा दिल ही जैसे दहला दिया। यह जानने के लिए कि बात क्या है, मैंने सामने बैठे हुए सज्जनों की ओर देखा।

एक टोपी-धारी सज्जन अग्नि-दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कड़ककर बोल उठे, "अरे जनाब देखते क्या हैं, चप्पल बाहर उतारकर तब भीतर पाँव रखिए। जरा तमीज सीखिए !"

प्रारम्भ में ही इस तरह का स्वागत देखकर मेरा सारा साहस जाता रहा। अपनी कई जगह फटी-पुरानी, मैली चप्पल बाहर उतारकर मैंने भीतर प्रवेश किया और दरवाजे के पास ही एक कोने में खिसियाया हुआ-सा बैठ गया।

"क्या काम है ?" पीली पगड़ीवाले सेठजी ने, जो पाँव फैलाये हुए थे, पूछा। सभी लोगों की सन्देह और कुतूहल-भरी आँखें मेरी ओर लगी थीं।

"यों ही···एक काम के लिए···बात यह है कि···मेरा हाल देखकर आप समझ सकते हैं···मैं बेकार हूँ। काम की खोज में आया हूँ। आप यदि कोई काम···"

"हमारे पास कोई काम नहीं है, कोई काम नहीं है," बीच ही में मेरी बात काटते हुए और हाथ से भी नकारात्मक संकेत देते हुए सेठजी बोले।

"देखिए सेठजी, इस कलकत्ता में न मेरे रहने का कहीं कोई ठिकाना है, न खाने का। इसलिए आपको कोई काम मुझे देना ही होगा।"

"हमारे पास कोई काम नहीं है, कोई काम नहीं है," फिर उसी तरह नकारात्मक संकेत से हाथ हिलाते हुए और मुँह बिचकाते हुए सेठजी बोले, "फिजूल के लिए हमारा माथा न खाओ, जाओ।"

मैंने मन-ही-मन कहा, "भूख तो मुझे ऐसी लगी है कि किसी का माथा भी खा सकता हूँ।" प्रकट में बोला, "देखिए सेठजी, कुछ मनुष्यता दिखाइए। आपके पास मेरे लायक कोई काम नहीं है, यह मैं कैसे मान लूँ!" मेरी खिसियाहट अब ढिठाई में परिणत हो चुकी थी।

शायद 'मनुष्यता' के तकाजे ने कुछ जोर मारा। सेठजी ने पहले से भी अधिक मुँह बिचकाते हुए पूछा, "क्या काम जानते हो ? बही-खाते का काम जानते हो ?"

"जी नहीं, यह काम कभी किया नहीं। आप बता देंगे तो सीख लूँगा।"

"मैं बताऊँगा तब तुम करोगे, यह अच्छी रही !"

सेठजी के साथी सम्भवतः मेरी 'मूर्खता' और धृष्टता पर घृणापूर्वक मुस्कराने लगे। मैं चुप रहा।

"दलाली जानते हो ?" सेठजी ने फिर पूछा ।

"जी नहीं ।"

"तब और क्या काम हमारे पास तुम्हारे लिए हो सकता है ?"

"मैं चौका-बरतन का भी काम कर सकता हूँ, अगर आप मुझे अपने यहाँ रहने के लिए जगह दें तो ।"

"ये सब 'बेफजूल' की बातें हैं," सेठजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "न हम तुम्हें चौका-बरतन का काम देंगे न रहने की जगह ।"

"क्यों ?" मैंने कुछ कटकर पूछा ।

"अरे जिस आदमी का कहीं न ठौर हो न ठिकाना, कौन ऐसा बेवकूफ होगा जो उसे अपने यहाँ रखे ! तुम अब अपना रास्ता नापो, बेफजूल हुज्जत मत करो ।"

मैं फिर भी, न जाने क्या सोचकर, चुपचाप बैठा रहा ।

"अब क्यों बैठे हो ?" सेठजी बिगड़कर बोले, "रामहरख !"

जो आदमी मुझे भीतर ले आया था वह तुरन्त उपस्थित हो गया । "इस आदमी को बाहर का रास्ता दिखाओ," सेठजी ने कहा ।

"चलो !" रामहरख मुझे आदेश देता हुआ बोला । अब उसके मन में इस सम्बन्ध में तनिक भी द्वन्द्व नहीं रह गया था कि मुझे 'आप' कहना चाहिए या 'तुम' । मेरी हैसियत अब उसके आगे साफ हो गई थी ।

मैं भी अब बैठे रहने में कोई तुक न देखकर उठ खड़ा हुआ । जाते-जाते जब मैंने फिर एक बार सेठजी को अच्छी तरह देखा, तब सहसा एक अजीब-सी खाम-खयाली मेरे सिर पर भूत की तरह सवार हो गई, जिसके सम्बन्ध में एक क्षण पहले तक मैंने कुछ सोचा ही नहीं था । मैं पूरे आत्म-विश्वास के साथ सेठजी की ओर मुखातिब हो गया और बोल उठा, "अच्छा सेठजी चलता हूँ । चलते-चलते एक प्रश्न तुमसे पूछ जाना चाहता हूँ । मान लो, मेरा नाम 'हम' और तुम्हारा नाम 'तुम' है । अब बताओ, 'तुम' गधा कि 'हम' गधा ?"

सेठजी सुनते ही आग-बबूला होकर उठ बैठे और झिड़कते हुए बोले, " 'तुम' गधा ! नालायक कहीं का ! किसने इसे घर में घुसने दिया ? रामहरख, जाओ जल्द यहाँ से ले जाओ इसे ! देखते क्या हो ?"

मैं तनिक भी न घबराकर, "अच्छा सेठजी, नमस्ते, जाता हूँ," कहकर परम प्रेमपूर्वक मुस्कराता हुआ, शान से बाहर चला आया । फटे चप्पल पाँवों में डाल-

कर 'कॉनफेशन्स आफ ए ठग' हाथ में लेकर इतमीनान के साथ चलता हुआ जब मैं बाहर सड़क पर पहुँचा तब एक बार फिर हँसी का वही दौर आरम्भ हुआ जो अस्पताल में मेरी 'बेइज्जती' का कारण बनी थी। पहले मैं अपने प्रश्न पर सोच-सोचकर मुस्कराया। फिर कुछ देरतक दबी हुई हँसी हँसता रहा। अन्त में सेठजी की क्रुद्ध मूर्ति की याद करते हुए मैं बीच सड़क पर सुस्पष्ट अट्टहास कर उठा। दो आदमी सामने से होकर गुजरे। मुझे देखते हुए आपस में बोलने लगे, "शाला खेपेछे!" और यह मन्तव्य प्रकट करते ही पीछे से मुक्त अट्टहास कर उठे—ठीक मेरी ही तरह। सुनकर मेरे आनन्द की सीमा न रही। उनकी गाली भी मुझे प्यारी लगने लगी।

आश्चर्य! आश्चर्य! मुझे स्वयं अपने ऊपर आश्चर्य हो रहा था, यह सोचकर कि अपनी उस परम दयनीय अवस्था में भी मैं अपने भीतर अनन्त हास्यका 'रिजर्वायर' छिपा हुआ महसूस कर रहा था, जिसकी मैंने इस सीमा तक की कोई कल्पना कभी नहीं की थी। मैं जानता हूँ कि मेरी इस बात की सचाई पर अधिकांश लोगों को एकदम विश्वास न होगा। पढ़कर लोगों के मनमें निश्चय ही यह प्रश्न उठेगा, "क्या ऐसा कभी सम्भव हो सकता है? तुम्हारी किस बात को हम सच मानें? क्योंकि तुम्हारी दो बातों में से केवल एक ही बात सच हो सकती है। या तो तुम उस हद तक भूखे नहीं थे जितना तुमने बताया है, या तुमने अट्टहास नहीं किया था। दुइ न होहिं एक संग भुआलू, हँसब ठठाइ फुलाउब गालू।"

मैं मानता हूँ, इस तर्क में बहुत-कुछ सार निहित है और फिर तुलसीदासजी का अकाट्य प्रमाण तो सामने है ही। फिर भी मैं पूज्य तुलसीदासजी से क्षमा माँगते हुए उनके ही राम की शपथ खाकर (जिसे कि नियमतः मुझे नहीं खाना चाहिये) यह विनम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि मैंने जो कहा है वह सत्य ही कहा है। कुछ घटाकर ही कहा है, बढ़ाकर नहीं। मेरी दोनों बातें सच हैं। भूख के कारण मैं शारीरिक रूप से तो चरम दुर्गति की स्थिति को पहुँच ही गया था, मेरे मन पर भी उसका बहुत बुरा असर पड़ चुका था। पर उस मन से भी बड़ी शायद कोई चीज रही होगी जिसने उस चरम विनाश ती स्थिति में भी मुझमें हँस सकने और सुनकर अट्टहास कर सकने की प्रवृत्ति और समर्थता—न जाने कहाँ से—भर दी थी। तुलसीदास ने दो परस्पर-विरोधी मानसिक स्थितियों का एक

साथ रहना असम्भव बतलाया है। उनके युग तक यह सापेक्ष मनोवैज्ञानिक सत्य काफी हद तक अखण्डित रहा होगा, ऐसा माननेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। पर आज के विचित्र और अभूतपूर्व युग में मनुष्य का मन शतधा विभक्त हो चुका है, जिसके एक अंश का दूसरे अंश से साधारणतः कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। प्रत्येक अंश अपने-आप में एक पूरी इकाई है। (भले ही वे इकाइयाँ अन्ततः एक बृहत् इकाई से संयोजित हों।) इसलिए आज यह सम्पूर्ण सम्भव है कि मनुष्य किसी एक विशेष क्षण में मन-ही-मन रोते रहने पर भी उसी क्षण सच्चे हृदय से मुक्त हास्य कर सकता है।

जब मैं बड़ी सड़क पर पहुँचा तब बत्तियाँ जल चुकी थीं। धीरे-धीरे अँधेरा अपना प्रभाव फैलाता चला जा रहा था। दुकानों की बत्तियाँ भी धीरे-धीरे जलती चली जा रही थीं। मैं अनिश्चित स्थिति में बाईं ओर मुड़कर मन्द पगों से धर्मतल्ले की ओर चला जा रहा था। बहुत दिनों बाद यह इच्छा मन में जागी थी कि किसी पार्क या फुटपाथ के बजाय किले के मैदान में सोया जाय। वहाँ सम्भवतः कोई पुलिसवाला आधी रात में जगाने नहीं आयगा। चना-चिउड़ा खाकर और नल का पानी पीकर जो 'बल' मैंने प्राप्त किया था वह अभी तक किसी हद तक काम दे ही रहा था, अर्थात् मैदान तक शरीर की गाड़ी किसी तरह चला ले जाने भर को पर्याप्त पेट्रोल पेट-रूपी इञ्जन में विद्यमान था। धीरे-धीरे चलता हुआ, धर्मतल्ले से सम्मिलित प्रकाश की जगमगाहट में वहाँ के व्यस्त और फैशन-परस्त जीवन का निरीक्षण करता और उसमें पूरा 'रस' लेता हुआ मैं अन्त में मैदान में पहुँच ही गया। यहाँ आनन्दान्वेषी नर-नारीगण दिन-भर की व्यस्तताजनित थकान मिटाने के उद्देश्य से जुटे हुए थे। कुछ लोग बेंचों पर बैठे हुए थे, कुछ इधर-उधर टहल रहे थे और कुछ दूब पर लेटे हुए थे। दाइयों के या अपने माँ-बाप के साथ आये हुए बच्चे एक सीमित घेरे में फुदकते-फुदकते किलकारियाँ भर रहे थे। 'परेम्बुलेटर' गाड़ियाँ भी यत्र-तत्र दिखाई देती थीं जिन पर छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चे चित लेटे हुए ऊपर खम्भे पर जलते हुए तीव्र प्रकाश की ओर देखते हुए अपने अज्ञात उल्लास में स्वयं मग्न होकर हाथ-पाँव हिला रहे थे

और मुँह से कुछ अस्फुट बोल निकाल रहे थे। ट्रामों और मोटरों का अटूट धारा-प्रवाह जीवन की व्यस्तता की तीखी अनुभूति को और अधिक मार्मिक रूप दे रहा था। लगता था कि व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता और अपने-अपने तुच्छ अहम् की तुष्टि की चञ्चल आकांक्षा ने आज के युग में प्रत्येक मनुष्य को अपने-आप में इस हद तक तल्लीन बना दिया है कि भीड़ में परस्पर ठेलमठेल होते रहने पर भी एक व्यक्ति के हृदय का कण-मात्र सम्बन्ध दूसरे व्यक्ति के हृदय में नहीं रह गया है। सामूहिक रूप से संगठित कार्य करने के जो दृष्टान्त कभी-कभी सामने आते हैं उनमें भी यह देखा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर स्वार्थ की भावना ही प्रबल है और वह व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के उद्देश्य से ही सामूहिक स्वार्थ में योग देता है। मनुष्यता के जिन आदर्शों की चर्चा हम लोग अपने प्रारम्भिक जीवन में पढ़ा या सुना करते थे वे जैसे किसी अज्ञात अतल गह्वर में छिपकर महाकुम्भकर्णी निद्रा में सो गए थे। लगता था जैसे सबके भीतर विकलता और विच्छिन्नता छाई हुई है। आज का मानव न स्वयं अपने को समझ पा रहा है, न दूसरे को समझना चाहता है। प्रत्येक सम्पन्न व्यक्ति बाहर में भरा-पूरा रहने पर भी, अपने निपट संकीर्ण अहम् में डूबा रहने के कारण, अपने भीतर किसी एक अनन्त हाहाकार-भरे अस्पष्ट अभाव का अनुभव कर रहा है और प्रत्येक अकिंचन व्यक्ति सारे जीवन को ही अभावमय, अर्थहीन और अनावश्यक मानकर जहाँ तक सामर्थ्य है उसके भार को किसी तरह ढोता चला जा रहा है। बीचवाले व्यक्ति प्रति क्षण जीवन और मृत्यु के झूले में झूलते हुए परस्पर-विरोधी परिस्थितियों के क्रूर परिहास के शिकार बन रहे हैं। सर्वत्र भय, संशय, अनास्था और अविश्वास का बोलबाला है और सब कहीं झूठ और ढोंग का राज्य छाया हुआ है। सब ओर जीवन अरक्षित और अव्यवस्थित है। सबके मन के अणु बिखरकर छितरा गए हैं और विस्फोटक तत्त्वों से भरे हुए हैं। सब लोग आत्मरक्षा के एक अन्ध और शुतुरमुर्गीय प्रवृत्ति से प्रेरित होकर सामूहिक जीवन के मृत ढाँचे को सहारा बनाकर, अपने को अतल में डूबने से बचाने की हास्यास्पद चेष्टा कर रहे हैं। उस मृत ढाँचे को सचेत प्रयत्नों से विनष्ट करके उसके स्थान पर नये जीवन से फड़कता हुआ एक नया ही ढाँचा खड़ा करने की बात किसी को नहीं सूझ रही है।

बेंच पर बैठा-बैठा मैं इसी तरह की बातें सोचता रहा। सोचते-सोचते जब

उकता गया तब वहाँ से उठा और काफी दूर तक आगे चलकर एक अपेक्षाकृत अँधेरे और एकान्त स्थान में हरी घास पर चित लेट गया। सिर के नीचे तकिये की जगह मैंने 'कॉनफेशन्स आफ ए ठग' रख लिया। बौराई हुई मानवता के वैयक्तिक और सामूहिक कुकृत्यों, विकृतियों और आत्मघाती प्रवृत्तियों के युग-युग के साक्षी तारे ऊपर आकाश में, कलकत्ता नगरी के कृत्रिम और क्षणिक प्रकाश की झीनी चादर के ऊपर कभी सुस्पष्ट और कभी अर्द्धस्फुट रूप में अपना अपेक्षाकृत स्थिर आलोक विकीरित कर रहे थे। उनकी ओर देखने और दूरस्थित ट्रामों और मोटरों के घर्घर-ध्वनि के अविरल प्रवाह का सम्मिलित संगीत-रव सुनते हुए मेरी आँखें कब लग गईं मैं कह नहीं सकता। उस रात मैं महीनों बाद जी भरकर शान्त और गहरी नींद में मग्न होकर अटूट भाव से सोता रहा। जब आँख खुली तब पूर्व क्षितिज में प्रकाश फैलने लगा था। मैं फिर भी न उठा। यों ही आँख बन्द करके काफी देर तक लेटा रहा।

जब सूरज काफी ऊपर चढ़ चुका तब धीरे से उठा। किसी सार्वजनिक स्थान में प्रातःकृत्यादि से निवृत्त होकर चना-चिउड़ा की खोज में धर्मतल्ला स्ट्रीट की ओर गया। बहुत दूर जाने के बाद एक खोमचेवाला दिखाई दिया। उससे दो आने की दाल लेकर उसे चबाता हुआ लोअर सरकुलर रोड की तरफ जानेवाली एक ट्राम पर, पता नहीं क्या सोचकर, चढ़ गया। जब ट्राम लोअर सरकुलर रोड के चौराहे के पास एक पार्क के पास ठहरी तब उसी अनमने भाव से मैं उतर भी गया। एक बेंच पर बैठकर काफी देर तक चने चबाता और 'कॉनफेशन्स आफ ए ठग' पढ़ता रहा। अन्त में उकताकर जब मैंने पुस्तक बन्द कर दी तब पार्क के सामने एक आलीशान मकान पर, जिसके फाटक के दोनों ओर बेगम बेलिया के फूल की लताएँ एक-दूसरे का आलिंगन करती हुई-सी एक मेहराब के आकार में अपनी लालिमा बिखेर रही थीं, मेरा ध्यान गया। वह मकान अपने एक विचित्र ही कलात्मक निर्माण के कारण दर्शक का ध्यान बरबस आकर्षित करता था। उसके दरवाजों, खिड़कियों और एक-दूसरे से अलग छोटी-छोटी छतों की बनावट नये ढंग की और बहुत सुन्दर लग रही थी। मेरा कुतूहल बढ़ा और मैं पार्क से बाहर निकलकर उस मकान के बिलकुल निकट जा खड़ा हो गया। फाटक के बाईं ओरवाले हिस्से पर संगमरमर के एक पत्थर पर बँगला में मकान का नाम खुदा था—'श्रीदाम निवास'। श्रीदाम अर्थात् जिन्हें हम हिन्दीवाले कहते हैं

सुदामा। दाईं ओरवाले हिस्से पर मकान के मालिक का नाम खुदा था—खगेन्द्र-मोहन भादुड़ी। नाम के आगे एम० एल० ए० के अलावा और भी कई उपाधियाँ जुड़ी हुई थीं। सहसा मेरा माथा ठनका। मुझे याद आया कि यह नाम मैंने कहीं सुना है। किसी ने मुझे बताया था कि भादुड़ी महाशय कलकत्ता के राज-नीतिक तथा व्यावसायिक क्षेत्रों में बड़े प्रभावशाली व्यक्ति हैं। तब क्यों न एक बार उनसे भी मिल लिया जाय? सम्भव है मेरी स्थिति की वास्तविकता से परिचित होकर कहीं किसी सरकारी या गैर-सरकारी दफ्तर में नौकरी का ठिकाना लगा दें। और यह विचार जागते ही मेरा मन उत्साहित हो उठा। विशेषकर मकान के नाम— 'श्रीदाम-निवास'—से मैं बहुत प्रभावित हुआ और मुझे बड़ी प्रेरणा मिली। मैंने सोचा, सुदामा से जिस व्यक्ति का प्रेम हो, वह निश्चय ही उदारचरित और सहानुभूतिशील होगा।

सौभाग्य से फाटक पर कोई दरबान नहीं था। फाटक खुला था, मैं भीतर घुस गया। बाहर दालान पर पीले रंग की एक ठाठदार 'कार' खड़ी थी। ऊपर दक्षिण की ओर के एक षट्कोणाकार बारजे पर एक स्वस्थ सुन्दरी और गोरी युवती खड़ी थी। उसकी अलसाई आँखों में मुझे देखते ही तीव्र कुतूहल का भाव भर आया। 'कार' के पास एक जवान आदमी सैंडोकट के ऊपर बाएँ कन्धे पर लाल रंग का एक खानेदार 'गमछा' (अँगोछा) डाले हुए खड़ा था। उसीसे मैंने पूछा, "भादुड़ी 'मोशाई' कहाँ हैं?"

"कौन? बड़े बाबू?"

मैं अनुमान से कह दिया, "हाँ।"

"क्या काम है?" शंकित दृष्टि से सिर से पाँव तक मुझे देखते हुए उसने कहा।

"उन्हीं से है एक जरूरी काम।"

"इस समय वह नहीं मिल सकते।"

"क्यों?" मैंने खीझ-भरे स्वर में पूछा।

"यों ही।"

मैं झल्ला उठा। "मैं उनसे मिलकर रहूँगा, तुम मुझे रोक नहीं सकते," आवाज को कुछ ऊँचा चढ़ाते हुए मैंने कहा।

"तुम हरगिज नहीं मिल सकते।"

"मैं जरूर मिलूँगा।"

"देख लूँगा तुम कैसे लाट साहब हो !"

"देख लेना।"

"एक ऐसा तमाचा जड़ूँगा कि मुँह टेढ़ा हो जायगा।"

और वह सचमुच तमाचा जड़ने की तैयारी कर ही रहा था कि एक सज्जन, जिनकी उम्र ५० से कुछ ही कम रही होगी और जो सुनहरे रेशम का कुर्ता, ताजा धुली हुई चुन्नटदार ढाका की धोती और ग्लेस किड का चमकदार पम्प शू पहने छैल-चिकनियाँ बने हुए थे, धीरे पगों से चलते हुए मकान से बाहर निकल आये। उनके एक-चौथाई पके, तेल से तर बालों पर टेढ़ी माँग कढ़ी हुई थी, कुरते पर सोने के बटन प्रकाश में चमक रहे थे, आँखों पर बिना 'रिम' का अष्टकोणात्मक चश्मा चढ़ा हुआ था, बाएँ हाथ में सुनहरी घड़ी और दाएँ हाथ की अनामिका में नीलम-जड़ी अँगूठी सुशोभित हो रही थी।

हम लोगों के निकट आते ही उन्होंने एक बार बिजली की-सी झपट के साथ तीखी दृष्टि से मेरी ओर घूरा और फिर गमछेवाले व्यक्ति को लक्ष्य करके गम्भीर स्वर में बोले, "की होयेछे ! गंडोगोल किशेर ?"

उस आदमी ने भी बँगला में बताया कि "यह आदमी जबर्दस्ती भीतर घुस आया है।"

छैल-चिकनिया बाबू ने (जिनका हुलिया देखकर मैं समझ गया कि निश्चय यही आज के युग के सुदामा होंगे) फिर उसी आदमी से पूछा, "ओ चाय कि ?" (वह क्या चाहता है ?)

यह प्रश्न यद्यपि उन्होंने मुझसे नहीं किया, तथापि मैं अच्छा अवसर जानकर स्वयं ही उत्तर देने के लिए तैयार हो गया। मैंने बड़े प्रेम से दोनों हाथ जोड़ते हुए कहा, "नमस्कार, भादुड़ी मोशाई !" मैंने इस ढंग से कहा जैसे उनसे मेरा बड़ा पुराना परिचय रहा हो। वह चकित और शंकित से होकर प्रश्न-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखते ही रह गए। मैंने कहा, "बात यह है भादुड़ी मोशाई, कि मैं आपके पास एक प्रार्थना लेकर आया था। मैं बहुत दिन से बेकार हूँ, बहुत कोशिश करने पर भी कहीं कोई काम नहीं मिल पाता। न कहीं मेरे रहने का ठिकाना है, न भोजन का ! रात में किसी फुटपाथ पर या किसी पार्क में या किले के मैदान में पड़ा रहता हूँ। कभी चना चबाने को मिल गया तो चबा लेता हूँ,

नहीं तो भूखा ही रह जाता हूँ। क्या आप किसी सरकारी या गैर-सरकारी दफ्तर में मेरी नौकरी नहीं लगा देंगे ? यदि कहीं लगा दें तो बड़ा कृतज्ञ रहूँगा।"

बहुत दिन बाद पहली बार मैंने किसी व्यक्ति के आगे सच्चे हृदय से, व्यंग्य-लेश-रहित भाव से अपने अन्तर की पीड़ा उघाड़ी थी। बोलते समय मैं स्वयं अपने ही द्वारा उकसाई गई करुणा से पिघला जा रहा था। इस आत्म-करुणा के फल-स्वरूप मेरी आँखें सचमुच गीली हो आई थीं।

मैंने सोचा था कि मेरे अन्तर से निकली हुई व्यथा जब निश्छल रूप से प्रकट हुई है तब आध्यात्मिक नियम के अनुसार वह भादुड़ी मोशाई को निश्चय ही प्रभावित करेगी—विशेषकर जब सुदामा से उनके मन का सम्बन्ध जुड़ा हुआ था। पर जब उन्होंने मुँह बिचकाकर सुस्पष्ट शब्दों में कहा, "नहीं, नहीं; हमारे पास कोई काम नहीं है और न किसी 'आपिस' में ही हम तुमको 'चाकुरी' दिलाने सकता है," और ऐसा कहकर, मोटर का दरवाजा खोलकर भीतर बैठ गए, तब मुझे लगा कि मेरे किसी भी विश्वास पर इतना बड़ा आघात बरसों से नहीं पहुँचा था।

मैं पत्थर की मूर्ति की तरह निश्चल भाव से खड़ा-खड़ा उनकी ओर देखता ही रह गया। मोटर 'स्टार्ट' हुई और उसके बाद फाटक से बाहर निकल गई, पर मैं फिर भी उसी तरह खड़ा रहा और शून्य की ओर दृष्टि किए रहा। बहुत दिन से आत्म-ग्लानि की जिस भावना को मैं विविध मनोवैज्ञानिक उपायों से अपने भीतर दबाता चला आ रहा था वह उस विशेष क्षण में मेरी भावना-सम्बन्धी दुर्बलता का सुयोग पाकर पूरे वेग से उभर उठी। मेरी सारी इच्छा-शक्ति अचानक जड़ और निश्चेष्ट बन गई। मेरा सिर चकराने लगा और हाथ-पाँव काँपने लगे। मैंने किसी को कहते सुना, "अब खड़े-खड़े किसका मुँह ताक रहे हो ? जाते क्यों नहीं ?" किसने कहा और कहाँ से, इसका कोई ज्ञान मुझे नहीं हो पाया। लगता था जैसे बहुत दूर से कोई आदमी बोल रहा है। पर सुनकर भी मैं उसी स्थिति में, उसी मुद्रा में और उसी दिशा की ओर शून्य दृष्टि से देखता रहा। और दूसरे ही क्षण मेरा शरीर जैसे एकदम अवश हो आया, केवल इतनी ही स्मृति मुझे है। उसके बाद जब होश आया तब देखा कई आदमी मुझे घेरे खड़े हैं और यह भी लगा कि मेरा सिर काफी गीला है। कुछ देर तक मैं सोच और समझ ही न पाया कि मैं इस तरह क्यों पड़ा हूँ और सिर क्यों भींगा है। मेरे आँखें खोलते ही चारों

ओर से यह आवाज आई, "गैंन होयेछे, गैंन होयेछे !" (होश में आ गया है, होश में आ गया है।) तब मैंने समझा कि मैं बेहोश हो गया था। कुछ महिलाओं की घबराहट-भरी आवाजें भी कानों में पड़ने लगीं। आँखें खुलने पर भी कुछ देर तक मैंने अतिशय दुर्बलता का अनुभव करने के कारण फिर आँखें बन्द कर लीं। लोगों ने समझा कि मैं फिर बेहोश हो गया हूँ, इसलिए फिर चारों ओर घबराहट-भरी आवाजें सुनाई देने लगीं। और साथ ही पानी की धारायें मेरे सिर पर पड़ने लगीं। उन धाराओं का प्रवेग अधिक न सह सकने के कारण मैं प्रबल प्रयत्नों से उठ बैठा। "उठे बोसेछे, उठे बोसेछे !" (उठ बैठा है।) महिलाएँ उल्लसित स्वर में बोल उठीं।

मैंने सबसे पहले यह काम किया कि एक तौलिया माँगा और उससे सिर पोंछने लगा। एक आदमी ने मेरे हाथ से तौलिया छीनकर स्वयं अपने हाथ से पोंछना आरम्भ कर दिया। उसके बाद मैंने फिर से उठने का प्रयत्न किया, पर आधा उठने पर गिरते-गिरते बचा। दो आदमियों ने मेरा हाथ पकड़कर उठाया और मकान के सबसे नीचेवाले 'तल्ले' के एक कमरे के भीतर मुझे ले गए। वहाँ एक तख्त पर मुझे लिटा दिया गया। एक महिला को किसी दूसरे व्यक्ति से बंगला में कहते सुना, "वह कैसा अनुभव कर रहा है, उससे पूछो।" एक दूसरी महिला ने जो आवाज से अधेड़ मालूम होती थी, कहा, "उससे पूछने की कोई जरूरत नहीं है। सबसे पहला काम यह करो कि उसे एक गिलास गरमागरम दूध पीने को दे दो।" किसी ने कहा, "खाली दूध से क्या होगा, कुछ खिलाओ भी।"

मैं आँखें मूँदे, चुपचाप लेटा हुआ सब-कुछ सुन रहा था। झूठ नहीं बोलूँगा। मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे यह सब अच्छा लग रहा था। प्रति दिन अवज्ञा, तिरस्कार, उपेक्षा और घृणा पाने का आदी, स्नेह-प्रेम, सहानुभूति और समवेदना का चिर-प्यासा मेरा हृदय आज शायद पहली बार अपने को ऐसी परिस्थिति में और ऐसे वातावरण में पा रहा था जहाँ पारिवारिक स्नेह और सौहार्द सहज रूप में विद्यमान लगता था और जहाँ दूसरों के कष्ट की चिन्ता करनेवाले लोगों का अभाव नहीं जान पड़ता था। मेरी उस संकट की स्थिति में जैसे सभी उपस्थित व्यक्तियों के भीतर दबी पड़ी मानवता चोट खाकर जाग पड़ी थी। "तब क्या मानव-समाज में शुष्क स्वार्थ की रेत अभी चारों ओर इस हद तक नहीं बिखरी है, जिस हद तक मैं समझता था ? हाइड्रोजन बम के विस्फोट से उड़नेवाली 'रेडियो-ऐक्टिव' राख

मानव-मन पर अभी उस व्यापकता से नहीं छितराई है जिसका अनुमान मैं इतने दिनों के घोर बर्बर अमानवीय अनुभवों में लगा रहा था ? मनुष्यता अभी एकदम मरी नहीं है ? अभी माताओं की छातियों में दूध शेष है ? मानवीय हृदय के अतल में निहित करुणा का स्रोत अभी एकदम सूख नहीं गया है ? अभी मनुष्य के सभी आँसू पत्थर में परिणत नहीं हुए हैं ?"

और यह सोचते हुए कृतज्ञता से मेरी आँखें छलछला आ रही थीं। मैं उसी तरह चुपचाप लेटा ही था कि एक आदमी ने मेरे दोनों हाथ पकड़कर धीरे से मुझे बिठाया और दूसरे आदमी ने एक गिलास गरम दूध लाकर मेरे हाथ में दे दिया। "आस्ते-आस्ते सब खा जाओ !" एक महिला की आवाज सुनाई दी। मैंने सामने की ओर मुँह किया तो देखा कि गोरे रंग की एक अधेड़ महिला आँखों में चश्मा लगाए और बिना किनारी की एकदम सादी, सफेद और स्वच्छ साड़ी पहने खड़ी थीं। उनकी आँखों में स्नेह भरा था और स्वर में सान्त्वना। मैंने गिलास लिये ही उनकी ओर दोनों हाथ जोड़ दिए। उसके बाद मैं धीरे-धीरे दूध पीने लगा। जब दूध पी चुका तब एक आदमी ने एक बड़ी तश्तरी में कुछ 'लूची' (अर्थात् मैदे की बनी छोटी-छोटी खस्ती पूड़ियाँ), आलू-परवर की तरकारी और नीबू का अचार लाकर मेरे आगे रख दिया। मैं बिना बहस के उस पर भी टूट पड़ा। लूचियाँ समाप्त भी न हो पाई थीं कि एक दूसरा आदमी एक कटोरे में चार बड़े-बड़े रसगुल्ले और एक चम्मच लाकर रख गया। लूचियों के बाद मैं उन रसगुल्लों के साथ भी चम्मच द्वारा 'न्याय' करने लगा। उसके बाद एक बड़े गिलास में संतरे का रस आया। मैं चुपचाप उसे भी गटक गया।

उसके बाद पूर्ण तृप्ति के साथ मैंने एक बार अपने चारों ओर नजर दौड़ाई। अधेड़ महिला के अलावा तीन स्त्रियाँ वहाँ और खड़ी थीं। एक तो वही युवती थी जिसे मैंने बारजे में देखा था। उसकी उम्र प्रायः बीस की रही होगी। उसका स्वस्थ शरीर और सुन्दर चेहरा, दोनों दर्शनीय थे। मैंने एक बार जी-भरकर और आँखें पूरी खोलकर उसकी ओर देखा। उसके प्रसन्न मुख पर कुतूहल का एक हल्का-सा आभास झलक रहा था। उसकी बगल में एक लम्बे कद की, अपेक्षाकृत दुबली युवती खड़ी थी, जो उम्र में पहलीवाली से दो-एक साल बड़ी मालूम होती थी। उसकी आँखों से सहज, निश्छल स्नेह-सा टपक रहा था। उनके पीछे एक परिणत-यौवना महिला खड़ी थीं। वह भी पहलीवाली तरुणी की तरह ही स्वस्थ

और सुन्दर लगती थीं, पर, उनकी आँखों में स्नेह या प्रसन्नता के बजाय एक विचित्र व्यंग्य-मिश्रित कुतूहल दीख रहा था, जिसमें घबराहट का भी पुट काफी था। उनके अतिरिक्त छोटे-छोटे लड़के और लड़कियाँ भी खेलना-कूदना छोड़कर मेरे पास आकर इकट्ठा हो गये थे और अपनी उम्र के लिहाज से बहुत ही गम्भीर, सम-वेदनापूर्ण और साथ ही तीव्र विस्मय और कुतूहल-भरी आँखों से मेरी ओर एकटक देख रहे थे। कलकत्ता के उन बच्चों ने 'ज़ू' तो अवश्य ही देख रखा होगा, पर ऐसा अद्‌भुत जीव उन्हें 'ज़ू' में एक भी नहीं मिला होगा जैसा कि मैं उन्हें लग रहा हूँगा। अनकटे, मैले और बिखरे बाल, घास की तरह उगी हुई दाढ़ी, गंदे कपड़े, धँसी हुई आँखों की मुरझाई दृष्टि, प्रेतात्मा का-सा खोखला चेहरा जिसपर इहलौकिक मृत्यु और पारलौकिक विद्रोह की-सी अजीब भयावनी—और स्वभावतः घिनौनी—छाया घिरी होगी, देख-देखकर उन्हें निश्चय ही भूत-प्रेतों के लोक की कोई नानी से सुनी कहानी याद आ रही होगी, जिसका नायक आज सजीव रूप में उन लोगों के आगे विद्यमान था।

"ऐखोन ओके पाठिये दाओ। केष्टो के बोले दाओ, ऐक्टा टैक्सी कोरे ओके जेखाने जेते चाय पौंछे दिये आशूक,"[1] दो युवतियों के पीछे खड़ी महिला रूखी मुद्रा में, तनिक खीझ-भरे स्वर में किसी से कह रही थीं। उनकी वह मुद्रा और बोलने का ढंग देखकर और बात का आशय समझकर पल-भर में मेरी भीतरी आँखों के आगे बिजली की-सी झलक से उनका सम्पूर्ण मनोभाव और अपनी सारी स्थिति की यथार्थता सुस्पष्ट रूप से अपने सच्चे परिप्रेक्षण में प्रकट हो गई। न जाने क्यों, मेरे मन में उस एक ही क्षण की अनुभूति से सारा अन्तर-रहस्य जैसे सूर्य के प्रकाश में उघड़कर तार-तार करके साफ हो गया। मेरे उस क्षण तक का सारा भ्रम दूर हो गया। मैं समझ गया कि शारीरिक और मानसिक दुर्बलता के कारण मेरी जो दयनीय विवशता उन लोगों के आगे प्रकट हो गई थी उसने कोई मार्मिक सहानुभूति उन लोगों के भीतर नहीं जगाई थी। उन लोगों ने मुझे जो दूध पिलाया और खाना खिलाया वह इसलिए नहीं कि वे लोग मुझे एक सहज पारिवारिक स्नेह देना चाहते थे, बल्कि इस खुशी में कि मेरी 'हत्या लगने' के पाप से वे लोग बच गए। यदि मेरा गिरना केवल बेहोशी तक ही सीमित न रहता

---

१. **"अब उसे भेज दो। केष्टो से कह दो, एक टैक्सी करके जहाँ जाना चाहे उसे पहुँचा आवे।"**

और कहीं मेरा 'हार्ट' ही 'फेल' हो गया होता तो जिस अशोभनीय और संकट-पूर्ण स्थिति में वे लोग पड़ जाते, उसकी कल्पना उन लोगों के लिए स्वभावतः बड़ी भयानक सिद्ध हुई होगी। इसलिए अपनी घबराहट में उन लोगों ने जब देखा कि मैं मरा नहीं, बल्कि होश में आ गया हूँ, तब अपनी सामाजिक, नैतिक और कानूनी रक्षा होते देखकर उन्हें स्वभावतः प्रसन्नता हुई होगी। मुझे अच्छी तरह खिलाने-पिलाने का एक कारण निश्चय ही यही था। मुझसे वे लोग (विशेषकर वह महिला, जो युवतियों के पीछे खड़ी थी और उस घर की गृहिणी-सी लगती थी) जल्द-से-जल्द मुक्त होने के लिए उत्सुक दिखाई देते थे, ताकि यह 'पाप' (अर्थात् मैं) उन लोगों के गले पड़ने के पहले ही वहाँ से अच्छी तरह टल जाय। मेरा हुलिया उन लोगों को निश्चय एक ऐसे मरणोन्मुख आवारे कुत्ते की तरह लग रहा होगा जिसके शरीर के सारे बाल एक घातक चर्म-रोग के कारण झड़ गए हों और जो हड्डियों और पसलियों के एक कुरूप ढाँचे के रूप में अवशेष रह जाने के कारण अत्यन्त घिनौना मालूम होने लगा हो। ऐसे घृणित कुत्ते की मौत अपने घर में हो, ऐसा कोई नहीं चाह सकता। इसलिए उसे जल्द-से-जल्द दुरदुराकर बाहर खदेड़ने में ही भलाई है। पर चूँकि झूठी मानवता के 'कान्शेन्स' को भी साफ रखना है, इसलिए चतुराई इसी में है कि उसे जल्दी से कुछ खिला-पिला दिया जाय और फिर उसके बाद उसे खदेड़कर एक ऐसी जगह छोड़ दिया जाय जहाँ से वह फिर दुबारा उस मकान में वापस न आ सके।

ठीक इसी तरह का व्यवहार, इसी दृष्टि से प्रेरित होकर, मेरे साथ किया जा रहा था। यह कँटीली सचाई जब अचानक मेरे आगे साफ होकर आई तब अपने खाये-पीये पर मुझे ऐसी ग्लानि होने लगी कि कहीं उल्टी न हो जाय, इस भय से मैं अपने पेट को सिकोड़े रहने का प्रयत्न पूरी शक्ति से करता रहा।

"अब चलो," उसी 'गमछा' धारी व्यक्ति ने मेरे पास आकर कहा, जिससे फाटक के भीतर प्रवेश करने पर सबसे पहले मेरी बातें हुई थीं।

मैं तत्काल तख्त से नीचे उतरा और उसके साथ हो लिया। जब हम लोग फाटक के बाहर चले आये तब सहसा मुझे याद आया कि 'कॉनफेशन्स ऑफ ए ठग' को तो मैं भूल ही गया। मैंने उस आदमी को बताया कि मैं जो एक किताब साथ में लाया था वह रह गई है। वह भीतर गया और कुछ ही देर में किताब हाथ में लेकर लौट आया। उससे किताब लेकर मैं निश्चिन्त हो गया और किसी भी

अनिश्चित और अनिर्दिष्ट स्थान की यात्रा के लिए इतमीनान से तैयार खड़ा रहा।

"कहाँ जाओगे ?" उस आदमी ने खीझ-भरे स्वर में मुझसे पूछा।

मैं स्वयं नहीं जानता था कि मुझे कहाँ जाना चाहिए। मैंने सही बात उसे बताई। इस बार सचमुच उसे आश्चर्य हुआ। बोला, "आखिर कहीं कोई ठिकाना तो होगा ही तुम्हारा !"

"कहीं नहीं," मैंने संक्षिप्त उत्तर दिया।

"तब ?"

"मैं इसी पार्क में पड़ा रहूँगा।"

"तब ठीक है।" फिर दूसरे ही क्षण कुछ सोचकर बोला, "लेकिन नहीं, तुम्हारा इस समय यहाँ पड़े रहना ठीक नहीं है। चलो किसी दूसरे पार्क में तुम्हें पहुँचा आवें।"

मैं मुस्करा दिया। उसका मनोभाव मेरे आगे शीशे की तरह साफ हो गया। उस मकान से प्रायः लगे हुए पार्क पर यदि मैं पड़ा रहूँ तो फिर कहीं लौटकर वहीं, उसी मकान में, न आ पहुँचूँ, इस आशंका से उसने अपना मन बदल दिया था। मुझे याद आया कि जब मैं हाई स्कूल में पढ़ता था तब जिस मकान में रहता था वहाँ चूहे बहुत थे। जब-जब चूहेदानी में कोई चूहा फँसता तब मकान-मालिक अपने नौकर को विशेष रूप से यह हिदायत देते थे कि उसे कहीं दूर जाकर फेंक आवे, ताकि चूहा फिर लौटकर उसी मकान में घुस न सके।

मैंने शान्त भाव से कहा, "चलो।"

"किस पार्क में चलोगे ?"

मैंने बिना कुछ सोचे ही कह दिया, "ईडन गार्डन्स।"

सामने से एक टैक्सी खाली जा रही थी। उस आदमी ने टैक्सी रुकवाई। हम दोनों उस पर बैठ गए। रास्ते-भर वह आदमी मुझसे एक शब्द भी न बोला। ईडन गार्डन्स के फाटक पर जब टैक्सी रुकी तब मैं उतर गया। वह आदमी बैठा ही रहा। उतरते ही मैंने परम प्रसन्न भाव से उसकी ओर हाथ जोड़ते हुए कहा, "अच्छा, नमस्ते ! फिर मिलेंगे—जल्दी ही।"

वह आदमी पहले तो स्तब्ध दृष्टि से मेरी ओर देखता रह गया, फिर उसकी आँखों में उत्कट हिंसक भाव छा गया। पर वह कुछ बोल न पाया और मैं फाटक के भीतर घुस गया।

फाटक के भीतर प्रवेश करते ही मेरी हँसी का फव्वारा एक बार उच्छ्वसित हो उठा। "फिर मिलेंगे ! हाः हाः हाः !" सोच-सोचकर मैं कुछ देर तक मन-ही-मन मूक अट्टहास करता रहा। पर सहसा न जाने कौन-सी अस्पष्ट स्मृति या अनुभूति मन में जाग उठी और मेरा जी अपने-आप, बिना किसी प्रकट कारण के, बहुत उदास और गम्भीर हो आया। वर्तमान के विशुद्ध आनन्द को भविष्य की अनिश्चित आशंका ने दबा दिया। काफी दूर तक चलने पर एक स्थान पर ताड़ के तीन-चार पेड़ एक-दूसरे से प्रायः सटे हुए-से खड़े थे। उनके नीचे एक बेंच रखा हुआ था, जो खाली पड़ा था। मैं जाकर उसी पर बैठ गया और 'कॉनफेशन्स आफ ए ठग' खोलकर पढ़ने लगा। पिछले दिन से मैं उस पुस्तक को इतमीनान से पढ़ने के लिए प्रतिक्षण—ज्ञात में या अज्ञात में—अत्यन्त उत्सुक हो रहा था। कोई अनजान और रहस्यमय आकर्षण मुझे बरबस उसकी ओर खींच रहा था। न जाने मेरे भीतर की कौन दबी हुई प्रवृत्ति उस अज्ञात ठग के प्रति मेरे भीतर तीव्र सहानुभूति जगा रही थी। सुबह मैंने उसके केवल दो-ही-चार पृष्ठ पढ़े थे। वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जमाने के किसी एक ठग की रामकहानी थी।

पढ़ते-पढ़ते मैं उसमें एकदम तल्लीन हो गया। जब प्रायः बीस-पच्चीस पृष्ठ पढ़कर समाप्त कर चुका तब दो युवक टहलते हुए ठीक मेरे बेंच के पास आकर खड़े हो गए और फिर धीरे से उसी बेंच पर आकर बैठ गए। मेरी बगलवाला युवक मेरी ओर झुका—सम्भवतः यह जानने के लिए कि मैं कौन-सी पुस्तक पढ़ रहा हूँ। जब उसने जान लिया कि पुस्तक क्या है तब मेरी ओर बड़े गौर से देखने लगा। मेरा ध्यान टूट चुका था और मैं पढ़ने का केवल बहाना करता हुआ कनखियों से उस युवक की हरकतें देख रहा था। सहसा वह अट्टहास कर उठा और अपने साथी से बोला, "चलो यहाँ से।" दोनों उठकर जब जाने लगे तब उसी युवक ने अपने साथी से कहा, "साला पाकेटमार है और अपने पेशे में और अधिक 'एक्सपर्ट' बनने के लिए 'कॉनफेशन्स ऑफ ए ठग' पढ़ रहा है।"

"ठीक ही कहता है," मैंने एक लम्बी साँस लेते हुए मन-ही-मन कहा। उसके बाद मेरा जी वहाँ नहीं लगा। पुस्तक बन्द करके मैं फव्वारे की ओर बढ़ा और

वहाँ से दाहिनी ओर मुड़कर एक दूसरे फाटक से बाहर निकल गया। मार्च का महीना था। धूप कुछ तेज अवश्य थी, पर अधिक नहीं। मेरे पाँव अपने-आप सीधे आउट्रम घाट की ओर बढ़े चले गए। मेरा कोई काम न ईडन गार्डेन्स में था, न घाट में। पर कहीं जाना था, इसलिए चला जा रहा था। जब घाट पर पहुँचा तो देखा कि यात्रियों को ले जानेका एक बहुत बडा जहाज जेटी पर लगा हुआ था। उसके ऊपर की गई सफेद रंग की पुताई मुझे बहुत आकर्षक लगी। उस पर सामने की ओर बड़े-बड़े अक्षरों में नाम लिखा हुआ था: 'लिबर्टी'। मैं एक छोटे से पुल से होकर, काठ की सीढ़ियों से उतरकर जेटी पर आ पहुँचा। दाईं ओर कुछ दूरी पर पुरानी नावों की एक लम्बी कतार लगी हुई थी जिन पर खलासी लोग या मछुवे रहते होंगे—ऐसा अनुमान मैंने लगाया। मैं अनमने भाव से उसी ओर चला गया। काफी दूर आगे मछुवे जाल डालकर मछली मार रहे ये। शायद उस दिन शुक्रवार था। उन नावों पर कुछ लोग दोपहर की नमाज पढ़ रहे थे, कुछ लोग खाना बना रहे थे। कहीं-कहीं नावों पर ही बच्चे खेल रहे थे और औरतें बुर्का ऊपर उठाकर और पीछे की ओर लटकाकर 'घर' का काम कर रही थीं। "कैसी सुखी हैं ये लोग!" मैंने मन-ही-मन सोचा, "इन लोगों को रहने के लिए कोई मकान भले ही न मिला हो, पर नाव में रहने की सुविधा तो प्राप्त है ही!"

मैं एक जगह खड़ा हो गया। जहाँ पर मैं खड़ा था उसके सामनेवाली नाव पर एक आदमी नमाज खतम करके नीचे बिछा हुआ मुसल्ला उठा रहा था। मैंने उसे पुकारते हुए कहा, "शेख, मैं आ सकता हूँ?"

उसने सिर ऊपर करके मेरी ओर देखा। देखते ही बड़े प्रेम से बोला, "आओ साईं, आओ।" मेरा हुलिया देखकर उसने बिना प्रश्न के ही मुझे जो 'साईं' समझ लिया उससे मैंने अच्छे कौतुक का अनुभव किया। मैं नीचे उतरकर उसकी नाव पर चढ़ गया।

"आओ साईं, बैठो", बड़ी ही शिष्टता, आन्तरिक प्रेम और आदर से उसने कहा और एक बोरा मेरी ओर बढ़ा दिया। मैं चप्पल नीचे उतारकर ऊपर बोरे पर बैठ गया।

"एक गिलास पानी पिलाओ शेख," मैंने कहा।

"खाली पानी कैसे पिओगे साईं, पहले रोटी खा लो।" और उसने मेरा

उत्तर सुनने की प्रतीक्षा किये बिना ही ऊपर से एक तख्ता उतारा और उसके नीचे से 'इनेमल' की हुई दो बड़ी-बड़ी तश्तरियाँ ऊपर निकालीं। उनमें से एक में बड़ी-बड़ी रोटियाँ रखी थीं और दूसरी में शोरवेदार मछली। दोनों तश्तरियों को मेरी ओर बढ़ाते हुए वह बोला, "लो साईं, खाओ।"

मैं बड़े संकोच में पड़ गया और अपने दुर्भाग्य पर दुखी हुआ। सुबह जो भोजन कर चुका था (जिसकी ग्लानि अभी तक मेरे मन में बनी थी) उसके कारण अब अधिक कुछ खा सकने की गुंजाइश मेरे पेट में नहीं रह गई थी। मैं सोचने लगा कि यदि सुबह भादुड़ी मोशाई के यहाँ न गया होता और दुर्घटना के चक्कर में न फँसा होता तो वहाँ ग्लानिकर भोजन करने का अवसर ही न आता और शेख के यहाँ प्रेम की रोटियाँ खाने का सुयोग मेरे लिए बहुत बड़े सौभाग्य का कारण सिद्ध होता।

मैंने कहा, "इस वक्त तो मेरा पेट भरा है शेख, फिर कभी तुम्हारे यहाँ आकर रोटी खाऊँगा।"

"एक रोटी तो खा लो, साईं। तुम मेरे मेहमान हो। मेहमान को बिना खिलाए मैं कैसे रोटी खा सकता हूँ?"

उसके आन्तरिक प्रेमपूर्ण आग्रह को अधिक न टाल सका। "अच्छा लाओ आधी रोटी। इतनी बड़ी रोटी पूरी न खा सकूँगा।"

"खूब खा सकोगे साईं, साथ खाने से सब-कुछ हजम हो जाता है। लो इसी में से तोड़कर खाओ। तुम भी खाओ, मैं भी खाता हूँ। अलग बरतन नहीं है।"

उसके आदेश का पालन करते हुए मैंने उसी तश्तरी में से एक टुकड़ा तोड़ा। शेख भी उसी रोटी में से तोड़कर और उस टुकड़े को दूसरी तश्तरी में रखी शोरवे-दार मछली में डुबोकर खाने लगा। उसकी देखा-देखी मैंने भी वैसा ही किया। आधी रोटी और एक-आध टुकड़ा मछली खा चुकने पर मैंने हाथ खींच लिया और 'शेख' को खाते चले जाने के लिए उत्साहित करता रहा। शेख ने जूठे ही हाथों से 'इनेमल' के गिलास में सुराही से पानी निकालकर मेरी ओर बढ़ा दिया और फिर खाने लगा। पानी पीकर मैंने गिलास धोकर रख दिया, हालाँकि यह जानता था कि शेख के दृष्टिकोण से उसे धोने की कोई जरूरत नहीं थी।

शेख जब खा रहा था तब मैंने उससे पूछा, "इधर किसी जहाज में कोई काम मुझे नहीं मिल सकेगा?"

शेख का हाथ रुक गया। कुछ आश्चर्य से मेरी ओर देखते हुए उसने कहा, "किस तरह का काम ?"

"जैसा भी काम मिल सके···"

"बोझा ढोने, इंजन में कोयला भरने या इसी तरह की मजदूरी का कोई दूसरा काम कोशिश करने पर मिल तो सकता है। पर···पर" और वह मेरे दुबले-पतले शरीर की बनावट और मुरझाए मुख की क्षीण अभिव्यक्ति पर गौर करने लगा।

" 'पर' क्या ?" मैंने पूछा।

"तुम बहुत कमजोर दीखते हो साईं," उसने सहज स्नेह-भरे स्वर में कहा। "तुमसे यह सब काम नहीं हो सकेगा।" कहते हुए उसने मछली के शोरबे में डुबोये हुए टुकड़े को मुँह में डाला।

"मैं रसोई के काम में मदद कर सकता हूँ," सोचकर अपने एक नये 'क्वालिफिकेशन' की सम्भावना पर मैंने जोर दिया।

"तब ठीक है," रोटी चबाते हुए वह बोला, "खिदिरपुर में एक खलासी मेरे पहचान का है। बड़े-बड़े जहाजवालों से उसकी जान-पहचान है। अगले इतवार को वह यहाँ आएगा। तब मैं तुम्हारे बारे में उससे बात करूँगा।"

"अच्छी बात है; मैं चार-पाँच दिन बाद तुमसे फिर मिलूँगा। तुम जैसा कहोगे वैसा करूँगा। इस वक्त जाता हूँ। तुम आराम से खाओ···"

"इतवार को तुम भी चले आना। उस दिन तीनों जने साथ ही खाना खाएँगे," शेख ने कहा।

"अच्छी बात है, मैं आऊँगा। खुश रहो, सलाम !" कहकर मैं नीचे उतरकर चप्पल पहनने लगा।

"सलाम भाई, जरूर आना।"

वहाँ से फिर मैं ऊपर चढ़ गया और जेटी पर जहाँ जहाज लगा था, फिर वहीं आ पहुँचा। एक बार ललचाई नजर से जहाज की ओर देखकर, फिर ईडन गार्डन्स की ओर लौट चलने के विचार से पुल पर चढ़ने लगा। पुल पर पहुँचते ही, न जाने किस प्रेरणा से, सहसा मेरा विचार बदला। किसी विदेशी जहाज को भीतर से देखने का अवसर मुझे कभी नहीं मिला था। इसलिए मेरे मन में प्रारम्भ

ही से रह-रहकर उस जहाज को देखने की तीव्र इच्छा जाग रही थी। अन्त में मैं रह न सका और फिर जेटी की ओर लौटा। पुल और जेटी के बीच में एक पुलिस कान्स्टेबल ड्यूटी पर तैनात था। वह प्रारम्भ ही से मुझको एक विशिष्ट दृष्टि से घूर रहा था। पर मैं उसकी ओर पूर्ण उपेक्षा का भाव जताता हुआ, अपने हाथ की किताब को सामने की ओर प्रदर्शित करता हुआ-सा आगे बढ़ गया।

जेटी से जहाज पर चढ़ने के लिए लोहे की सीढ़ी लगी थी। एक बार इधर-उधर देखकर, तनिक हिचक के साथ अन्त में मैं ऊपर चढ़ ही गया। डेक पर कोई आदमी नहीं दिखाई दिया। सम्भवतः अधिकांश यात्री तथा नाविक लोग शहर की सैर करने के लिए बाहर निकल गए थे। कुछ देर बाद नाविक की चिर-परिचित वर्दी पहने एक आदमी सीटी द्वारा किसी विदेशी गीत की धुन बजाता हुआ बाहर निकला और मेरी ओर सहज कुतूहल-भरी दृष्टि से देखता हुआ पश्चिम की ओर निकल गया। मेरा यह खयाल था कि वह मुझे टोकेगा, पर उसने ऐसा कुछ भी नहीं किया। मेरा साहस बढ़ा और मैं कुछ नीचे उतरकर एक गलियारे में घुस गया और बिना किसी लक्ष्य को सामने रखे, जिधर को भी रास्ता मिला उसी ओर पाँव बढ़ाता चला गया। चलते-चलते एक बहुत बड़े हॉल के पास पहुँच गया जहाँ फर्श पर दो हरे रंग के बहुत बड़े कालीन बिछे थे, बीच में सारी जगह खाली पड़ी हुई थी और चारों ओर छोटे-छोटे टेबुल लगे थे। प्रत्येक टेबुल के चारों तरफ चार आदमियों के बैठने के लिए कुरसियाँ लगी थीं। अनुमान से वह जहाज की नृत्य-शाला लगती थी। केवल दो टेबुलों पर दो विदेशी जोड़े बैठे हुए प्यालानुमा गिलासों में कुछ रंगीन तरल पदार्थ पान कर रहे थे। मुझे देखकर वे लोग वक्र दृष्टि से घूरने लगे। वहाँ से लौटकर मैं बाईं ओरवाले गलियारे से होता हुआ एक दूसरे कमरे में जा पहुँचा। वह कमरा भी काफी बड़ा था, पर पिछले कमरे से छोटा था। वहाँ शुभ्र, सफेद कपड़ों में ढकी हुई बड़ी-बड़ी लम्बी-लम्बी मेजें लगी हुई थीं। वह स्पष्ट ही डाइनिंग रूम था। वहाँ से जब लौटा तो उस पार एक दूसरा दरवाजा खुला देखा। वहाँ दबे पाँव घुसा और चुपचाप दरवाजे पर ही खड़ा रहा। दो बड़ी-बड़ी मेजों पर अँगरेजी के दैनिक और मासिक-पत्र सजाकर रखे हुए थे। दैनिक पत्रोंवाली मेज पर एक पुरुष, जो पोशाक-पहनावे और रंग-ढंग से अमरीकी लगता था, खड़े-खड़े एक पत्र खोलकर पढ़ रहा था और दूसरी मेज पर एक प्रायः पचीस-छब्बीस साल की युवती, जिसके

चेहरे के रंग की सफेदी के ऊपर स्वस्थ रक्त की स्वाभाविक ललाई झलक रही थी, एक सचित्र मासिक-पत्र खोलकर पढ़ रही थी या पढ़ने का बहाना कर रही थी। वह आधी बाहोंवाला गलकटा ब्लाउज पहने थी, जो शुभ्र श्वेत रेशम का-सा लगता था। उसके घुँघराले सुनहले बाल पंखे की हवा से मन्द-मन्द डुल रहे थे। उसके मुख पर निश्छल प्रसन्नता की सुस्पष्ट झलक विद्यमान थी। जो पुरुष खड़े-खड़े दैनिक पत्र पढ़ रहा था उसकी आयु भी प्रायः उतनी ही मालूम होती थी जितनी युवती की। वह भी काफी स्वस्थ और सुन्दर दिखलाई देता था। वह एक सफेद रंग की अमरीकी-कट कमीज और सफेद ही रंग का पैन्ट पहने था। उसकी गाढ़े नीले रंग की 'टाई' पर तिरछी और कुछ मोटी लाल धारियाँ पड़ी थीं। वह बीच-बीच में सामने प्रसन्न-मुद्रा में बैठी युवती की ओर कनखियों से देखता था। युवती भी स्पष्ट ही न देखने का रूपक रचती हुई भी सब-कुछ देख और समझ रही थी और बीच-बीच में कटाक्षों से युवक की ओर घूर भी लेती थी और फिर दूसरे ही क्षण आँखें फेरकर पढ़ने का बहाना बनाने लगती थी। कभी किसी क्षण दोनों की चार आँखें हो जातीं और तब उस एकान्त कमरे का सूना वातावरण दोनों के प्राणों की एक मिश्रित रासायनिक अनुभूति के पुलक-स्पन्दन से चञ्चल-सा हो उठता था। ईथर में तरंगित होती हुई-सी वह अत्यन्त सूक्ष्म और अस्पर्श्य अनुभूति, मेरे मनके किसी काल्पनिक या आनुमानिक प्रयास के बिना ही, सीधे मेरे प्राणों के अदृश्य और वायव्य तंतुओं तक को छू जाती थी, जब कि मैं केवल एक अज्ञात दर्शकमात्र था। यह स्पष्ट था कि दोनों पहले ही से परस्पर परिचित नहीं थे, बल्कि किसी दूर देश की यात्रा के दौरान में संयोग से ही—और सम्भवतः आज ही और जहाज के उस वाचनालय में ही—पहली बार एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने के लक्षणों की सूचना दे रहे थे।

दोनों अपनी भावानुभूति में इस कदर तन्मय थे कि मेरी उपस्थिति का ज्ञान अभी तक उनमें से एक को भी नहीं हुआ था। दोनों के उस एकान्तिक भाव-मिलन में अपनी उपस्थिति द्वारा तनिक भी विघ्न डालने की इच्छा नहीं होती थी। वह मूक दृश्य बहुत ही सुन्दर, सहज-सुखद और अनिर्वचनीय मधुरिमामय था। दो परस्पर-अपरिचित युवा-प्राणों के प्रथम संयोजन की जो रहस्यमयी क्रिया-प्रतिक्रिया एक अप्रत्याशित वातावरण में, आशा और आशंकाजनित उच्छ्वासों के बीच में, चल रही थी, उसका एकमात्र अदृश्य साक्षी समग्र विश्व में अकेला मैं ही

था। एक अपूर्व ही सुख मिल रहा था मुझे। अपने उस अलौकिक आनन्द की अनुभूति को ठीक से व्यक्त करने के लिए मुझे शब्द खोजे नहीं मिल रहे हैं। मानवीय भाषा के सीमित शब्दों का दैन्य ऐसे ही अवसरों पर अखरने लगता है। उस समय के लिए मैं अपने बुरी तरह दुरदुराये गए, तिरस्कृत और अपमानित जीवन के सारे विफल संघर्षों को एकदम भूल गया। कहाँ गई मेरी शारीरिक भूख और प्यास की वह जलन जो मेरे प्राणों को हर समय झुलसाए रहती थी? कहाँ गई कटु यथार्थ जीवन की वह कँटीली वेदना, जो प्रतिपल मेरे मर्म को निर्मम आघातों से छेदती और झकझोरती रहती थी? सारा स्थूल जीवन अपने घृणित और संकुचित स्वार्थों के नंगेपन के साथ उस क्षण के लिए एकदम लुप्त होकर जैसे शून्य में विलीन हो गया था और उसके स्थान पर वायु से भी हल्के माध्यम में प्रवाहित होनेवाला दिव्य पारिजातीय परिमल मेरी चेतना के आकाश में मन्द-मन्द संचरण से भासित होने लगा था।

मैं मानता हूँ कि प्रेम की चर्चा आज की भौतिक विषमता और कठोर जीवन-संघर्ष के युग में उपहास का विषय बन गई है। मनुष्य के अन्तर की यह चिर-नवीन और चिर-रहस्यमयी प्रवृत्ति अपने सहज काव्यात्मक रूप को दबाकर और छिपाकर स्थूल यथार्थ की जटिल परिस्थितियों के बीच में विविध विकृत रूपों में अपने को व्यक्त करके ही सन्तोष मान ले रही है। फिर भी, जब किन्हीं असाधारण परिस्थितियों में और विशेष वातावरण में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण की अनादि लीला बिना किसी कृत्रिम आवरण के सहज रूप में अभिव्यक्त हो उठती है तब आज भी उस क्षण के लिए, स्थूल चेतना के अवरुद्ध द्वार फट पड़ते हैं और सूक्ष्म चेतना के दबे हुए स्तर उघड़कर उस आदिम रहस्य को विशुद्ध, अकलुष और अनावृत रूप में सामने रखकर अन्तर में एक अलौकिक पुलक का समा बाँध देते हैं।

एक अत्यन्त साधारण-से दृश्य को लेकर मैं इस कदर काव्योद्गार कभी प्रकट न करता यदि उसका जादू मेरे तत्कालीन भूख-प्यास से नितान्त जर्जर और शारीरिक व मानसिक खिन्नता से ध्वस्त प्राणों पर चढ़कर न बोला होता। मेरे ऊपर उस जादू के चढ़ने का एक कारण सम्भवतः यह भी रहा होगा कि बहुत दिनों से मेरे प्राण सूने और सूखे पड़े हुए थे। किसी स्निग्ध, सरस और स्वस्थ मानवीय चेतना से उसमें हरियाली नहीं छाने पाई थी। आज अचानक ही उस

विजातीय वातावरण में दो स्वस्थ प्राणों के बीच बेतार की बिजली की सांकेतिक तरंगों का आदान-प्रदान देखकर एक अजीब-सी ताजगी और स्फूर्ति का अनुभव मुझे होने लगा।

मैं उन दोनों को नितान्त एकान्त में छोड़कर चुपचाप लौट चलने की बात सोच ही रहा था कि सहसा एक निश्छल कौतुकजनित दुष्टता का विचार न जाने कैसे और कहाँ से मेरे मन में जाग उठा। मैंने एक ऐसा नाटक रचने की ठानी जिससे दोनों के उस ऐकान्तिक मूक मिलन में क्षणिक विघ्न पड़ने पर भी मेरे माध्यम से दोनों के एक-दूसरे के और अधिक निकट सम्पर्क में आ सकने की सम्भावना बढ़ सके। इतना अनुमान तो मैं पहले ही लगा चुका था कि वे दोनों पहली बार प्राच्य देशों की यात्रा के लिए निकले हैं। अब दूसरा अनुमान मैंने यह लगाया कि भारत के नंगे-भूखे साधुओं और फकीरों के रहस्यात्मक, यौगिक और ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान के सम्बन्ध में सनसनीखेज भ्रामक बातों का जो प्रचार कई अमरीकी पुस्तकों द्वारा हुआ है उससे वे किसी-न-किसी हद तक अवश्य परिचित होंगे। इसलिए उस झूठी धारणा से लाभ क्यों न उठाया जाय? यह सोचकर मैंने एक ज्योतिषी का अभिनय करने और जानबूझकर टूटी-फूटी अंगरेजी में बात करने का निश्चय किया।

"गुड मार्निंग सर! गुड मार्निंग मैम!" सहसा दोनों का ध्यान भंग करते हुए मैंने कहा। क्षण-भर के लिए दोनों चकित और शंकित दृष्टि से मेरी ओर देखते रहे, पर दूसरे ही क्षण पहले धक्के से सँभलते ही मेरी 'गुड मार्निंग' का उत्तर देकर एक-दूसरे की ओर देखते हुए मन्द-मन्द मुस्कराने लगे। मैंने देखा कि मेरे माध्यम से दोनों के बीच के संकोच का पहला परदा हट गया।

"वान्ट टु कनसल्ट ऐन ऐस्ट्रोलाजर, मैम! आई सी सम वेरी लकी लाइन्स ऑन योर ब्यूटिफुल फेस।"

अब तो दोनों की उत्सुकता और विनोद की भावना भी—हद दरजे तक बढ़ गई। "ओह! सो यू आर ऐन ऐस्ट्रॉलॉजर। प्लीज डू रीड माइ पाम···"

"एण्ड फोरहैड ऑल्सो," उसकी बात की पूर्ति करते हुए, अपनी धाक और अधिक जमाने के उद्देश्य से मैंने कहा।

"ओ० के०," कहकर उसने अपना हाथ मेरी ओर बढ़ा दिया। 'मैं कॉन-फेशन्स ऑफ ए ठग' को मेज पर रखकर एक कुरसी खींचकर उसके बिलकुल

निकट बैठ गया। उसके बाद मैंने उसका दायाँ हाथ धीरे से अपने बाएँ हाथ की हथेली पर रखा। कुछ देर तक उसके हाथ की रेखाओं को बड़ी बारीकीसे देखने का स्वाँग रचने के बाद मैंने उसके मस्तक का निरीक्षण भी बड़े गौर से करना आरम्भ कर दिया। जैसे उसके भाग्य का लेखा आईने की तरह साफ पढ़ पा रहा होऊँ, ऐसी मुद्रा बनाई। उसके बाद अत्यन्त गम्भीर वाणी में मैंने उसे बताना आरम्भ किया कि सब-कुछ देख चुकने के बाद मैं किस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ।

मैंने कहा, "इसी यात्रा में तुम्हारे जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटने जा रही है, जो तुम्हारे आज तक के जीवन को एक बिल्कुल ही नया मोड़ देगी और तुम्हारे भावी जीवन पर भी वह घटना एक बहुत बड़ा प्रभाव छोड़ जायगी।" मैं देख रहा था और अनुभव कर रहा था कि दोनों आन्तरिक उत्सुकता से मेरे एक-एक शब्द पर ध्यान दे रहे थे। "तुम्हारा स्वभाव बहुत ही निश्छल है," मैं कहता चला गया, "और अपनी इस निश्छलता के कारण अनेक बार तुम्हारे परम आत्मीय—मित्र या निकट के सम्बन्धी—भी तुम्हें ठीक से समझने में भूल कर जाते हैं, पर स्वयं तुम दूसरों के प्रति बड़ा उदार भाव रखती हो। तुम्हारे अन्तर में कोई ऐसी गोपन और सुकुमार कामना छिपी है, जिसे तुम सौ-सौ परदों से ढके रहना चाहती हो। इसका कारण यह है कि तुम्हारे स्वभाव में एक ऐसी सहज शालीनता वर्तमान है, जो तुम्हें अपने भीतर की भावनाओं के सम्बन्ध में मुखर नहीं होने देती। पर बहुत शीघ्र तुम्हारे जीवन के प्रांगण में एक ऐसे व्यक्ति का आविर्भाव होनेवाला है जिसके आगे अपने अन्तर के परदों को उघाड़े बिना तुम रह ही नहीं पाओगी, जिसे तुम अपनी सभी सुकुमार अनुभूतियों—मार्मिक दुखों और हार्दिक सुखों—का साझीदार बनाना चाहोगी। किसी एक स्थान या एक ही वातावरण की बद्धता में बँधे रहना तुम्हारे स्वभाव के अनुकूल नहीं है। दूर-दूर देशों में भ्रमण करना, नई-नई परिस्थितियों, नये-नये देशों और नये-नये समाज के बीच में नये-नये अनुभव प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा तुम्हारे मन में बराबर रहती है..."

इस ढंग से और इस लहजे में मैंने उसे उसके 'भाग्य' या 'जीवन'-सम्बन्धी बातें बताईं जिससे मैं किसी तरह भी पकड़ में नहीं आ सकता था। उसके 'वर्तमान' के सम्बन्ध में मैंने जो बातें बताईं वे ऐसी थीं जिन्हें कोई भी व्यक्ति अपने सम्बन्ध में सही मानने को तैयार रहता है, क्योंकि वे सामूहिक मानव-मन की सहज

अनुभूतियाँ हैं और उसके 'भविष्य' के सम्बन्ध में मैंने जो-कुछ कहा था उसका निर्णय चूँकि अभी नहीं हो सकता था इसलिए इस मामले में भी मैं सुरक्षित था।

युवती की उत्सुकता स्पष्ट ही अभी पूरी नहीं हुई थी। वह अपने सम्बन्ध में और भी कई बातें जानना चाहती थी, उसके मुख के भाव से ऐसा लगा। वह सम्भवतः यह चाहती थी कि मैं अपने-आप कुछ-न-कुछ बताता जाऊँ और स्वयं उसे कोई प्रश्न न करना पड़े। पर मैं स्वयं टालना चाहता था, इसलिए चुप हो गया। मुझे चुप देखकर उसने स्वयं ही पूछा, "तुमने जो अभी यह बताया कि इसी यात्रा में मेरे जीवन में एक ऐसी घटना घटने जा रही है जिसका बहुत बड़ा प्रभाव मेरे भावी जीवन पर पड़ेगा, उसके सम्बन्ध में मैं और अधिक स्पष्ट शब्दों में जानना चाहती हूँ," कनखियों से युवक की ओर देखते हुए युवती ने कहा।

मैं असमंजस में पड़ गया। साफ-साफ शब्दों में बात बताने में मुझे कुछ झिझक और संकोच का अनुभव हो रहा था। फिर मैंने सोचा कि देश-विदेश की यात्रा—सम्भवतः एकाकी—करनेवाली इस विदेशी महिला के आगे भारतीय संस्कारजनित निरर्थक संकोच करना मूर्खता है, इसलिए अपनी बात को साफ करते हुए मैंने कहा, "इसी यात्रा में तुम्हारे विवाह की बात तय हो जानी चाहिए।"

सुनते ही संकोच, उल्लास और विनोद के मिश्रित भाव से उसकी प्रफुल्ल आँखें चमक उठीं और साथ ही उसके चेहरे पर एक अजीब-सा रंग चढ़ गया, जिससे वह पहले से भी अधिक सुन्दर दिखाई देने लगी।

कुछ क्षणों तक वह मेरी ओर देखती रह गई, जैसे यह जानने का प्रयत्न कर रही हो कि मेरी बात पर किस हद तक विश्वास किया जा सकता है। उसके बाद सहसा बोल उठी, "तुमने बड़े ही मजे की ('फनी') बात बताई, इसमें सन्देह नहीं।"

" 'फनी' नहीं, मेम, यह बात बजू सत्य सिद्ध होकर रहेगी, आप देख लीजियेगा। मैंने रेखाओं का बारीक अध्ययन करने के बाद यह बात आपको बताई है। और देखिए, जिस दिन मेरी यह भविष्यवाणी सफल हो उस दिन मुझे भूल न जाइएगा। मुझे अवश्य सूचित कीजिएगा।" अन्तिम बात मैंने केवल इस धूर्तता-भरे उद्देश्य से कही कि उसके मन पर मेरी बात का प्रभाव और अधिक गहरे रूप में पड़े। पर कहते ही मैंने दाँतों से अपनी जीभ काटी कि क्या मूर्खता कर गया।

"ओ० के०", इस बार अधिक विश्वसित होकर उसने कहा। "तुम्हारा नाम और पता क्या है ? मुझे बता दो, मैं 'नोट' कर लेती हूँ।" यह कहकर उसने मेज पर रखा हुआ अपना आधे पीले और आधे हरे रंग का पर्स खोला और उसमें से एक बहुत ही छोटा और बहुत ही पतला नोट-बुक निकाला, जो बढ़िया मोरक्को लेदर से बँधा था। उसके बाद वह शायद अपनी कलम भी उसी पर्स में खोजने लगी। उसमें जब कलम नहीं मिली तब उसने सामने युवक की ओर देखा, जिसकी आँखें उस समय से एकटक उसकी ओर लगी थीं जब से मेरी बातें उस युवती से हो रही थीं। उसके कमीज की जेब में कलम लटक रही थी।

"कृपया एक मिनट के लिए···"

वह अपना वाक्य पूरा भी न कर पाई थी कि युवक ने उसका आशय समझकर, 'बड़ी खुशी से' कहकर, तत्काल अपनी कलम निकाली और उसकी ओर बढ़ा दी। फिर एक बार दोनों की चार आँखें हुईं। 'धन्यवाद', कहकर युवती ने कलम उसके हाथ से लेते हुए एक सहज कटाक्ष की मोहिनी उस पर डाली। शायद यह पहला ही सम्भाषण उन दोनों के बीच हुआ था, और उसका माध्यम संयोग से मैं ही बना था। निश्चय ही वे दोनों मन-ही-मन मेरे प्रति कृतज्ञता का अनुभव कर रहे होंगे, यह सोचकर मैं पुलकित हो उठा।

"हाँ, तो मिस्टर एस्ट्रॉलॉजर, बताइए अपना नाम और पता", नोट-बुक पर लिखने की तैयारी करते हुए युवती ने कहा।

मैंने देखा कि मैंने अपने को बुरा फँसा लिया है। मेरा नाम और फिर पता! ज्योंही मेरे मुँह से असावधानी के क्षण में यह बात निकल गई थी कि 'मुझे अवश्य सूचित कीजिएगा', त्योंही मैं सँभलना चाहता था, पर तीर छूट चुका था। पर जिस आनन्द के 'मूड' में मैं उस समय था उसमें सारे नाटक को अन्त तक निभाये लिए जाने में मुझे कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ सकती थी। तत्काल एक नई शरारत मुझे सूझ गई। मैंने निःसंकोच भाव से कहा, "लिखो—बी० ज्योतिषी, केयर-आफ श्री खगेन्द्रमोहन भादुड़ी एम० एल० ए०, लोअर सर्कुलर रोड, कलकत्ता।"

'बी०' से मेरा गुप्त तात्पर्य 'भविष्यवक्ता' भी था और 'ब्लफिस्ट' भी। जो भी हो, उस युवती ने पता नोट कर लिया और धन्यवाद देते हुए पूछा, "तुम्हारी फीस क्या है ?"

इस अप्रत्याशित लाभ की कोई कल्पना इसके पूर्व मैंने नहीं की थी। मैं तो केवल मजा लेने के लिए यह सब खेल खेल रहा था। मैंने कहा, "मैं फीस तय करने की बात गाहक की इच्छा पर छोड़ दिया करता हूँ। आप अपने सन्तोष के अनुसार जितना उचित समझें दे दें।"

वह कुछ क्षण तक मेरी ओर देखती हुई सोचती रही। उसके बाद उसने पर्स खोलकर दस दस के तीन नये और बिना मुड़े हुए नोट निकालकर मेरी ओर बढ़ा दिये। उसे आन्तरिक धन्यवाद देते हुए मैंने उन्हें ग्रहण कर लिया।

तत्काल किसी अज्ञात कारण से अनमना-सा होकर मैं लौटने ही जा रहा था कि सहसा सामने खड़ा युवक बड़ी शालीनता से मुस्कराता हुआ बोल उठा, "वेल, मिस्टर ऐस्ट्रॉलॉजर, क्या मेरा भाग्य देखने की कृपा नहीं करोगे?"

"ओह, माफ करना, मैं तो भूल ही गया था। लाओ, मैं बड़े शौक से देखना चाहूँगा तुम्हारा हाथ," कहकर मैं उसके निकट चला गया। वह खड़ा ही रहा और मैंने भी खड़े-खड़े उसका हाथ देखना आरम्भ कर दिया। उसके हाथ और कपाल की रेखाएँ कुछ देर तक बड़े गौर से देखने का नाटक रचकर मैंने कुछ देर के लिए ऐसा भाव जताया जैसे मैं किसी गम्भीर सोच में पड़ गया होऊँ। उसके बाद बड़े आश्चर्य के साथ बोला, "यह तो बड़ा ही विचित्र 'कोइन्सिडेन्स' है। ये रेखाएँ भी ठीक वैसी ही भविष्यवाणी कर रही हैं जैसी यहाँ उपस्थित महिला के सम्बन्ध में मैंने अभी की है।"

"अपनी बात तनिक और साफ करो," युवक ने कहा।

"मैं यह कहना चाहता हूँ कि इन रेखाओं के अनुसार तुम्हारे जीवन में भी इसी यात्रा के दौरान में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना घटनी चाहिए।"

"किस ढंग की?" स्पष्ट ही सब-कुछ समझते हुए युवक ने कौतुक और कुतूहलवश कहा।

"यही कि तुम्हारा विवाह भी इसी यात्रा के बीच में तय हो जाना चाहिए।"

"नान्सेन्स!" कहते हुए युवक हँस उठा और ऐसा कहते हुए युवती की ओर देखता रहा।

"मैं भी मानता हूँ कि यह बात है बड़ी विचित्र," उसी की तरह हँसते हुए मैंने कहा, "पर यदि ज्योतिष-शास्त्र झूठा नहीं है तो जैसा मैंने कहा है वैसा ही होना चाहिए।"

उसके बाद मैंने उसके स्वभाव, रुचि और मानसिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में कुछ इस तरह के मन्तव्य प्रकट किये जो साधारणतः उसकी उम्र के सभी युवकों के लिए उपयुक्त बैठ सकते थे। साथ ही उसके ऊपरी व्यक्तित्व से उसके भीतरी स्वभाव की जो व्यक्तिगत विशेषता मेरी समझ में आ सकती थी उससे भी मैंने लाभ उठाया। अन्त में उसने भी दस-दस के दो वैसे ही नये और अनमुड़े नोट मुझे दिये।

पाँचों नोटों को 'कानफेशन्स ऑफ ए ठग' के भीतर रखकर, दोनों को धन्य-वाद देकर मैं वहाँ से चलता बना। उसके बाद मैंने कुछ दूर आगे चलकर बाईं ओर मुड़कर एक स्थान पर नीचे को जानेवाला रास्ता खुला देखा। सीढ़ियों से होकर नीचे उतरकर मैंने जहाज की बीचवाली 'मंजिल' का निरीक्षण किया और विभिन्न यात्रियों के 'केबिनों' का दृश्य बाहर ही से देखा। वहाँ से फिर और नीचे जाकर रसोई-घर देखा, जहाँ कुछ हब्शी, कुछ हिन्दुस्तानी और कुछ गोरे रसोइए अपने-अपने कामों पर जुटे हुए थे। रसद और मद्य-सम्बन्धी भण्डार भी देखे। वहाँ से फिर मैं 'इंजन-गृह' में गया। वहाँ कोयला जलाने और पानी देने के सारे प्रबन्ध से परिचित होकर, सीढ़ियों के कई दर पार करके एकदम ऊपर उस स्थान पर चढ़ गया जहाँ कप्तान रहता था। मैं असल में कप्तान से ही मिलना चाहता था। यह इच्छा मेरे मन में बलवती होती चली जा रही थी कि यदि वह मेरे सामर्थ्य की सीमा के भीतर कोई भी काम मुझे दे दे तो मैं भूमि के उन निवासियों और अधि-कारियों को सदा के लिए प्रणाम कर लेता, जो भूमि का एक कण भी मुझे रात में मुँह छिपाने के लिए नहीं देना चाहते थे। तब मैं सदा जल ही में तैरते रहने-वाले जहाज को अपना आश्रय बनाकर जीवन के एक नये ही पहलू का अनुभव प्राप्त करने की सुविधा पा जाता। दुर्भाग्य से कप्तान उस समय वहाँ नहीं था और मेरी जैसी चञ्चल मानसिक अवस्था उस समय थी उसमें किसी के लिए प्रतीक्षा करके बैठे रहना सम्भव नहीं था—विशेषकर उस हालत में जब कोई निश्चित आशा न हो कि काम हो ही जायगा। इसलिए मैं उसी क्षण उतरकर फिर नीचे चला आया और उसी डेक पर पहुँचा जहाँ सबसे पहले पहुँचा था। अनमने भाव से जहाज से उतरकर फिर ईडन गार्डेन्स लौट चलने का विचार कर ही रहा था कि सहसा एक अजीब-सी बचकानी उत्सुकता मेरे मन में जागी। इच्छा हुई कि अमरीकी यात्रियों के पहले दर्जे के 'केबिन' कैसे होते हैं, उसकी ठीक-ठीक जान-

कारी प्राप्त की जाय और उनकी भीतरी सजावट देखी जाय। अभी तक मैंने केवल बाहर से ही देखा था। इसलिए मैंने फिर ऊपरी मंजिल के उस गलियारे में प्रवेश किया जहाँ पहले दरजे के यात्रियों के 'केबिन' थे। दो-तीन 'केबिन' पार करते ही एक अधखुला 'केबिन' मुझे दिखाई दिया। अपना बचकाना कुतूहल किसी तरह भी न दबा सकने के कारण मैंने धीरे से दरवाजा खोला। देखा, भीतर कोई भी नहीं था। न उस समय गलियारे में ही कोई टोकनेवाला आदमी उपस्थित था। मैं भीतर घुस गया। कमरे की ठाठदार व्यवस्था देखने में मैं तल्लीन ही था कि सहसा पीछे से किसी ने मेरे कन्धे पर हाथ रखा। चौंककर और घबराकर मैं जो पीछे की ओर मुड़ा तो सफेद रंग का कोट और उसी रंग की कमीज और पैण्ट पहने, मुच्छविहीन होने पर भी हिटलर की तरह दिखाई देनेवाले एक अधेड़ उम्रवाले गोरे को देखा।

"कहो मिस्टर, क्या हाल है?" कटु व्यंग्य-भरी भयावनी दृष्टि से मुझे घूरते हुए उसने ठेठ विलायती अँगरेजी में कहा। क्षण-भर रुककर बोला, "देखूँ यह कौन-सी किताब तुम्हारे हाथ में है।" यह कहकर उसने किताब मुझसे छीन ली। पुस्तक का कवर खोलकर मुखपृष्ठ पर उसका शीर्षक पढ़ते ही वह कुछ अजीब-सी तीखी आवाज में, रुक-रुककर, एक-एक शब्द को व्यंग्य का परिपूर्ण पुट देता हुआ बोला, "तो यह बात है, मिस्टर थग! अब समझा कि यहाँ किसलिए तुम्हारा आना हुआ। 'कनफेस' करो मिस्टर थग, कि तुम उन शिक्षित चोरों या डाकुओं के गिरोह के आदमी हो, जिनकी बहुत चर्चा आजकल 'इण्डियन पेपर्स' में रहती है।"

मेरी तो जैसे रूह ही क्षण-काल के लिए काँप उठी। वह काँपना केवल मेरे संस्कार का था, मेरी बुद्धि का नहीं। " 'थग' शब्द का अर्थ यह धूर्त खूब अच्छी तरह समझता है," मैंने मन-ही-मन कहा। उसने दुबारा पुस्तक खोली और स्वभावतः पुस्तक ठीक ऐसे स्थान पर खुली जहाँ मैंने नोट रखे थे।

"हुम्! अच्छी-खासी रकम प्राप्त कर ली है! और क्या-क्या माल मारा है, बताते क्यों नहीं, चुप क्यों हो?"

मैंने कहा, "मैं यहाँ केवल देखने आया था···"

"वह मैं सब समझता हूँ। अब चलो, पुलिसवाला पास ही है।" कहकर वह मेरा हाथ खींचकर बाहर ले आया। मुझे पुलिसवाले का कोई डर नहीं था,

पर किसी विदेशी से इस तरह के व्यवहार की आशा मैंने नहीं की थी। मैं सोचता था कि पाश्चात्य देशवासियों में चाहे और कैसी ही बुराइयाँ क्यों न हों, पर सभ्यता और शिष्टता की उनमें कमी नहीं रहती। मेरे इस विश्वास पर काफी चोट पहुँची थी, इसलिए मैंने सोचा कि पुलिस के हाथ में पड़ने के पूर्व इस शख्स को दो-एक खरी-खरी बातें सुना देनी चाहिए।

मैंने कहा, "मुझे यह जानकर अफसोस हुआ कि यही तुम पाश्चात्य देशवासियों की बहु-प्रचारित 'लिबर्टी' है, जिसके आदर्श पर इस जहाज का नामकरण भी किया गया है। क्या आज तुम लोगों की भावनाएँ सचमुच इस कदर संकुचित हो गयी हैं कि तुम लोग किसी सहज कुतूहल से प्रेरित व्यक्ति को जहाज में स्वच्छन्द विचरण की सुविधा भी नहीं देना चाहते? किसी मनुष्य की ईमानदारी पर तुम इतना भी विश्वास नहीं करना चाहते कि वह केवल एक कुतूहली दर्शक की हैसियत से भी किसी जहाजी यात्री के कमरे में प्रवेश कर सकता है? या तुम यह समझते हो कि सभी हिन्दुस्तानी ठग या चोर होते हैं और सभी पाश्चात्य देशवासी महान् आदर्शवादी और सच्चरित्र? अपने सम्पन्न देश के महादम्भ का अणुबम फुलाकर तुम लोग हम प्राच्य देशवासियों को तिनकों या कीड़ों की तरह देखने लगे हो, पर एक दिन तुम्हें पछताना पड़ेगा..."

"मैं तुम्हारा रंग-ढंग देखते ही समझ गया था कि तुम कम्युनिस्ट हो और यदि चोरी करने के लिए नहीं तो अवश्य ही जासूसी के लिए मेरे कमरे में घुसे हो। चलो सीधे!" और वह क्रुद्ध होकर पहले से भी ज्यादा जोर से मेरा हाथ खींचता और झटकता हुआ मुझे सीढ़ियों के नीचे, जेटी पर ले गया। पुल के नीचे जो कान्स्टेबल बैठा था उसे मुझे सौंपते हुए टूटी-फूटी हिन्दी में वह बोला, "ए चोड़ है—हमड़े केबिन में गूसा था। कोटवाली ले जाओ।" मुझे आश्चर्य हुआ कि वह उतनी भी हिन्दी कैसे बोल गया। स्पष्ट ही भारत में रह चुका होगा, या यहीं व्यापार करता होगा और इस जहाज से या तो अपने देश को या व्यापार के लिए किसी दूसरी जगह जाता होगा।

अन्धे को क्या चाहिए? दो आँखें! पुलिसवाले को क्या चाहिए? कोई आसामी! उसने इस तरह ललककर मेरा हाथ पकड़ा जैसे किसी मछली पकड़नेवाले की वंशी के काँटे में बड़ी प्रतीक्षा के बाद कोई मछली फँसी हो। गोरा मेरी किताब लेकर अनमने भाव से वापस चलने ही को था कि सहसा लौटा और

किताब पुलिसवाले के हाथ में सौंपता हुआ बोला, "इसे कोर्ट में 'एग्जिबिट' के लिए देना।" कान्स्टेबल ने भी ले लिया और फिर मेरा हाथ पकड़कर पुल के ऊपर ले जाते हुए धीरे-से मेरे कान में बोला, "माल-टाल जो छिपाए हो चुपचाप मेरे हवाले कर दो, नहीं तो थाने में मार पड़ेगी।"

मैंने कोई उत्तर ही नहीं दिया, जैसे कुछ सुना ही न हो। पर वह छोड़ने वाला नहीं था, बार-बार पूछता ही रहा। अन्त में तंग आकर मैंने कह दिया कि मेरी जेब में दस आने पैसे हैं, इससे अधिक एक पैसा भी मेरे पास नहीं है, चाहे जेब टटोलकर देख ली जाय। उसने सचमुच मेरी दोनों जेबें टटोलीं। दस आने से एक पैसा भी ज्यादा न निकलने पर वह झल्लाया। "अभी तुम्हारी टेंट देखी जायगी थाने में," कहकर मुझे धमकी देता हुआ वह मुझे पकड़कर तेज कदमों से आगे बढ़ता गया। एक सड़क पर आकर, कुछ दूर चलकर, वह एक 'बस-स्टैण्ड' के पास खड़ा हो गया। काफी देर बाद 'बस' आई। भाग्य से उसमें दो आदमियों के लिए जगह निकल आई। मेरा हाथ पकड़े कान्स्टेबल भीतर घुसा। हम दोनों दरवाजे के पास ही खड़े रहे।

थाने के पास जब 'बस' रुकी तब हम दोनों उतर गए। कान्स्टेबल मुझे थाने के फाटक के भीतर ले गया। वहाँ से पूरब की ओर मुड़कर फिर उत्तर को बढ़ा और कुछ दूर आगे चलकर एक छोटे-से कमरे के भीतर ले गया। वहाँ साधारण कान्स्टेबल से कुछ अच्छे नमूने की वरदी पहने एक प्रायः चालीस साल का मुच्छाड़िया बैठा था। मेरा कान्स्टेबल बोला, "यह लीजिए दीवानजी, यह जहाजी असामी है, पर मुर्गीवाले की पाकिट में छेद है।"

"यह कोतवाली भाषा पहले से न जानने पर भी आशय समझने में मुझे देर न लगी। पर मैं सिर नीचा किये चुप रहा।

"क्यों बे," दीवान ने मुझे सम्बोधित करते हुए कहा, "बड़ा अंटीबाज मालूम होता है! अभी भुलाता हूँ सारा अलसेटपना। चल भीतर।" और वह मेरा हाथ खींचकर भीतर एक दूसरे कमरे में ले गया, जो अत्यन्त अन्धकारमय था। कहीं से प्रकाश के प्रवेश कर सकने के लिए कोई रास्ता ही नहीं खुला था। पहलेवाला कान्स्टेबल भी धीरे से पीछे-पीछे चला आया।

"हाँ, तो अब बताओ कि क्या मामला है," दीवान ने स्पष्ट ही कान्स्टेबल को सम्बोधित करते हुए कहा।

"किस्सा यह है कि यह जहाज में एक अँग्रेज मुसाफिर के कमरे में घुसकर चोरी कर रहा था। वह इसे पकड़ कर मुझे सौंप गया। रास्ते में मैंने इससे पूछा कि कितना पैसा है। इसने कहा जेब टटोल लो। मैंने जेब टटोली तो कुल दस आने पैसे निकले जो ये हैं।"

"लाओ", कहकर दीवान ने उतना पैसा भी उससे ले लिया और अपनी जेब में डाल लिया।

"हाँ, तो आसामी साहब, अब बताइए कि माल कहाँ रखा है? नहीं तो यह लाल-लाल कोड़ा रखा है", कहकर उसने कहीं से एक कोड़ा निकालकर मेरे सामने किया।

"अगर तुम्हें यकीन नहीं है, तो जेब टटोल लो।"

"अबे, जेबवाला आया कहीं का" व्यंग्य-भरी गुर्राहट के साथ वह बोला, "अण्टी खोलता है कि नहीं।"

"अण्टी में कुछ नहीं है," मैंने बड़े निश्चित स्वर में, बिना तनिक भी घबराहट के कहा। घबराहट मुझे इसलिए नहीं थी कि आज बहुत दिनों के बाद रात में एक 'पक्का बसेरा' मिल जाने की आशा मुझे बल दे रही थी।

"हूँ!" दाँतों को प्रायः पीसता हुआ 'दीवान' बोला। "तो यह बात है! अच्छा देखता हूँ। लो इसकी अच्छी तरह से तलाशी।"

अन्तिम वाक्य उसने स्पष्ट ही पहलेवाले कान्स्टेबल से कहा। कान्स्टेबल ने मेरी दुर्गति में कुछ भी बात न रखी और मेरी तलाशी ली। जब अच्छी तरह देखने, टटोलने के बाद भी कुछ न मिला तब 'दीवान' बोला, मुँह "खोलो।" और एक दियासलाई जलाई। मैंने कोई हानि न समझकर मुँह भी खोल दिया। बोला, "जीभ ऊपर करो।" मैंने वैसा ही किया। उसने फिर दियासलाई जलाई और जीभ के नीचे, होठ और जबड़े के बीच, गले के भीतर, सब स्थानों का निरीक्षण किया, स्पष्ट ही इस सन्देह से कि मैंने मुँह के भीतर किसी स्थान में कोई एक स्थायी छिद्र न बना रखा हो, जहाँ रुपया-पैसा छिपाया जा सके। निराश होकर उसने बहुत झल्लाकर मुझे पीछे की ओर धकेल दिया। मैं गिरते-गिरते बचा। उसके बाद उसने कांस्टेबल से कहा, "चलो, रपट लिखवाकर कमीने को हवालात ले चलो।"

वहाँ से हम लोग एक दूसरे कमरे में गये जहाँ तीन-चार मुहर्रिर या क्लर्क

बैठे थे। वहाँ कान्स्टेबल ने 'रपट' लिखवाई। मेरा नाम पूछा गया तो मैंने बताया—भगत।

"भगत क्या?" मुहर्रिर ने पूछा,

"बस भगत, और क्या!" मैंने कहा।

"अरे, भगत तेली या भगत मोची, नाई, धोबी—क्या हो तुम?"

"भगत तो बस भगत ही होता है," मैंने कृत्रिम शान्त भाव से उत्तर दिया।

"बड़ा घुटा और घिसा हुआ है," दीवान बोला।

"जाओ ले जाओ इसे," रिपोर्ट लेखक बोला।

दीवान और कान्स्टेबल के साथ मैं बाहर निकला। पश्चिम की ओर कुछ दूर आगे तक चलकर पिछवाड़े से होकर हम लोग एक लाल इमारत के भीतर घुसे, जिसका लोहे की छड़ोंवाला दरवाजा आधा खुला था। पहले मोटर गराज की तरह एक बड़ा-सा कमरा मिला। वहाँ से दाईं ओर दो-तीन सीढ़ियोंके ऊपर एक दरवाजा था। उसके भीतर मुझे ले जाया गया। वहाँ से बाईं ओर लोहे के बड़े-बड़े सीखचों की एक दीवार के बीच में उसी तरह के सीखचोंवाला एक दरवाजा दिखाई दिया, जो बाहर से बन्द था। एक संतरी संगीन-जुड़ी बन्दूक लिये वहाँ पहरा दे रहा था। 'दीवान' को देखते ही संतरी ने मिलिटरी ढंग से कवायद के साथ बाकायदा सलाम किया और फिर दरवाजा खोल दिया।

हम तीनों भीतर घुसे। बहुत बड़ा पिंजड़ानुमा एक कमरा था। सामने, दक्षिण की ओर सीखचों के उस पार एक बड़ी-सी लाल इमारत दिखाई देती थी जो उसी अहाते के अन्दर थी। दोनों के बीच में एक छोटी-सी गली थी। कई आदमी वहाँ बन्द थे। सब दुखी, उदास और चुपचाप बैठे हुए थे। उनमें बुड्ढे भी थे और जवान भी। दो-चार पन्द्रह-सोलह साल के लड़के भी दिखाई देते थे। दाईं ओर लोहे की छड़ोंवाले दरवाजे के उस पार एक दूसरे कमरे में कई स्त्रियाँ बैठी थीं। स्त्रियाँ अधिकतर अधेड़ उम्र की थीं। केवल एक ही स्त्री ऐसी थी जो कुछ जवान दिखाई देती थी। वह काले रंग की एक बहुत ही मैली और स्थान-स्थान पर फटी धोती पहने थी। उसके धूल और चीकर-से मैले बाल खुले सिर के ऊपर बिखरे पड़े थे। उसके ओठ टेढ़े, नाक पकौड़ी की तरह उभरी हुई, दाँत बाहरको निकले हुए और गाल पिचके हुए थे। कुछ टेढ़ी-सी आँखें एक ऐसी विचित्र मुस्कान से चमक रही थीं कि देखकर दिल दहल उठता था। जो और स्त्रियाँ

उस पारवाले कमरे में दिखाई देती थीं उनमें से एक तो फर्श पर ही लेट गई थी, दूसरी ने अपने सिर के बालों को खोलकर इस तरह फैला रखा था कि उसका मुँह ही एकदम ढक गया था। वह सिर नीचा किये, दोनों घुटनों पर कुहनियों को टिकाकर, दोनों हाथों की उँगलियों को एक-दूसरे में फँसाकर इस तरह निश्चल बैठी थी कि लगता था जैसे किसी मूर्तिकार ने कोई सजीव मूर्ति गढ़कर अभी-अभी स्थापित की हो। एक तीसरी औरत दीवार के सहारे बैठी थी। उसने अपने पाँव फर्श पर पसार दिये थे। उम्र में वह वहाँ उपस्थित सभी स्त्रियों में बड़ी—प्रायः साठ साल की—लगती थी। उसके भी बाल बिखरे थे। चीमड़ मुख पर सैकड़ों झुर्रियाँ पड़ी थीं। दाँत अधिकांश टूटे हुए-से लगते थे। वह जबड़ों से कोई चीज चबा रही थी, या यों ही उन्हें चला रही थी।

जिस कमरे में मुझे लाया गया वहाँ सामने दक्षिण की ओर की दीवार के सहारे एक आदमी, जो नीले रंग का मैला-सा कुरता और उससे भी मैली चौखाने-दार लुंगी पहने था और जिसकी खिचड़ी-सी दाढ़ी घास की तरह उगी हुई थी, बड़ी ही गम्भीर दृष्टि से एक बार मेरी ओर देखता था, एक बार 'दीवान' और कान्स्टेबल की ओर। एक साठ-पैंसठ साल का बुड्ढा एक मैली पगड़ी पहने, मैला चदरा ओढ़े और घुटनों तक की मैली धोती बाँधे फर्श पर लेटा हुआ था। 'दीवान' और कान्स्टेबल को देखते ही वह भयभीत होकर हड़बड़ाता हुआ उठ बैठा और स्पष्ट शब्दों में "हाय राम, अभी और क्या-क्या होनेवाला है," कहकर कराह-सा उठा। एक जवान छोकरा पुरानी हल्दी के ऊपरी छिलके के-से रंग की अधबँहियाँ कमीज पहने था, जिस पर तीन-चार जगह काले धब्बे-से पड़े थे और एक भी बटन शेष नहीं रह गया था। वह मेरी ओर देखकर अत्यन्त आनन्द-भरी दृष्टि से मुस्कराता हुआ अपनी चंचल पुतलियों को बड़ी शीघ्रता से नचाता जाता था। मेरे प्रति उसकी उस प्रसन्न दृष्टि का कोई रहस्य मेरी समझ में नहीं आया। 'दीवान' मुझे उस पिंजड़े में बन्द करवाके वहाँ से बाहर गया और लोहे की छड़ों के उस पारवाले कमरे में घुसा। वहाँ पहुँचते ही उसने पहले उस औरत के पाँवों पर एक ठोकर जमाई जो आँखें बन्द किये फर्श पर लेटी थी। उसकी ठोकर से वह हड़बड़ाती हुई उठ बैठी। उसकी उम्र पैंतालीस से कम न होगी। रंग उसका कोयले से भी काला था। वह एक स्लेटी रंग का दुपट्टा और सलवार पहने थी, जो घुटनों पर फटी थी। मैं सोच रहा था कि वह पुलिस कर्मचारी को

देखकर काँपती हुई हाथ जोड़ने लगेगी। पर मैंने आश्चर्य से देखा कि वह 'दीवान' पर बरस पड़ी।

"एक जवान औरत पर लात चलाते हुए शरम नहीं मालूम होती ?" आवाज को काफी चढ़ाकर वह बोली।

"वाह री तेरी जवानी !" कटु व्यंग्य-भरे स्वर में 'दीवान' ने कहा।

"जवान नहीं तो क्या मैं बुड्ढी हूँ ? अपनी आँखें फोड़ ले पहले, तब देख ! और फिर मैं चाहे जवान हूँ या बुड्ढी, इससे क्या ? लात मारने का क्या अख्तियार है तुझे ? बड़ा आया पूलुस का जमादार बनकर ! जमादार नहीं चमार है !..."

सभी बन्दियों की आँखें उसी ओर लगी थीं और मेरी ही तरह पुलकित प्रसन्नता से चमक उठी थीं। वह जवान छोकरा, जो मेरे आने पर अत्यन्त प्रसन्नमुद्रा से मुझे घूर रहा था, आनन्द के पूरे उच्छ्वास के साथ बोल उठा, "क्या मरदानी औरत है, शाबाश !"

अपनी 'प्रतिष्ठा' की सुस्पष्ट हानि होते देखकर 'दीवान' ने उस औरत की ओर हिंसक आँखों से देखते हुए अपने पाँव को फिर लात जमाने की मुद्रा में हिलाया और बोला, "फिर एक ऐसा लात जमाऊँगा कि यहीं पर चारों खाने चित्त पड़ी रह जायगी।"

इस धमकी से डरने के बजाय वह 'जवान' और 'मरदानी' औरत और अधिक भड़क उठी। पहले से भी अधिक ऊँची आवाज में गरजती हुई बोल उठी, "ले मार ! मारता क्यों नहीं ? देखूँ तेरी हिम्मत कितनी है ! कीड़े पड़ जायँगे कीड़े ! हाँ ! अगर न लपलपाने लगें कीड़े तेरे इस पाँव में तो कहना बरसाती झूठी थी। समझ क्या रखा है तूने अपने को ? ढेरों देख चुकी हूँ ऐसे जमादार ! बरसाती ऐसी-वैसी औरत नहीं है कि तेरे जैसे भकुओं से चुप लगा जाय, हाँ-ाँ-ाँ-ाँ !" उसने ऐसे लहजे में "हाँ-ाँ-ाँ-ाँ !" कहा जैसे चुनौती देती हो।

दीवान से रहा न गया और उसने फिर एक बार दाँत पीसकर, आँखों की सहज क्रूर पुतलियों को ऊपर चढ़ाकर लात जमाने का पूरा उपक्रम किया, पर शायद हिम्मत न पड़ने के कारण उसके पाँव की गति सहसा बीच ही में रुक गई और उसका जूता केवल बरसाती के दाहिने पाँव के अँगूठे को छूकर ही रह गया। पर बरसाती के लिए इतना ही काफी था। वह दहाड़ मारकर रोने-चिल्लाने लगी,

"अरे बाप रे ! मार डाला रे ! सत्यानाश हो जाय रे इस पूलुस राज का ! कहर पड़े ! क्या सितम है रे !"

दीवान स्पष्ट ही कुछ हौलदिल-सा हो गया था, पर उसी परिमाण में उसका गुस्सा भी भीतर-ही-भीतर जैसे अधिकाधिक फूलता चलता जा रहा था ! "चुप !" पूरी ताकत से चिल्लाते हुए उसने कहा । "बिना मारे ही इस कदर चिल्लाती है ! अभी मैं तेरा कचूमर निकालकर रख दूँगा ।" और उसने फिर लात तानने की मुद्रा बनाई । यह देखकर बरसाती ने पहले से चौगुना अधिक ऊँची आवाज में दहाड़ना आरम्भ कर दिया और दक्षिण की ओरवाले सीखचों के पास जाकर, बाहर गली की ओर मुँह करके गुहारने लगी, "अरे मार डाला रे इस पूलुस के जमादार ने ! कोई बचाओ रे ! कोई सुनता नहीं है, क्या गजब है रे !..."

जो कान्स्टेबल मेरे साथ आया था उसके चेहरे से पता चलता था कि वह सारा काण्ड देखकर सचमुच बहुत घबरा उठा है । वह अभी तक हमारे ही कमरे में था और वहीं से सारा दृश्य देख रहा था । अपनी उसी घबराहट की स्थिति में उसने मेरी किताब को, जो भूल से अभी तक उसी के हाथ में रह गई थी, एक कोनेवाले खम्भे के ऊपर खड़ा करके रख दिया और जेब से बीड़ी और दिया-सलाई निकालकर जलाकर पीने लगा ।

बन्दियों के आनन्द की सीमा नहीं थी ! पुलिस के अत्याचारों से सिकुड़े-सिमटे पड़े हुए उनके हृदय जैसे बल्लियों उछल रहे थे । कोई शक्तिशालिनी स्त्री पुलिस के किसी कर्मचारी को भी भीत और स्तब्ध कर सकती है, यह जानकारी उनके लिए एक अपूर्व रसायन का, प्राणप्रद 'टानिक' का-सा काम कर रही थी । अधबँहिया कमीजवाला जो जवान छोकरा पहले ही से—शायद स्वाभाविक मस्ती के कारण—आनन्दित था, अब तो आनन्द की सीमा ही जैसे खोज नहीं पाता था । वह अपना सारा शरीर हिलाता हुआ "खिः खिः खिः खिः" करके हँस रहा था । वह हँसी केवल उसकी आँखों में ही नहीं चमक रही थी बल्कि उसके दोनों गालों के बीच की दो पतली रेखाओं से होकर बह रही थी, होठों के इर्द-गिर्द लहरा रही थी और ठुड्डी के दोनों ओर लोटपोट हो रही थी । वह बीच-बीच में अपने आनन्द की अभिव्यक्ति के सिलसिले में एक-आध जुमला बोलता जाता था, "वाह बरसतिया वाह !...क्या रंग ला दिया तुमने भाई !...बड़ा मजा आ गया यार, सचमुच ! खिः खिः खिः !..." और हँसते हुए उसके कन्धे के पीछे

अगल-बगल उभरी हुई दो चौड़ी-सी हड्डियाँ कमीज की ओट में भी साफ हिलती हुई दिखाई देती थीं। एक औरत जो अपना सारा मुँह ढककर सिर झुकाए बैठी थी उसके सिवा सब की मुद्राएँ स्कूली बालकों की तरह चंचल और उल्लसित हो उठी थीं। कुछ ही समय पहले तक उन लोगों के चेहरों पर जो घोर उदासी या उदासीनता की गाढ़ी छाया घिरी हुई थी उसका अस्तित्व किसी भी रूप में शेष नहीं रह गया था। और तो और, वह पगड़ीवाला जर्जर बुड्ढा भी परम प्रसन्न था और दोनों नथुने फैलाकर, दाँत दिखाकर वह इस तरह हँस रहा था जैसे हास्य-रस में पूरे-का-पूरा बोर दिया गया हो। केवल वह घूँघटवाली औरत ठीक उसी तरह सिर झुकाए, उसी तरह उँगलियाँ फँसाए, पत्थर की वास्तविक मूर्ति के समान, स्थिर, अचंचल बैठी थी, जैसे किसी भी अनुभूति की कोई चुभन या गुद-गुदी उसके मन में कम्पन पैदा कर सकने में निपट असमर्थ हो।

कान्स्टेबल, जैसे किसी आशंका से, बीड़ी पीते-पीते बाहर निकल गया (मेरी किताब ले जाना वह भूल ही गया।) 'दीवान' दाँत किटकिटाता हुआ दबी आवाज में बरसाती से कह रहा था, "चुप रह, चिल्ला मत, चुपचाप बैठ जा अपनी जगह पर। किसी ने मारा क्या तुझे, जो इतना चिल्लाती है!" वह इस तरह कह रहा था जैसे अपनी सफाई दे रहा हो।

इतने में झालरदार पगड़ी पहने पुलिस का एक विशिष्ट और युवक कर्मचारी —जो सम्भवतः थानेदार रहा हो—सहसा उस पिंजड़े के फाटक के पास आकर खड़ा हो गया और 'दीवान' को लक्ष्य करके कुछ कड़े स्वर में बोला, "दीवान जी, क्या बात है?"

"कुछ नहीं, हुजूर," आगन्तुक की ओर मुखातिब होकर बाकायदा सलाम बजाकर, 'दीवान' बड़े ही विनम्र स्वर में बोला, "यह बुढ़िया खामख्वा में गाली देती है, हुजूर।"

"झूठ बोलेगा तो जीभ नोच लूँगी," 'दीवान' के निकट आकर, दाँत प्रायः पीसती हुई बरसाती बोली। "और 'बुढ़िया' कहता है, इसकी हिमाकत तो देखो..."

'दीवान' परम प्रेम से हँसकर बड़े पुलिस कर्मचारी से कहने लगा, "अब यही देख लीजिए हुजूर, 'बुढ़िया' कहने से ही बिगड़ उठती है..."

उच्च कर्मचारी जैसे भरसक कड़ी-से-कड़ी गम्भीरता कायम रखने का प्रयत्न

करते हुए भी, बरबस मुस्करा पड़े। फिर तत्काल गम्भीर होते हुए बोले, "क्या बात है, बु···" उनके मुँह से 'बुढ़िया' निकलते-निकलते रह गया।

"बात और होगी क्या इसी भकुए से पूछो।" हाथ नचाती हुई बरसाती बोली। "सोई हुई औरत को ठोकर मारता है। पाँव उखाड़कर न रख लूँगी! और आप भी कैसे आदमी हैं, दारोगा साहब, अरे इस बेहूदे को जमादार बनाए बैठे हैं! इसे नौकरी से निकालते काहे को नहीं।"

"अच्छा, अच्छा, अब तुम बैठ जाओ," अत्यन्त गम्भीर आदेश की मुद्रा में किन्तु विनम्र स्वर में उच्च कर्मचारी ने बरसाती से कहा। उसके बाद वह दीवान से कुछ कड़ककर बोले, "चलो, अब तुम्हारा यहाँ कोई काम नहीं है।" कहते हुए वह जाने लगे।

"जो हुकुम हुजूर," कहकर सलाम बजाता हुआ 'दीवान' बाहर निकल गया।

बरसाती बैठ गई थी, यद्यपि अब भी 'पूलुस राज' के खिलाफ कुछ बड़बड़ाती चली जा रही थी। प्रायः सभी बन्दी बरसाती का पक्ष लेकर पुलिस की ज्याद-तियों का बखान अपने-अपने अनुभवों के अनुसार करने लगे थे। मैं अभी तक खड़ा ही था। 'दीवान' के चले जाने पर और बरसाती-काण्ड समाप्त हो जाने पर अधबँहिया कमीजवाला छोकरा एक नये आनन्द की प्राप्ति की सम्भावना से मुझमें फिर से दिलचस्पी लेने लगा था। वह एक विचित्र चञ्चल हास्य-भरी दृष्टि से मेरी ओर एकटक देख रहा था। मैं एक बार उसकी ओर देखता था, एक बार खम्भे के ऊपर रखी अपनी किताब पर। मैं सोच रहा था कि किताब के भीतर के रुपये अभी तक कान्स्टेबल या 'दीवान' की गृद्ध-दृष्टि में नहीं पड़े हैं और भाग्य से इस समय पुस्तक भी यहीं है—कान्स्टेबल की भूल से अभी तक थाने में दाखिल नहीं की गई है। इसलिए कैसे इस अवसर का लाभ उठाकर किताब से नोटों को निकाल लिया जाय।

मैं अपने मन के इस प्रश्न पर विचार कर ही रहा था कि सहसा छोकरा बोल उठा, "कहो दोस्त, कै इञ्ची खूँटा गाड़ के आये हो, खड़े क्यों हो, बैठते क्यों नहीं?"

मैं चुपचाप उसके पास ही बैठ गया।

"लाओ निकालो, बीड़ी-वीड़ी है कुछ पास में?" संकेत से मेरी ओर उँग-

लियाँ नचाते हुए उसने कहा ।

"मैं बीड़ी पीता ही नहीं," मैंने धीरे से कहा ।

"तो सिगरेट ही सही, बीड़ी से मुझे क्या करना है !"

"सिगरेट भी नहीं पीता ।"

वह अकृत्रिम आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगा । उसके बाद निराश स्वर में बोला, "तुमने तो सारी उम्मीद पर ही पानी फेर दिया । सुबह से मेरी बीड़ी चुक गई है । इसी टोह में था कि बाहर से कोई नया आदमी आये तो उससे माँगूं । पर···वाह दोस्त, वाह ! तुम भी एक ही वो निकले । अच्छा टेंट में कुछ पैसा-वैसा बचा है या वही 'दीवान' साला सब झाड़ ले गया ?"

मैंने मुस्कराते हुए, केवल सिर हिलाकर बताया कि कुछ नहीं है ।

"क्या बताएँ, कुछ किस्मत ही इस वक्त बिगड़ी हुई है । जब यह बुड्ढा आया था तब उम्मीद की थी कि वह अपनी पगड़ी में या गुदड़ी में कुछ जरूर छिपाए होगा । पर यह भी 'छेदीलाल' निकला । कहता है कि कुछ बचा ही नहीं । पर मैं जानता हूँ कि जरूर किसी-न-किसी छेद के भीतर कुछ-न-कुछ छिपाए होगा ।"

" 'छेदीलाल' क्या ?" मैंने यों ही कुतूहलवश पूछा ।

"अरे अब इस कदर बनते हो, जैसे नौसिखिया हो ! 'छेदीलाल' का मतलब तुम न समझो, यह नामुमकिन है । तुम खुद 'छेदीलाल' हो ।"

"मैं 'छेदीलाल' नहीं हूँ भैया," पास ही बैठा पगड़ीवाला बुड्ढा बोल उठा । वह पतली आवाज में इस तरह बोलता था जैसे उसके गले में कोई चीज फँसी हो । "और जो गुदड़ीवाली बात तुमने कही भैया, वह ठीक है । मेरे पास गुदड़ी थी और उसमें छः रुपये भी थे । पर बेईमानों ने सब झाड़ लिया और गुदड़ी फाड़कर फेंक दी । दो-तीन रुपये पगड़ी में भी छिपाए था, वह सब भी पगड़ी खोलकर निकाल ले गए । और जो मार पड़ी है भैया, कि कुछ पूछो मत । अभी तक पीठ जल रही है । आह !" कहकर उसने पीठ पर हाथ फेरना शुरू कर दिया ।

"कहो दोस्त, तुम पर भी मार पड़ी होगी काफी ?"

"नहीं," मैंने संक्षेप में उत्तर दिया ।

"बड़े भागवान हो बाबू ," बुड्ढा आह भरता हुआ बोल उठा, "नहीं तो इन जमदूतों की लपेट में आने से फिर कोई मार से बच सकता है !"

"तुमको क्यों पकड़ा ?" मैंने बुड्ढे से पूछा ।

"अरे बाबू", फँसे हुए गले से बुड्ढा बोला, "अब क्या बतावें। इसी तरह भीख माँगते हुए बुड्ढा हो गया, पर पुलुस के हाथ आज ही पहली बार फाँसी हुई। बीच-बीच में कान्स्टेबल चौराहों पर डाँट दिया करते थे, पर किसी ने पकड़ा कभी नहीं। आज इस उम्र में यह भी देखा! जनम की कमाई भी छिन गई और हवालात में भी बन्द हुए। ऐसा न्याय तो कभी देखा नहीं।"

उत्तर-पश्चिमवाले कोने में एक बंगाली बैठा था, जिसकी उम्र प्रायः तीस की होगी। हम लोगों की बातों में दिलचस्पी लेता हुआ वह धीरे से अपनी जगह से खिसककर हम लोगों के पास आकर बैठ गया था। बोला, "भिखारी को धरने का तो कोई आईन नहीं है। पर आजकल के कान्स्टेबल लोग बड़ा लोभी हो गया है। दो पैसे के लिए भी ये किसी का जान लेने सकता है।"

उस पार से बरसाती गरजती हुई बोल रही थी, "इन सब पूलुसवालों को काट-काटकर इनकी लाशें गंगाजी में बहा दी जानी चाहिए। पर अब ऐसे आदमी ही नहीं रह गए हैं जिनमें इतनी ताकत हो। अगर आज बनवारी जिन्दा होता तो इन कमीनों को यह हिम्मत हो सकती थी कि एक औरत पर लात चलाते! कुसुमपुर गाँव में जब उस जालिम जमींदार के घर उसने एक लड़की की अस्मत बचाने के लिए हमला किया तब पूलुसवालों ने अचानक छापा मारकर उसे घेर लिया। किसी भेदिया से उन्हें खबर लग गई थी। बनवारी अकेला दस कान्स्टे-बलों से लड़ा। कुछ जख्मी जरूर हुआ, पर दो को सख्त घायल करके बाकी सबको उसने भगा दिया। तब से पूलुस उसकी जानी दुश्मन बन गई और एक दिन उसके डेरे पर ही एक पूलुसवाले ने उसके अनजाने में पीछे से गोली चलाकर उसे मार डाला। अगर उसे पता लगने पाता तो बिटिया की वह फजीहत कभी होती!..." और वह लगी आँसू गिराने।

जो लुंगीधारी और घास की तरह उगी दाढ़ीवाला आदमी चुपचाप एक किनारे बैठा था, वह भी हम लोगों के कुछ निकट चला आया। उसने बहुत धीमी आवाज में बताया, "बरसाती की एक जवान लड़की थी—करीब सत्रह-अठारह बरस की। एक दिन पुलिसवालों ने बनवारी की तलाश में जब उसके यहाँ धावा बोला तब बनवारी नहीं मिला। यह बात सही है कि बनवारी बीच-बीच में उसी के यहाँ आकर छिपा रहता था। पर उस दिन वह वहाँ नहीं था। पुलिस-वालों के मन में यह बात जमी हुई थी कि उसीने बनवारी को कहीं छिपा रखा

है—चाहे अपने घर में या किसी दूसरे के घर में। और वे लोग बनवारी के खून के प्यासे तो पहले ही से थे। जब वह न मिल पाया तब उन लोगों का सारा गुस्सा बरसाती और उसकी जवान लड़की पर उतर आया। उस लड़की के साथ जो ज्यादती फिर पुलिसवालों ने की बाबू, उसकी दूसरी मिसाल कहीं खोजे नहीं मिलेगी। उसे बुरी तरह से परेशान करने और सताने पर भी उन्हें तसल्ली नहीं हुई। उन्होंने लड़की की जान ही ले ली। जब वह मर ही गई तब उन लोगों ने उसकी लाश को एक बोरे में डालकर रातोंरात नदी में बहा दिया। सबूत न मिलने से किसी भी पुलिसवाले को कोई सजा नहीं हुई। तभी से बरसाती प्रायः पागल हो गई।"

किस्सा सचमुच ऐसा था कि यदि उसमें एक चौथाई भी सच्चाई रही हो तो भी वह सुनने वाले के हृदय में आसानी से लोमहर्षक आतंक उत्पन्न कर सकता था। धीरे-धीरे पाँच-सात बन्दी मेरे आस-पास जुट गए और पुलिसवालों की ज्यादतियों के देखे, सुने और स्वयं अनुभूत किस्से सुनाने लगे। उन्हीं बातों के सिलसिले में जितनी सूचना मुझे मिल सकी उतने से मैं इतना जान सका कि उपस्थित बन्दियों में अधिकांश व्यक्ति गिरहकटी के अभियोग में पकड़े गए हैं, कुछ चोरी के सन्देह में गिरफ्तार हुए हैं और कुछ कथित 'चोरों' को अपने यहाँ आश्रय देने के अपराध में।

शाम को चार-चार जौ की रोटियाँ हम लोगों को खाने को मिलीं। साथ में तरकारी के नाम पर नमक भी सबको पर्याप्त मात्रा में न मिल सका। मैं बड़ी मुश्किल से एक रोटी खा सका। रोटियाँ ठीक से सिंकी नहीं थीं और मैं डर गया कि कहीं अधिक खाने से पेट में दर्द न उठने लगे। रात में मैं फर्श ही पर अपने दूसरे साथियों के साथ निश्चिन्त लेटा रहा। दिन-भर की थकावट के बाद नींद अच्छी आई।

दूसरे दिन जब मेरे साथी एक-एक करके दो पहरेदारों की देख-रेख में प्रातः-कृत्य के लिए बाहर निकले तो मैं पीछे रह गया। इधर-उधर देखकर, संतरी की नजर बचाकर, मैंने खम्भे के ऊपर अभी तक रखी हुई किताब उठाई और उसके भीतर रखे हुए नोटों को लपेटकर अपनी अंटी में छिपा लिया। आधे मिनट के

भीतर यह क्रिया मैंने कर डाली। मैं सोच रहा था कि कोई नहीं देख पाया, पर पगड़ीवाला बुड्ढा, जो भीतर ही रह गया था और एक कोने में छिपा हुआ था, तत्काल बोल उठा, "नोट छिपा रखे थे क्या ?"

मैं केवल मुस्करा दिया।

"अच्छा किया, अच्छा किया," सान्त्वना के स्वर में बुड्ढा बोला। "तुम्हारा भाग अच्छा है। बखत-बेबखत जरूरत पर मेरा भी ध्यान रखना।"

थोड़ी देर बाद एक पहरेदार लौटकर आया। बोला, "तुम यहाँ क्यों रह गये ? चलो सबके साथ, नहीं तो बाद में तुम्हें अलग से नहीं ले जाया जायगा। बुड्ढे को देखकर उसने उसे भी डाँट बताई और उसका हाथ पकड़कर उसे बलपूर्वक उठाया। उसके बाद वह हम लोगों को भी उसी ओर ले गया जिधर दूसरे लोग गये थे।

जब हम सब लोग लौटकर उसी पिंजड़े में आये और पहरेदार हमें सन्तरी की 'संरक्षकता' में छोड़कर चले गये, तब मैं उस जवान छोकरे के कन्धे पर हाथ रखकर उसे अलग एक कोने में ले गया और उसके कान में बोला, "मेरे पास रुपया है। क्या यहाँ रुपयों से खाने-पीने के मामले में कुछ काम बन सकता है ?"

"कुछ क्या, सब-कुछ बन सकता है," उसने उल्लसित होकर कहा, "कितने रुपये हैं तुम्हारे पास ?"

"पचास रुपये।"

"वाह प्यारे, तब तो पाँचों घी में समझो। लाओ, अभी कुछ रुपया निकालो। मैं आज ही बढ़िया खाने और बीड़ी-सिगरेट का इन्तजाम करता हूँ !"

मैंने टेंट से दस का एक नोट निकालकर उसके हवाले कर दिया। "वाह, बड़ा मजा ला दिया तुमने," उसने ललकती हुई आँखों से नोट को देखते हुए कहा और फिर उसे अपनी टेंट में सँभालकर वह पास ही बैठ गया। मालूम हुआ कि उसका नाम मजीद है और वह गिरहकटी के अभियोग में गिरफ्तार हुआ है।

दोपहर में जब दो आदमी हम लोगों के लिए खाना लाए और रद्दी कागजों में लपसी की तरह की कोई काली-काली-सी चीज हम लोगों को परोसी गयी तब मजीद उनमें से एक आदमी को चुपचाप एक कोने में ले गया और उसके कान में कुछ कहते हुए उसने वही दस का नोट उसके हवाले कर दिया।

लपसी में मिट्टी और कंकर काफी मात्रा में मिश्रित था। पर मेरा छोटा-सा

पेट तो उससे भर ही सकता था, इसलिए मैं बड़े प्रेम से उसे सुड़क गया।

उसके बाद सारा दिन या तो मजीद के साथ गप-शप करते हुए बिताया या फर्श पर चुपचाप लेटकर या दूसरों की बातों में दिलचस्पी लेकर। बीच में एक बार वह कांस्टेबल आया था, जो 'कॉनफेशन्स ऑफ ए ठग' को खम्भे के ऊपर भूल से छोड़ गया था। जब उसने देखा कि पुस्तक अभी तक उसी स्थान पर ज्यों-की-त्यों रखी है तब वह प्रसन्न होकर उसे उठा ले गया। जब रात हुई और बन्दियों के लिए खाना आया तब मैंने देखा कि एक आदमी एक अखबारी कागज में गेहूँ की प्रायः डेढ़ दर्जन बड़ी-बड़ी सूखी रोटियाँ और थोड़ी-सी आलू की तरकारी और नमक-मिर्च लाकर रख गया। साथ ही उसने दो पैकेट सिगरेट और दो बण्डल बीड़ी और दियासलाई भी चुपचाप मजीद के हवाले कर दी।

"आओ, खाओ," मजीद ने मुझे बुलाते हुए कहा। "आज तो गेहूँ की रोटियाँ हैं और साथ में तरकारी और नमक-मिर्च भी।"

मैंने कहा, "मुझे एक रोटी दे दो, बाकी तुम सब लोग आपस में बाँट लो।"

मेरा इतना कहना था कि चारों ओर से लोग बिना बुलाये ही उन रोटियों और तरकारी पर चीलों की तरह टूट पड़े और दो मिनट की छीना-झपटी के बाद रोटियाँ, तरकारी और नमक-मिर्च सब साफ हो गया। उस 'लूट' में मजीद बड़ी मुश्किल से दो रोटियाँ और कुछ तरकारी अपने लिए बचा पाया था। जब सब लोग अपने-अपने स्थान पर बैठकर इतमीनान से खाने लगे तब मजीद 'खिः खिः खिः खिः' करता हुआ एक बार आनन्द से हँस पड़ा और फिर दोनों रोटियाँ और तरकारी मेरी ओर बढ़ाता हुआ अपेक्षाकृत गम्भीर भाव से बोला, "लो इन्हें तुम खा जाओ। मैं जौ की रोटियाँ खा लूँगा, मैं आदी हूँ। साला दस रुपया देने पर कुल इतना ही सामान लाया। चलो, आज तुम्हारी वजह से सभी को एक-एक टुकड़ा गेहूँ की रोटी और तरकारी मिल गई, इतना ही क्या कम है!" और उसने उन दोनों रोटियों और तरकारी को मेरी ओर बढ़ा दिया।

मैंने कहा, "तुम्हारे बिना मैं खा नहीं सकता, यह जान लो। इसलिए आओ, साथ-साथ खाएँ।" वह नहीं मान रहा था, पर मेरे बहुत आग्रह करने पर अन्त में वह उन गेहूँ की रोटियों में मेरा साथ देने के लिए तैयार हो गया। उसके बाद जौ की जो कच्ची और मिट्टी से किरकिराती हुई रोटियाँ सबको समान रूप से मिली थीं उन्हें भी उसने बड़े ही प्रेम से, तनिक भी

मुँह बिचकाए बिना खाया। खाकर और कुल्हड़ में दिया गया पानी पीकर उसने आराम से एक सिगरेट निकालकर जलाई और मुझसे भी बोला, "लो, पियो, फर्स्ट किलाश चीज है।" उसके पहले मैंने कभी सिगरेट या बीड़ी नहीं पी थी। पर उस समय अचानक कुछ ऐसी इच्छा जागी कि मैंने एक सिगरेट उससे ले ही ली और जलाकर पीने लगा। धुआँ भीतर की ओर बहुत अधिक न खींचने पर भी पहली ही फूँक में जो खाँसी शुरू हुई वह फिर पाँच मिनट तक बन्द ही न हो पाई।

"खिः खिः खिः खिः!" मजीद हँसा, फिर सान्त्वना के स्वर में बोला, "जल्दी ही आदत पड़ जायगी, घबराओ मत। यह ऐसी चीज है कि पास में रहे तो फिर आदमी को दुनिया में किसी भी बात की परवा रही नहीं सकती। बड़ी-बड़ी तकलीफें इसके धुएँ के साथ रफा हो जाती हैं। इसकी आदत डाल लो तो फिर जब तक धुआँ उड़ाते रहोगे तब तक अपने को बादशाह समझते रहोगे। हाँ, एक बात जरूर है। आदत पड़ जाने के बाद जब यह चीज कभी न मिले तब बड़ी तकलीफ महसूस होने लगती है। मुझे तो न मिलने की भी आदत पड़ गई है, इसलिए मैं उस हालत में भी खुश रहता हूँ, पर बहुतों को न मिलने पर बड़ी बेचैनी होने लगती है।"

खाँसी का पहला दौर समाप्त होने पर मैं फर्श पर चारों खाने चित लेट गया और धीरे-धीरे धुआँ निकालता हुआ धुएँ से बननेवाली कुण्डलियों की गति-विधि की ओर आँखों को और मन को केन्द्रित करके एक विचित्र प्रकार की अलस शान्ति का अनुभव करने लगा।

दूसरे दिन मैंने शेष चालीसों रुपये, जो मुझे बड़े ही भार-स्वरूप लग रहे थे, मजीद के हवाले कर दिये और कह दिया कि उनका वह जैसा भी उपयोग करना चाहे, करे। मैं इस निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच गया था कि उन रुपयों का चाहे दुरुपयोग ही क्यों न हो, बलपूर्वक छीनने की इच्छा रखनेवाले कान्स्टेबल और जमादार के हाथों में उनके चले जाने से वह फिर भी बेहतर ही होगा।

दूसरे दिन हम लोगों को पहले एक मजिस्ट्रेट की अदालत में ले जाया गया

और वहाँ 'रपट' लिखाकर कान्स्टेबल हमें एक दूसरे जेलखाने में ले गए। उस वन्दी-शाला में मेरे दिन अच्छी तरह कटने लगे। चौबीसों घण्टों के बन्धन के दुःख की स्वाभाविक अनुभूति के बावजूद, मुझे वहाँ इतने साथियों के मिल जाने से बहुत अच्छा लग रहा था। वहाँ मुझे यह अनुभव हो रहा था कि मैं जीवन में अकेला नहीं हूँ, मैं भी किसी परिवार का सदस्य हूँ। मेरे बहुत से साथी हैं, जिनमें से कुछ तो यहाँ मेरे साथ हैं और शेष दूसरे बहुत से कैदखानों में भरे पड़े हैं। यह भावना मुझे बहुत ढाढ़स दे रही थी।

प्रतिदिन दो-चार नये साथी आते रहते थे और पुराने साथी एक-एक करके उन नयों के लिए जगह खाली करते रहते थे। वे पुराने साथी कहाँ जाते थे, यह मैं नहीं जानता था। फिर वे वहाँ लौटकर नहीं आते थे। उनमें कुछ तो शायद छोड़ दिये जाते होंगे और शेष को किन्हीं दूसरे जेलों में भेज दिया जाता होगा।

और एक दिन मजीद के भी जाने की बारी आई। जब जाने लगा तब उसके मुख की सहज हँसी आँखों में सिमिटकर दो बूँद आँसुओं के रूप में ढुलक पड़ी। दोनों मैले-मैले आस्तीनों से बड़ी सफाई से तुरन्त ही आँसू पोंछकर उसने फिर अपनी सहज मुसकान अपने सारे मुख पर फैला दी, यद्यपि इस बार की वह मुसकान करुणा से भी अधिक करुण थी। बड़े ही स्नेह-भरे स्वर में प्रायः स्त्रियों की तरह पुचकारता हुआ, मेरी पीठ धीरे-से थपथपाता हुआ बोला, "घबराना बिलकुल मत, दोस्त। तुम जरूर छूट जाओगे, मैं जानता हूँ। किसी बात की फिकिर मत करना। जिन्दा रहे तो फिर मिलेंगे?" और अपनी अन्तिम बात को एक अच्छा परिहास समझकर 'खिः खिः खिः खिः' करके हँस उठा। पर आज उसकी वह हँसी इस कदर खोखली थी कि मैं कुछ क्षण तक यही सोचता रह गया कि वह कहीं सचमुच में रो तो नहीं रहा है। स्नेह और करुणा की जो झलक उसकी चिर आत्म-परिहास-प्रिय आँखों में मैंने उस समय देखी वह मेरी कल्पना के परे थी।

"अबे चल जल्दी," पुलिसवाले ने उसका हाथ बड़ी निर्ममता से खींचते हुए कहा।

"अभी चलता हूँ," कहकर उसने फिर एक बार मेरी ओर स्नेह से छलछलाती हुई आँखों से देखा और बोला, "खुश रहना प्यारे! अच्छा सलाम!" और फिर वह पुलिसवाले के साथ चला गया।

उसके जाते ही मेरे मन में पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि जैसे मेरे चिर-जीवन

का साथी सदा के लिए चला गया हो। दो-ही चार दिन मुझे उसके सम्पर्क में रहे हुए होंगे, पर उतने कम समय के भीतर ही वह मुझे अपनी आत्मा के इतने निकट खींच ले गया था जितना मैं सारे जीवन में किसी के प्रति आकर्षित न हो सका। हम दोनों के बीच की बौद्धिक खाई को उसने न जाने किस जादू से, अपने अन्तर के कई स्तरों के भीतर निहित किस सहज स्नेह और आत्मीयता के पुल और पुलिन से अप्रयास ही पाट दिया था। दो-चार दिन की बातों से उसके जीवन के सम्बन्ध में जो छिटफुट तथ्य मैं बटोर सका था उनसे और भी स्पष्ट हो गया था कि अपने चिर-अव्यवस्थित और मानवीय स्नेह और समवेदना से वंचित जीवन की तेलरहित निःसंबल गाड़ी को वह अकेले ही, किस लापरवाही से, बिना तनिक भी शिकायत के, सहज प्रसन्नता से ढोता चला जा रहा था। बचपन ही में उसके माँ-बाप मर चुके थे और तभी से अनाथ अवस्था की अनुभूति से मन के अज्ञात में पीड़ित रहने और सामाजिक व्यवस्था के प्रति अज्ञात ही में विद्रोही हो उठने पर भी जीवन के सम्बन्ध में सहज आनन्दमूलक दृष्टिकोण को उसने कभी नहीं खोया। इसलिए प्रतिदिन की संकटपूर्ण, अस्थिर और अनिश्चित परिस्थितियों में और विकृत, अवस्था और अविकसित वातावरण में भी वह प्रसन्न, परिहासप्रिय और मस्त रहा करता था। परिहासप्रिय वह इस हद तक था कि स्वयं अपनी दयनीय-से-दयनीय परिस्थिति की भी खिल्ली उड़ाने में उसे सुख मिलता था। मस्ती और लापरवाही का यह हाल था कि मेरे दिये हुए दस-दस के पाँच नोट उसने एक-एक करके कैदियों का खाना तैयार करनेवाले रसोइये को मेरी जानकारी में दे डाले थे। उन मँहगे दामों पर जो गेहूँ की रोटियाँ और तरकारी मिली उससे वह स्वयं तनिक भी लाभ उठाने के लिए कभी उत्सुक न रहा। उन्हें वह बराबर दूसरों को ही बाँट दिया करता था और स्वयं जौ की मिट्टी मिली हुई कच्ची रोटी खाकर सन्तोष कर लेता था। कहता था, "मुझे तो रोज ही वही रोटियाँ खानी हैं, इसलिए दो दिन के लिए अपनी आदत खराब क्यों करूँ।" केवल सिगरेट-बीड़ी पीने की थोड़ी-सी सुविधा उन रुपयों से उसे अवश्य हुई थी, किन्तु उसमें भी वह सबसे हिस्सा बँटाता था। यह निश्चित था कि मेरे प्रति उसका स्नेह रुपयों के कारण नहीं जगा था, क्योंकि पहले दिन जब उसे मैंने बताया था कि मेरे पास न एक रुपया है न सिगरेट या बीड़ी ही, तो भी वह बड़े प्रेम से मुझसे मिला और एक ही दिन में हिलमिल गया था।

उसने मुझे बताया था कि उसे भी मेरी ही तरह केवल सन्देह पर गिरफ्तार किया गया था। कोई सोद्देश्य अपराध उसने नहीं किया था।

जब तक वह मेरे साथ हवालात में रहा तब तक मेरे प्रति उसका स्नेह-भाव, सभी दूसरे कैदियों के प्रति उसकी सहज सहानुभूति, कटु-से-कटु और विकट-से विकट परिस्थितियों में भी उसका स्वतःस्फूर्त उल्लास मुझे—और सम्भवतः दूसरे कैदियों को भी—बड़ा ही आत्मबल देता रहा और मेरे अन्तर के शून्य को न जाने किस प्राणशक्ति से भरता रहा। उसके चले जाने के बाद मेरा अन्तर फिर से जैसे रीता होता चला था। मुझे लगा कि मेरे हृदय का उच्छ्वसित क्रन्दन सिसकियों में फूट पड़ना ही चाहता है। मैंने बलपूर्वक आवेग को रोका और नई परिस्थितियों का सामना करने के लिए दूसरी दिशाओं से अन्तर्बल प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा।

मजीद के चले जाने के तीन दिन बाद मेरी भी बारी आई। हवालात से मुझे अदालत में ले जाया गया। मैंने देखा कि पुलिस मेरे खिलाफ दो गवाहों को न जाने कहाँ से पकड़कर ले आई थी। पहले कान्स्टेबल ने कोर्ट इन्सपेक्टर और मजिस्ट्रेट के आगे अपना बयान दिया। उसने बताया कि "आउट्रम घाट पर लगे एक जहाज में यह आदमी चोरी करने के इरादे से गया हुआ था। वहाँ एक 'साहब' के कमरे में घुसकर यह कोई बक्स चुराना ही चाहता था कि साहब ने इसे देख लिया और इसे पकड़कर मेरे हवाले कर दिया। इसके हाथ में एक किताब थी जो आपकी मेज पर पड़ी हुई है। ये दो आदमी भी उस वक्त वहीं थे। इन्होंने भी इसे देखा था।"

पहला गवाह, जिससे कोर्ट इन्सपेक्टर ने प्रश्न किया, पान के दाग के छींटों से भरा एक धारीदार कुरता और एक अधमैला पाजामा पहने था। उम्र उसकी सत्ताईस और तीस के बीच की लगती थी। हलफ लेने के बाद उसने कहा, "हुजूर यह आदमी तारीख १० मार्च को, शुक्र के रोज, आउट्रम घाट पर एक जहाज में घुसा हुआ था। वहाँ मैंने देखा कि पहले इसने डेक पर खड़े एक मुसाफिर की जेब इस छोटी-सी कैंची से काटी जो आपकी मेज पर रखी हुई है। उसके बाद

यह एक कैबिन में घुसा। वहाँ उस वक्त मेमसाहब अकेली थीं, साहब कहीं गया हुआ था। इसने इस छुरे से, जो आपके सामने रखा है, मेमसाहब को जान से मार डालने की धमकी दी। जब मेमसाहब चिल्लाने लगीं तब इसने एक रूमाल से उसका मुँह बन्द करके कसकर बाँध दिया और फिर जवाहरात से भरे एक बक्स को उठाने लगा। इतने में साहब आ गए और उन्होंने इसे पकड़ लिया।"

इस पर मजिस्ट्रेट ने कटघरे की ओर मुँह करके मेरी ओर देखकर कहा, "तुम्हें इस सम्बन्ध में कुछ कहना या पूछना है तो बोलो।"

मैंने कहा, "मेरा कोई वकील होता तो वह पूछता। पर मैं न वकील रख सकने की स्थिति में हूँ, न मुझे यह आशा है कि मेरी बात पर कोई विश्वास करेगा। फिर भी इतना तो कह ही देना चाहता हूँ कि यह सब सफेद झूठ है—बल्कि एकदम काला झूठ है।" मेरी बात सुनकर मजिस्ट्रेट ने गवाह से जिरह करना आरम्भ कर दिया।

"तुम जहाज में किस लिए गये थे?" मजिस्ट्रेट ने पूछा।

"मुझे अपने एक दोस्त से मिलना था, जो उस जहाज में मालबाबू का काम करता है।"

"क्या नाम था उस जहाज का?"

"अब इतना मुझे याद नहीं है, हुजूर।"

"जहाज का नाम जब तुम्हें मालूम नहीं था, तब तुम्हारे परिचित मालबाबू किस जहाज में काम करते हैं यह तुमने कैसे जान लिया? आउट्रम घाटवाले उस जहाज में खास तुम्हारे जान-पहचानवाले मालबाबू काम करते होंगे, इसकी जानकारी तुम्हें कैसे हुई?"

"वह मैंने लोगों से पूछकर जान लिया था, हुजूर! हमारे मालबाबू बड़े नामी-गिरामी आदमी हैं। सभी उन्हें जानते हैं।"

"तुमने जब अपनी आँखों से देखा कि यह आदमी छुरे से मेमसाहब को मारने या रूमाल से उसका मुँह बन्द करने जा रहा है तब तुम देखकर भी चुप क्यों रह गए? उसी वक्त चिल्लाकर तुमने किसी आदमी को मदद के लिए पुकारा क्यों नहीं? खड़े-खड़े तमाशबीन बनकर क्यों रह गए?"

"मैं घबरा गया था, हुजूर, मुझे लगा जैसे किसी ने मेरा भी मुँह बन्द कर दिया हो।"

मजिस्ट्रेट के मुख पर एक व्यंग्य-भरी मुसकान दौड़ गई।

"तुम्हारे मालबाबू का नाम क्या है? ठीक बताना। गलत बताने से तुम फँस जाओगे। हमें उनका नाम और पता मालूम करके उन्हें भी यहाँ गवाही के लिए बुलाना है।"

गवाह का चेहरा एकदम स्याह हो गया। कुछ देर तक वह सोचता रहा; उसके बाद हकलाता हुआ बोला, "मु-मुझे उनका-ठीक-ठीक नाम नहीं मालूम।"

"ठीक नहीं मालूम तो बेठीक ही बताओ। हम उसी से उसके असली नाम का पता लगा लेंगे," मजिस्ट्रेट ने कहा।

मैं देख रहा था कि मजिस्ट्रेट गवाह की असलियत शुरुआत ही में ताड़ चुका था और अब जान-बूझकर उसे बना रहा था। वह एक युवक मजिस्ट्रेट था और नये युग की प्रगति के साथ अपने दृष्टिकोण का मेल बिठाने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता होगा, ऐसा अनुमान उसके रंग-ढंग से मैंने लगाया। वह बंगाली लगता था, पर हिन्दी साफ बोल रहा था। साधारणतः मजिस्ट्रेट बड़ी ही गम्भीर प्रकृति के होते हैं और बहुत ही नपे-तुले और कम शब्दों द्वारा गवाहों और मुजरिमों की जाँच करते हैं। पर वह नया मजिस्ट्रेट स्पष्ट ही एक नये 'टेकनीक' को अपना रहा था।

गवाह गिड़गिड़ाता हुआ बोला, "अब क्या बेठीक बताऊँ हुजूर, आपसे अब कुछ छिपा तो रह नहीं गया। मैं उन्हें 'मालबाबू' के नाम से ही जानता हूँ।"

मजिस्ट्रेट ने बलपूर्वक अपनी मुसकान दबाई। उसके बाद उस गवाह को छुट्टी देकर उसने दूसरा गवाह बुलाया। "तुमने इस आदमी को कहाँ देखा?" नये गवाह से मजिस्ट्रेट ने पूछा।

पहले गवाह की दुर्दशा देखकर नये गवाह का आधा जोश तो निश्चय ही पहले ही ठण्डा हो चुका होगा। उसने मुरझाई आवाज में कहा, "हुजूर, इस आदमी को मैंने कई जगह कभी ब्लेड से और कभी कैंची से लोगों की पाकिटें काटते देखा है।"

" 'कई जगह' से बात साफ नहीं होती। किसी एक खास जगह की बात बताओ।"

कुछ देर तक वह आदमी कुछ सोचता रहा। उसके बाद सहसा बोल उठा, "कल जब मैं हवड़ा स्टेशन पर खड़ा था तब मैंने देखा, यह आदमी एक मुसाफिर

की पाकिट को ब्लेड से काट रहा था...''

"कल तो यह आदमी हवालात में बन्द था," मजिस्ट्रेट ने कहा।

"अरे नहीं, कल नहीं," तत्काल सँभलकर गवाह बोला, "मैं भूल रहा था। परसों की बात है, साढ़े तीन बजे दिन में।"

मजिस्ट्रेट के मुख का व्यंग्य और विनोदपूर्ण भाव तत्काल विलीन हो गया। उसके बदले खीझ और क्रोध की घनी छाया उसके चेहरे पर घिर आई। कान्स्टेबल की ओर देखते हुए वह प्रायः झल्लाकर बोला, "तुम लोग जाली गवाहों को पकड़कर लाते हो, यह कोई नई बात नहीं है। पर जाली गवाहों को ही रखना था तो इनसे कुछ अक्लमन्द गवाहों को पकड़ लाये होते! हटाओ इस आदमी को यहाँ से, जो निरे झूठ के सिवा और कुछ बोलना ही नहीं जानता, जो झूठ को सच के रंग में रँगने के ढंग से तनिक भी वाकिफ नहीं है।"

जब वह 'गवाह' सामने से हटकर एक किनारे खड़ा हो गया तब मजिस्ट्रेट ने मेरी ओर मुखातिब होकर कहा, "अब तुम बताओ। इस कान्स्टेबल ने जो बयान दिया उसमें किस हद तक सचाई है?"

मैंने कहा, "उसमें सचाई केवल इतनी ही है कि उस दिन मैं आउट्रम घाट पर लगे एक बड़े-से जहाज को देखने के लिए गया था।"

"इसके पहले क्या कोई जहाज तुमने देखा नहीं था?"

"बाहर से देखा था, भीतर से किसी बड़े जहाज को इससे पहले मैंने नहीं देखा था।"

"जहाज का नाम क्या था?"

"लिबर्टी।"

"तार पोरे? फिर क्या हुआ?"

"इधर-उधर, ऊपर-नीचे देखने के बाद मेरे मन में यह कुतूहल जगा कि अच्छे विदेशी जहाजों के 'केबिन' कैसे होते हैं। मैंने सोचा कि यह भी देख लिया जाय। एक केबिन आधा खुला था। उसके भीतर घुसकर मैं झाँकने लगा। उस समय उस कमरे में कोई नहीं था। एक झलक देखकर मैं लौटने की सोच ही रहा था कि पीछे से एक आदमी ने मेरे कन्धे पर हाथ रखा। मैंने मुड़कर देखा। वह एक यूरोपियन लगा मुझे। उसने मुझसे पूछा कि यहाँ क्या कर रहे हो? मैंने सच बात उसे बता दी।"

"तार पोरे ? फिर क्या हुआ ?"

"मेरे हाथ में एक किताब थी···"

"यही तो नहीं है ?" मेज पर रखी हुई किताब को ऊपर उठाकर मुझे दूर ही से दिखाते हुए मजिस्ट्रेट ने कहा।

"सम्भवतः यही है। उसका नाम था 'कॉनफेशन्स ऑफ ए ठग'। उस किताब का नाम पढ़ने पर उस यूरोपियन को शायद सचमुच यह विश्वास हो गया कि मैं भी एक ठग, चोर, गिरहकट या इसी तरह का कोई आदमी हूँ।"

"तो क्या तुम्हारा यह विश्वास है कि तुम इस तरह के आदमी नहीं हो ?"

"अभी तक तो नहीं ही हूँ, पर लगता है कि अगर जिन्दगी का रवैया ऐसा ही रहा तो न चाहने पर भी शायद एक दिन इस तरह का पेशा अपना लूँ।"

"कैसा रवैया ?"

"ऐसा समाज जिसमें पुलिसवालों को इस बात की खुली छूट दे दी गई हो कि किसी भी आदमी को—विशेषकर किसी अव्यवस्थित और निःसम्बल आदमी को—जिस हद तक भी चाहें परेशान कर सकें और दो जाली गवाहों को खड़ा करके उसे चोर या खूनी तक साबित कर सकें; वह युग और वह समाज जो किसी आदमी को इतनी भी सुविधा दे सकने में असमर्थ हो कि वह ईमानदारी से अपने योग्यतानुसार काम करके अपने लिए दो रूखी रोटी सुबह और दो रूखी रोटी शाम का प्रबन्ध कर सके और एक कोना रात में आराम करने के लिए पा सके; सुविधा देना तो दर-किनार, इस तरह की सुविधा खोजने के कारण ही जो व्यक्ति को बदमाश, लुटेरा, गुण्डा और असामाजिक माने, ऐसे समाज और ऐसे युग में कोई भी भला आदमी परिस्थितियों के चक्कर में पड़ने के कारण हताश भाव से किसी भी पेशे को अपना सकता है। समाज में प्रतिदिन जो अपराधों और दुष्कर्मों की संख्याएँ बढ़ती चली जा रही हैं उसका प्रधान कारण आज के युग की यही सहानुभूतिरहित, समवेदनाशून्य प्रवृत्तियाँ, विषम सामाजिक परिस्थितियाँ और सामूहिक भ्रष्टाचार ही है।"

मजिस्ट्रेट बड़ी ही उत्सुकता से, एकान्त ध्यान से मेरा वक्तव्य सुन रहा था। निश्चय ही उसने चोरी, छुरेबाजी और गिरहकटी के अभियोग में गिरफ्तार किये गए आदमी से इस तरह के भाषण की आशा नहीं की होगी। मेरा वक्तव्य समाप्त होने पर उसने अनमने भाव से कुछ सोचते हुए सबूत के लिए रखी गई मेरी

किताब खोली। किसी एक पृष्ठ के खुलने पर उसी में से उसने दो-चार पंक्तियाँ शायद पढ़ीं भी। फिर सहसा मेरी ओर देखता हुआ बोला, "यह किताब है तो बड़ी दिलचस्प। क्यों, है न ?" इस बार उसकी गम्भीर दृष्टि में कोमलता का रंग काफी चढ़ गया था।

"जी हाँ, और ज्ञानवर्द्धक भी है।"

"किस तरह ?"

"जिस आदमी ने बड़े परिश्रम से एक ठग की स्वीकारोक्तियों का संग्रह करके, उन्हें ठीक तरह से सँजोकर सम्पादित करके छपवाया, उसकी निश्चय ही यह इच्छा रही होगी कि भले आदमी उसे पढ़ें और सोचें-समझें कि किस प्रकार की सामाजिक परिस्थितियाँ मनुष्य को ठग या चोर बना सकती हैं। यह तो हो नहीं सकता कि केवल ठगों के पढ़ने के लिए ही यह किताब लिखी गई हो। क्यों, क्या राय है आपकी ?"

"हो सकता है," मेरी ओर न देखकर एक अभियुक्त के प्रश्न के ढंग से कुछ अप्रतिभ होकर उसने कहा। वह किताब को दाएँ हाथ में पकड़कर उससे खेल-सा रहा था। क्षण-भर के लिए फिर वह जैसे कुछ सोच में पड़ गया। उसके बाद सहसा किताब को मेज पर रखकर उसने छुरा, कैंची और ब्लेड को एक-एक करके मुझे दिखाते हुए बनावटी गम्भीरता से प्रश्न किया, "ये सब हथियार तो तुम्हारे ही हैं न ?"

"जी नहीं।"

"तब किसके हैं ?"

"यह जहाज के 'मालबाबू' से पूछिए।"

मजिस्ट्रेट की सारी बनावटी गम्भीरता विशुद्ध विनोदपूर्ण मुस्कान में बदल गई। कुछ क्षण तक वह मौन-भाव से मुस्कराता रहा। उसके बाद मजिस्ट्रेट ने यह सूचित किया कि 'कल फैसला सुनाया जायगा।' लिहाजा मुझे फिर जेल में ले जाया गया।

दूसरे दिन सुनवाई हुई। मजिस्ट्रेट ने पहले एक मुसकान द्वारा मेरा स्वागत किया। उसके बाद सहसा एक सहज सौम्य गम्भीरता का भाव उसके सुन्दर चेहरे पर छा गया और वह धीरे से, शिष्ट और शान्त स्वर में कहने लगा, "देखिए मिस्टर, यह आपका भाग्य ही था कि पुलिस के गवाह ऐसे कच्चे निकले।

नहीं तो जिस तरह के जुर्म आप पर लगाए गए हैं वे बड़े ही गम्भीर हैं। यह दूसरी बात है कि मैं आपको बहुत-कुछ समझ गया हूँ और आपको निर्दोष मानता हूँ। पर पुलिस के गवाह काफी पक्के और चालाक होते तो आप परेशानी से नहीं बच सकते थे। जो भी हो, मुझे इस बात की खुशी है कि मैं एक बेगुनाह आदमी को सजा देने या परेशानी में फँसाने के अज्ञात दोष से बच गया। मैं आपको रिहा करता हूँ, पर इतनी 'वार्निंग' के साथ कि भविष्य में आप अपने को ऐसी परिस्थितियों में न डालें जहाँ 'फार नथिंग' आप पुलिस के चक्कर में आ जायँ। यह लीजिए अपनी किताब, बाकी रहे ये 'हथियार', जिन्हें आप अपना बताते ही नहीं, क्यों ?" और एक दुष्टता-भरी मुस्कान फिर उसकी आँखों में और होठों पर खेल गई।

"यह किताब भी आप ही रखिए, मैं देख चुका हूँ। सचमुच बहुत दिलचस्प किताब है। आपको बहुत पसन्द आएगी। पढ़कर बताइएगा। अच्छा नमस्ते !" कहकर मैं एक बार प्रेमपूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखकर कटघरे से नीचे उतरा। मेरे साथवाला पुलिस का कान्स्टेबल और उसके दो गवाह अत्यन्त आश्चर्यचकित दृष्टि से मेरी ओर देख रहे थे। एक नीच से भी नीच, क्रूर से भी क्रूर अपराधी के रूप में वे लोग मुझे लाए थे और जब उन्होंने देखा कि उसी अपराधी से एक मजिस्ट्रेट बराबरी के स्तर पर बातें कर रहा है और बिना अधिक जाँच किये अत्यन्त गम्भीर आरोपों से बरी करके रिहा कर रहा है, तब उन्हें आश्चर्य होना बिलकुल स्वाभाविक था। निश्चय ही वे लोग मन-ही-मन यह सोचकर खीझ रहे होंगे कि 'क्या उलटा जमाना आया है !'

और आश्चर्य स्वयं मुझे भी कुछ कम नहीं हो रहा था। कोई आदमी केवल एक ही बात से मेरी वास्तविक स्थिति को समझकर मेरे प्रति इस कदर उदार हो उठे, मुझसे चोर या डाकू के रूप में नहीं, बल्कि एक प्रतिष्ठित नागरिक मानकर आदर से बातें करे, यह वास्तव में कोई साधारण बात नहीं थी—खासकर वह आदमी जब एक मजिस्ट्रेट भी हो !

'अभी नया-नया ही आया होगा वह इस पद पर', बाहर सड़क पर निकलकर, फुटपाथ पर अनमने भाव से चलते हुए मैंने मन-ही-मन सोचा। 'अभी छात्र-जीवन का उत्साहपूर्ण आदर्शात्मक संकल्प उसके मन में बना है। अभी सत्य के प्रति आग्रह उसके युवा-प्राणों में शेष है। जब इस पेशे में और अधिक घिस जायगा,

तब निश्चय ही उस विष-रस का पेय उसकी आत्मा में भी प्रविष्ट हो जायगा जिसने इतने मजिस्ट्रेटों की समवेदनात्मक अनुभूति को एकदम जड़ बना दिया है और तब धीरे-धीरे वह भी विश्वव्यापी भ्रष्टाचार में योग देता हुआ, मानवीय भावनाओं और मानवीय प्रगति के प्रति पत्थर की तरह उदासीन होकर, अपने वर्ग के दूसरे व्यक्तियों का साथ पूरी तरह से देने लगेगा।'

मैं देख चुका था नई पीढ़ी के कई नये मजिस्ट्रेटों को जो आरम्भ में सत्य के सम्बन्ध में कड़े आदर्शों के पालन की सच्ची लगन और दृढ़ प्रतिज्ञा लेकर आगे बढ़े थे, पर कुछ समय बाद घिसते घिसते जो सामूहिक भ्रष्टाचार के महाप्रवाह में बह गए। 'पर कौन जाने!' फिर मेरे मन में तर्क उठा, 'यह भी बहुत सम्भव है कि यह नया मजिस्ट्रेट अपनी पीढ़ी के सभी मजिस्ट्रेटों के भीतर एक नया आदर्श, एक नई और उदार मानवीय चेतना भरने में समर्थ सिद्ध हो!'

जो भी हो और जैसे भी हो, मैं फिर एक बार पुलिस के चक्कर से बचकर आजाद दुनिया, मुक्त संसार या 'फ्री वर्ल्ड' में 'स्वच्छन्द' विचरण करने के उद्देश्य से बाहर निकल आया था। मजिस्ट्रेट बेचारा बहुत भला था, सन्देह नहीं, पर उसने अनजाने में मेरे साथ कितना बड़ा परिहास कर दिया था—जेल के सहज-सुलभ आश्रय से मुझे मुक्ति दिलाकर! अब फिर मुझे बसेरे की असम्भव खोज में निरर्थक भटकते रहना होगा। इस तरह सोचता हुआ मैं धीरे-धीरे कदम रखता हुआ, अनमने भाव से न जाने किस ओर चला जा रहा था। सुबह हवालात में 'लपसी' खाने को मिल गई थी। उसी सम्बल को आधार बनाकर मैं शाम की कोई चिन्ता किये बिना ही लक्ष्यहीन लक्ष्य की ओर बढ़ा चला जा रहा था।

चलते-चलते मैंने अपने को कॉलेज स्क्वॉयर पहुँचा हुआ पाया और ठीक वाई० एम० सी० ए० की बगल में पुरानी किताबों की उसी खुली 'दुकान' के पास आकर ठहर गया जहाँ से मैंने 'कॉनफेशन्स ऑफ ए ठग' खरीदा था। अभ्यासवश मैं फिर कतार में फैलाई गई पुरानी किताबों का 'पर्यावलोकन' करने लगा। मुझे देखते ही किताबवाला, जो उस दिन पहले बेहद अकड़ा हुआ था और बाद में एक किताब के लिए चार रुपये नकद मिलने पर नम्र पड़ गया था, मेरे

पास आ पहुँचा और आते ही बोला, "आप आ गए, अच्छा ही हुआ। मैंने आपके लिए एक दूसरी किताब छाँटकर रखी है।"

"कौन-सी किताब?" मैंने उत्सुक भाव से पूछा, हालाँकि इस बार मेरी जेब में एक पैसा भी नहीं था। मैं उत्सुक यह जानने के लिए अधिक था कि वह मेरे योग्य कौन-सी पुस्तक अपने-आप चुनकर रख सकता है—मेरी रुचि के सम्बन्ध में उसकी धारणा क्या है।

"यह लीजिए," कतार के बीच में से एक किताब निकालकर मेरी ओर बढ़ाते हुए वह बोला।

मैंने पुस्तक का नाम पढ़कर देखा। कवर-पृष्ठ पर बड़े-बड़े अक्षरों में छपा था: "एडवेंचर्स ऑफ ए वैगाबांड।" उसका चुनाव देखकर मेरे आनन्द की सीमा नहीं रही। यदि मेरे पास उस समय दस का नोट होता तो मैं निश्चय ही पूरे-का-पूरा उसे दे डालता—पुस्तक के प्रति उत्सुकता के कारण नहीं, बल्कि मेरी रुचि के सम्बन्ध में उसके अनुमान के लिए। प्रकट में मैं केवल मुस्करा दिया और दूसरी पुस्तकें देखने लगा।

देखते-देखते जब मैं ठीक वाई० एम० सी० ए० के दरवाजे के पास पहुँचा तब वहाँ पर खड़े कान्स्टेबल ने, जो तब तक उलटी दिशा की ओर मुँह किये था, मुड़कर मेरी ओर देखा और मैंने उसकी ओर। यह वही कान्स्टेबल था जिसकी कृपा-दृष्टि का शिकार मैं पहले कॉलेज स्क्वायर में ही बन चुका था और जो मुझे अस्पताल में भी मिला था।

"कहिए जनाब, आप फिर यहाँ पहुँच गए!" उसने स्पष्ट ही व्यंग्य से मेरे प्रति आदरसूचक अर्थ का प्रयोग किया था। "लाल बाजार की हवा खाने पर भी अभी आपकी अक्ल ठिकाने नहीं लगी?"

मैंने इस तरह उसकी ओर देखा, जैसे उसकी बात समझ ही न पाया होऊँ।

"देख क्या रहे हो, भागो यहाँ से। नहीं तो अबकी सीधे अलीपुर जाना होगा।"

उस घाघ को मेरे थाने में बन्द होने की बात का पता कैसे लग गया था, मैं कह नहीं सकता। मैंने सहसा अपना एक नया रूप प्रकट करते हुए झिड़ककर कहा, "क्या बक-बक करते हो!"

"अगर अपनी भलाई चाहते हो तो मेरे 'इलाके' से चुपचाप हट जाओ। बहस से काम न चलेगा, यह बताए देता हूँ" आँखें तरेरते हुए और अपने दाएँ

हाथ की तर्जनी से बगलवाली गली की ओर संकेत करते हुए उसने कहा, हालाँकि उसकी आँखें मेरी ओर लगी थीं। स्पष्ट ही उसने तर्जनी केवल मुझे वहाँ से चले जाने का 'आदेश' देने के इरादे से दिखाई थी, उससे उसका और कोई दूसरा उद्देश्य नहीं था।

उसकी तर्जनी का अनुसरण करते हुए मैंने बिना कुछ सोचे, कल के पुतले की तरह उसी गली की ओर देखा। ज्योंही मैंने उस ओर दृष्टि घुमाई त्योंही उस गली के नुक्कड़ पर खड़े एक आदमी से मेरी चार आँखें हुईं, जो मैली, चौखानेदार लुंगी के ऊपर उससे भी गन्दा चादरा डाले था और कुछ बड़े-बड़े से बिखरे और धूल-धूसरित बालों के ऊपर 'फिट' न बैठनेवाली एक बहुत ही मैली दुपलिया टोपी पहने था। उसकी दाढ़ी भी कई दिनों से नहीं बनी थी। उम्र उसकी पैंतीस के करीब लगती थी। चार आखें होते ही उसने हाथ के संकेत से मुझे अपनी ओर बुलाया। उसका बुलाना मुझे अत्यन्त रहस्यमय लगा और साथ ही मेरा कुतूहल भी जगा। मैं किसी जादू के-से आकर्षण से सीधे उसके पास चला गया।

"चलो, आगे चलकर बातें करेंगे," उसने बड़ी ही धीमी आवाज में मेरे एकदम पास आकर कहा और फिर मेरे कन्धे पर हाथ रखकर वह मुझे गली के भीतर ले गया।

मेरे आश्चर्य और कुतूहल का ठिकाना नहीं था। उस व्यक्ति को मैं अपने जीवन में आज पहली बार देख रहा था, पर वह मेरे साथ इस तरह पेश आ रहा था जैसे उसके साथ वर्षों से मेरी घनिष्ठता रही हो।

"लो बीड़ी पियो," उसने अपनी कमर से दो बीड़ियाँ निकालकर मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा। मुझे अपने ऊपर स्वयं आश्चर्य हुआ जब मैंने चुपचाप बिना किसी बहस के उसके हाथ से बीड़ी ले ली। गली के भीतर कुछ दूर और आगे चलकर वह एक बीड़ीवाले की दुकान पर खड़ा हो गया और उस दुकान पर लटकती हुई एक रस्सी का जलता हुआ निचला सिरा उटाकर उससे अपनी बीड़ी जलाने लगा। जब जलाकर एक फूँक धुआँ निकाल चुका तब मुझसे बोला, "लो, तुम भी दाग लो।" और यह कहते हुए उसने रस्सी का जलता हुआ सिरा पकड़कर मेरी ओर कर दिया। मैंने किसी जादू से मोहित किये गए व्यक्ति की तरह बिना बहस के अपनी बीड़ी जलाई।

उसके बाद हम दोनों फिर आगे बढ़े। वह अपना दायाँ हाथ मेरे बाएँ कन्धे पर रखे था। मेरे कान के पास वह धीरे से बोला, "पुलिसवाला तंग कर रहा था न ?"

उत्तर में मैंने केवल सिर हिला दिया। "बहुत दिनों के भूखे लगते हो," कुछ देर बाद उसने फिर कहा। मैं चुप रहा। वह आदमी कौन हो सकता है, किस-लिए उसने मुझे बुलाया और कहाँ, किस उद्देश्य से लिये जा रहा है, यह रहस्य मैं कुछ समझ ही नहीं पा रहा था। पर चिन्ता मुझे किसी भी बात की नहीं थी, क्यों-कि मैं जानता था कि मुझे कहीं, किसी भी परिस्थिति में कुछ खोना नहीं है, बल्कि पाना-ही-पाना है। कोई तथाकथित 'असामाजिक' या जरायम पेशा आदमी भी मुझे तनिक भी क्षति नहीं पहुँचा सकता, बल्कि मेरी सहायता ही कर सकता है, इतना मैं निश्चित रूप से समझे बैठा था। इसलिए मैं निश्चिन्त था। पर अपने कूतूहल को दबा पाना मेरे लिए कठिन हो रहा था।

"तुम्हारा चेहरा देखते ही मैं भाँप गया था कि तुम अपने ही आदमी हो" उसने बीड़ी के धुएँ को भीतर की ओर पूरा खींचकर फिर बाहर निकालते हुए सहज भाव से कहा।

मेरे रूखे-सूखे, नीरस और निस्पृह चेहरे पर भुखमरी के जो चिह्न स्पष्ट रूप से अंकित रहे होंगे और उस पर सिर के धूसर बाल और घासनुमा दाढ़ी ने जो रंग खिला रखा होगा, उससे किसी भी समझदार को यह भ्रम नहीं हो सकता था कि मेरा सम्बन्ध किस 'वर्ग' से होना चाहिए। मेरा सम्बन्ध केवल उसी 'वर्ग' से होना चाहिए था जिसे रोज कुआँ खोदकर रोज पानी पीना पड़ता है—अर्थात् रोज किसी-न-किसी की जेब काटकर रोज पेट की ज्वाला शान्त करनी होती है।

मैं उत्तर में कुछ न बोला। कुछ दूर आगे चलकर हम लोग एक ऐसी जगह पहुँचे जहाँ से गरमागरम खाद्य पदार्थों की लुभावनी महक आ रही थी और एक तन्दूर से मोटी-मोटी गरमागरम रोटियाँ निकाली जा रही थीं। एक कच्चा, एक-मंजिला, गन्दा-सा पुराना मकान था वह। पर भीतर जगह काफी दिखाई दे रही थी और कुछ लोग दो-तीन गन्दी-सी मेजों के आगे बेंचों पर बैठकर तन्मय भाव से खाना खा रहे थे। स्पष्ट ही वह एक सस्ते किस्म का भोजनालय था।

"चलो, खाना खा लो," मेरे साथी ने कहा और दुकान के भीतर घुसा। मैंने कठपुतली की तरह उसका अनुसरण किया।

एक लम्बे से बेंच पर एक अधेड़-सा आदमी मैला कुर्ता और मैला ही पाजामा पहने बड़ी तृप्ति के साथ रोटी खा रहा था। और कहीं जगह खाली नहीं थी, इसलिए मेरा साथी उसी की बगल में बैठ गया और मुझसे भी उसने इशारे से वहीं पर बैठने के लिए कहा। मैं बिना बहस के चुपचाप बैठ गया। जो आदमी खाना खा रहा था उसका ध्यान भंग हुआ और उसने एक बार सिर उठाकर कुतूहल से हम लोगों की ओर देखा। उसके बाद फिर खाने में मग्न हो गया।

एक मैला-सा अँगोछा कन्धे पर डाले एक आदमी हम लोगों के पास आकर खड़ा हो गया—स्पष्ट ही आर्डर लेने के लिए।

"दो जगह दो-दो रोटियाँ लाओ और एक-एक प्लेट गोश्त," मेरे साथी ने उससे कहा। वह चला गया और कुछ देर बाद 'इनेमल' किये हुए बड़े-बड़े प्लेटों में, जिनमें जगह-जगह 'इनेमल' निकल जाने से काले-काले दाग पड़ गए थे, खाना लगाकर ले आया।

"खाओ," स्वयं नान का एक बड़ा-सा टुकड़ा तोड़ते हुए मेरा साथी बोला। मैं उसकी आज्ञा का पालन करते हुए खाने लगा। बहुत दिन बाद रुचि और तृप्ति से मैंने खाना खाया। जब दोनों रोटियाँ चट कर चुका तब मेरे साथी ने 'होटल' के नौकर को बुलाकर और दो रोटियाँ और गोश्त दे जाने को कहा। जब रोटियाँ आईं तब उसने दोनों ही मेरे प्लेट में डाल दीं और बड़े प्रेम से बोला, "खाओ।"

"एक तुम लो। मैं एक ही खाऊँगा," मैंने धीरे से कहा।

"मैं खाकर आया हूँ, सिर्फ़ तुम्हारा साथ देने के लिए मैंने दो रोटियाँ खाई हैं। तुम इतमीनान से खाओ, कुछ जल्दी नहीं है।"

मैंने जल्दी-जल्दी वे दोनों रोटियाँ भी समाप्त कर डालीं। "और मँगा दूँ?" साथी ने पूछा।

"बस, अब पेट एकदम भर गया है।"

"तो चलो हाथ धो लो।"

हम दोनों उठे। हाथ-मुँह धोकर 'कौन्टर' के पास गये। साथी ने टेंट से कपड़े का एक मैला टुकड़ा निकाला जिसमें गाँठ बँधी थी। गाँठ खोलकर उसमें से पाँच का एक नोट निकाला और 'होटल' वाले के हवाले किया। नौकर ने जितना पैसा बताया उतना काटकर 'होटल' वाले ने बाकी पैसे वापस कर दिये।

उसके बाद हम दोनों फिर बाहर निकल पड़े। रास्ते में साथी बोला, "पढ़ना-लिखना तो तुम जरूर जानते होगे। तुम्हारे चेहरे से साफ पता चल रहा है।"

मैं चुप रहा।

"हिन्दी पढ़ा सकते हो एक लड़की को ?"

मैंने आश्चर्य से एक बार सिर से पाँव तक उसकी ओर देखा। फिर बोला, "हाँ, पढ़ा तो सकता हूँ।"

"तब ठीक है। मजे से रहोगे। खाना, कपड़ा, तनखाह सब पाओगे।"

बड़ा कुतूहल जगने पर भी मैंने कहाँ और कितना, यह कुछ नहीं पूछा। जब हम लोग बड़ी सड़क पर आए, तब साथी बोला, "पहले तनिक स्टेशन हो लें। वहीं एक आदमी से मिलना है। फिर ठीक ठिकाने तुम्हें ले चलेंगे।"

सामने एक खाली टैक्सी चली जा रही थी। साथी ने उसे रोका। हम दोनों उस पर बैठ गए। "स्टेशन चलो," टैक्सीवाले से साथी बोला।

हैरिसन रोड से होते हुए हम दोनों कुछ ही देर बाद स्टेशन पहुँच गए। भीतर चलकर साथी ने दो प्लेटफार्म टिकट लिये और एक मेरे हाथ में थमाते हुए नौ नम्बर प्लेटफार्म के भीतर मुझे ले चला। वहाँ कुछ दूर तक इधर-उधर चक्कर लगाने के बाद उसने पीछे से एक आदमी के कन्धे पर हाथ रखा, जो गले में एक लाल अँगोछा लपेटे, आधे बाँह की अधमैली बंडी और अधमैली धोती पहने दूर से एक ड्योढ़े दर्जे के डिब्बे की ओर गौर से देख रहा था।

कन्धे पर हाथ पड़ते ही उस आदमी ने मुँह फेरा। मेरे साथी को देखते ही उस आदमी का गम्भीर चेहरा खिल उठा, "कहो नवाब, क्या हाल है ?" उसने मेरे साथी से पूछा।

"सब ठीक है। तुम बताओ अपना हाल। भेड़ या बकरा कुछ मिला ?" धीरे से मेरा साथी बोला।

"अरे यार, एक दुम्बा है, पूरा दुम्बा," मेरे साथी के कान में प्रायः फुस-फुसाते हुए नया आदमी बोला। "माल गहरा है। पर तुम्हें पचास पर बेच सकता हूँ। चलो दिखा दूँ।"

साथी मुझसे बोला, "तुम यहीं खड़े रहो, मैं अभी आता हूँ।" और फिर दोनों कुछ दूर आगे चलकर कुछ देर तक आपस में एक-दूसरे से न जाने क्या बातें करते रहे। फिर लौटे और जहाँ मैं खड़ा था वहाँ से भी काफी दूर आगे निकलकर

एक सेकेण्ड क्लास डिब्बे के सामने काफी दूर हटकर एक अपेक्षाकृत एकान्त स्थान में खड़े हो गए। मैं भी अपना कुतूहल न दबा सकने के कारण उसी ओर चला गया और चुपचाप दोनों के पीछे खड़ा हो गया।

"वह जो पीली पगड़ीवाला आदमी है," नया आदमी मेरे साथी से धीरे से कह रहा था, "वह दिल्ली तक जायगा। दूसरी सवारियाँ सब पहले ही उतर जायँगी। सिर्फ यह दुम्बा रह जायगा। गहरा असामी है। मैं तुम्हें बेचता हूँ। लाओ पचास अभी निकालो।"

"जाँच-पड़ताल सब पूरी तो है न?"

"भला इसमें बनवारी कहाँ चूक सकता है!" परिपूर्ण आत्म-विश्वास से मुस्कराते हुए नया आदमी बोला। उसी क्षण उसकी दृष्टि मुझ पर पड़ी। "यह कौन है?" पहले से भी धीमी आवाज में उसने मेरे साथी से पूछा।

"नया भरती हुआ है," उससे भी धीमी आवाज में साथी बोला।

नया आदमी, जिसने अपना नाम बनवारी बताया था, बड़े गौर से मुझे देखने लगा।

"अभी पचीस रखो, पचीस काम हो जाने पर दूँगा। और यह कहकर नवाब ने टेंट से वही मैली पोटली निकाली और उसमें से पचीस रुपये निकालकर बनवारी को दे दिए। उसके बाद मेरी ओर संकेत करते हुए उसने बनवारी से कहा, "इसे हमारे यहाँ पहुँचा देना। करीम चाचा को इसे सौंपते हुए कहना कि यह बिटिया को हिन्दी पढ़ाएगा।"

"अच्छी बात है," रुपये को टेंट में सँभालते हुए बनवारी बोला।

"इनके साथ जाना, घबराना मत। ये सब अपने ही आदमी हैं," मुझे दिलासा देते हुए नवाब ने कहा और फिर स्वयं भीड़ में गायब हो गया।

"चलो," कहकर बनवारी आगे बड़ा और मैं उसके पीछे-पीछे चलने लगा।

प्लेटफार्म से बाहर निकलकर हम लोग स्टेशन के बाहर निकले। बाईं ओर मुड़कर बनवारी मुझे एक सड़क से होकर पच्छिम की ओर ले गया। एक 'बस' हबड़ा की ओर जाने के लिए तैयार खड़ी थी। उसी पर हम दोनों बैठ गए।

कुछ ही देर बाद 'बस' रवाना हुई। कई जगहों पर ठहरती हुई जब हबड़ा से भी आगे निकल गई तब एक 'स्टैण्ड' पर बनवारी ने मुझसे उतरने को कहा और स्वयं भी उतरा।

वहाँ उतरकर हम लोग फिर काफी दूर तक पैदल गये। एक अपेक्षाकृत निर्जन स्थान पर पहुँचने के बाद बनवारी एक गली के भीतर मुझे ले गया जहाँ कच्चे मकानों के बीच में पुराने ढंग के दो-चार छोटे-छोटे पक्के मकान भी थे। दो आवारा मरियल कुत्तों ने हम पर भूँकना शुरू किया। कुछ बत्तखें नाली के गन्दे पानी पर चोंच डालती हुई 'क्याँक्-क्याँक्' की आवाज करती हुई चली जा रही थीं। मुर्गियाँ और मुर्गे इधर-उधर दाना चुगते हुए 'कुड़-कुड़' और 'गुट्टर-गुट्टर' की आवाज गले से निकाल रहे थे।

उस गली के भीतर एक दूसरी गली में हम लोगों ने प्रवेश किया और उसके बाद उसके भी भीतर एक तीसरी गली में पहुँचे। वहाँ सामने एक काफी लम्बी-चौड़ी और बहुत पुरानी चहारदीवारी दिखाई दी। वे दीवारें इस हद तक पुरानी थीं कि उनकी ईंटें गलने लगी थीं और उनमें से लाल खुरचन झड़कर गिर रही थी। जगह-जगह ईंटें उखड़ गई थीं और सामने की दीवार बाहर की ओर पेट फुलाई-सी दीखती थी। ईंटों के बीच-बीच में घास-फूस और छोटे-छोटे पौधे उग आये थे।

बिना किवाड़ के एक दरवाजे के भीतर हम लोग घुसे। चहारदीवारी के भीतर प्रवेश करने पर एक मकान दिखाई दिया। मकान भी बहुत पुराना लगता था। दरवाजा भीतर से बन्द था। बनवारी ने खटखटाया, दो-तीन बार खटखटाने पर बड़े मोटे गले से "के है हो?" की आवाज आई। बनवारी ने नाम नहीं बताया। कहा, "खोलो!" कुछ देर तक न भीतर से कोई आवाज आई, न दरवाजा खुला। बनवारी ने फिर खटखटाया। अन्त में किसी ने "के है भाई," कहकर दरवाजा खोल ही दिया। दरवाजा खोलनेवाला एक तगड़ा, जवान आदमी था। "कौन, बनवारी? क्या हाल है? इस टैम में कहाँ से चले आ रहे हो?" उसने पूछा।

"स्टेशन से आ रहा हूँ। नवाब ने इस आदमी को भेजा है। करीम चाचा कहाँ हैं? उन्हीं से काम है।"

"भीतर खाना बना रहे होंगे," तगड़े जवान ने जवाब दिया और गौर से मेरी ओर देखने लगा।

हम दोनों भीतर घुसे। तगड़े जवान ने फिर भीतर से दरवाजा बन्द कर दिया। कुछ दूर आगे चलने पर दाईं ओर एक काफी बड़ा दालान दिखाई दिया। वहाँ कुछ लोग दण्ड पेल रहे थे, कुछ लोग कुश्ती लड़ रहे थे और कुछ एक-एक गोल और मोटी लकड़ी जमीन पर गाड़कर उठक-बैठक कर रहे थे। एक लंगोट के सिवा उनमें से किसी के शरीर में एक भी वस्त्र नहीं था।

बनवारी वहाँ से होता हुआ बाईं ओर मुड़ा और कुछ दूर आगे चलकर एक कमरे के बाहर खड़ा हो गया जहाँ से धुआँ निकलता हुआ दिखाई दे रहा था। मैं भी उसका अनुसरण करते हुए वहीं पहुँच गया।

"करीम चाचा हैं?" बनवारी ने बाहर ही से आवाज लगाई।

"कौन है?" एक गम्भीर तथापि बहुत ही मीठे कण्ठ से आवाज आई।

"मैं हूँ बनवारी, कुछ काम है तुमसे।"

"चले आओ।"

बनवारी भीतर घुसा। मैं बाहर ही खड़ा रहा। भीतर दोनों के बीच कुछ बातें हो रही थीं जो साफ सुनाई नहीं दे रही थीं। प्रायः पाँच-सात मिनट बाद बनवारी एक आदमी के साथ बाहर आया जिसके सिर के और दाढ़ी के बाल आधे से ज्यादा सफेद हो चुके थे। वह हरे रंग की एक सादी लुंगी पहने था और ऊपर नंगे बदन पर छोटे-छोटे नीले खानोंवाला एक अँगोछा डाले था। उसके चेहरे पर एक बड़ा ही शान्त और सौम्य भाव झलक रहा था, जो उस वातावरण के साथ कतई मेल नहीं खाता था। "भीतर चले आओ, बाहर क्यों खड़े हो?" उस वृद्ध व्यक्ति ने बड़े ही प्रेम भाव से मुझसे कहा। उसकी आँखों की गम्भीरता के भीतर स्नेह-रस इस तरह घुला हुआ था जैसे कड़े फल के भीतर मिठास।

मैं चुपचाप भीतर चला गया। "बैठो", पास ही एक पुराने तख्त की ओर इशारा करते हुए वृद्ध ने कहा। "कुछ खाओगे?"

"अभी खाया है," मैंने कहा।

"अच्छा तो एक प्याला चाय तो पी ही सकते हो।"

मैंने सम्मति जताई।

बनवारी ने कहा, "अच्छा, तो करीम चाचा, मैं चलता हूँ।"

"जा रहे हो? चाय नहीं पियोगे?"

"चाय पी चुका हूँ। अभी जरा काम है एक जगह। अच्छा सलाम!"

"सलाम," केतली में पानी चढ़ाते हुए करीम चाचा ने कहा।

बनवारी चला गया। करीम चाचा केतली को अँगीठी पर रखकर बीड़ी का एक बण्डल और दियासलाई लेकर मेरे पास बैठ गए। "लो पियो," मेरी ओर एक बीड़ी बढ़ाते हुए बोले। एक बीड़ी स्वयं अपने मुँह में डालकर उन्होंने दियासलाई जलाई और पहले मेरी बीड़ी दाबकर फिर अपनी बीड़ी जलाने लगे।

"तो तुम बिटिया को हिन्दी पढ़ा सकोगे ?" जली हुई दियासलाई के टुकड़े को दूर फेंकते हुए और एक कश खींचते हुए चाचा बोले।

"जी हाँ," मैंने बड़े अदब के साथ कहा।

"अच्छी बात है। रहते कहाँ हो ?"

"कभी फुटपाथ में, कभी किसी पार्क में।"

"ओह, समझ गया। यहाँ मौज से रहो। काफी जगह है। कहीं जाने की जरूरत नहीं। यहीं खाओगे, यहीं रहोगे। कलकत्ता कब से हो ?"

"इस बार तो कुछ ही महीने हुए हैं; पर इसके पहले भी कलकत्ता रह चुका हूँ। तब मेरे एक जान-पहचानी आदमी थे, उन्हीं के साथ रहता था। अब वह नहीं रहे।"

"कैसे आये थे ?"

"नौकरी की तलाश में आया था, चाचा। सब जगह कोशिश करके हार चुका हूँ, न कहीं खाने का ठिकाना लग पाता है, न रहने को जगह मिलती है। पुलिसवाले ऊपर से अलग परेशान किये रहते हैं। अब तो मैं आदी हो चुका हूँ, पर पहले बुरी हालत थी मेरी···"

"जमाने की खूबी है बेटा। अगर जमाने में इन्साफ होता, बेकारी न होती, भुखमरी न होती, इन्सानियत का कहीं नामो-निशान भी होता तो आज इन्सान को इन्सान का गला काटने में इस कदर मजा ही क्यों आता। इन आँखों ने बहुत कुछ देखा, अभी न जाने क्या-क्या देखना बाकी है।" कहते हुए चाचा उठे और अँगीठी के पास चले गए। जिस अँगीठी में चाय की केतली चढ़ी हुई थी उसके पास ही दो अँगीठियाँ और सुलग रही थीं। एक पर एक मँझोले आकार की देगची में कुछ पक रहा था। देगची में से ढक्कन उतारकर चाचा उस पर करछुल चलाने लगे। बड़ी अच्छी खुशबू आ रही थी। कुछ देर तक करछुल चलाने के बाद चाचा ने देगची को फिर से ढक दिया। उसके बाद अन्तिम

अँगीठी पर रखी हुई देगची का ढक्कन उन्होंने हटाया और उस पर भी उसी तरह करछुल चलाने लगे। कुछ देर बाद उस पर भी उन्होंने फिर उसी तरह ढक्कन चढ़ा दिया। तब तक केतली का पानी सिसकारी भरने लगा था। सिसकारी समाप्त होने पर जब पानी खौलने लगा तब चाचा ने पास ही रखे चाय के एक बण्डल से दो चम्मच चाय की पत्तियाँ निकालीं और केतली का ढक्कन हटाकर उसमें उन पत्तियों को डाल दिया। फिर ढकना चढ़ाकर केतली नीचे उतार ली। उसके बाद दो प्यालों में चाय ढालकर, दूध-चीनी मिलाकर चाचा तश्तरियों के साथ दोनों प्यालों को तख्त पर ले आए। एक प्याला मेरी ओर बढ़ाकर दूसरा प्याला उन्होंने अपने आगे रख लिया। अपने प्याले की चाय तश्तरी पर ढालकर तश्तरी को मुँह से लगाते हुए बोले, "वाह, क्या बढ़िया चाय बनी है! क्यों, पसन्द आई तुम्हें या नहीं?"

मैंने भी उन्हीं की तरह तश्तरी में चाय ढालकर पीना शुरू कर दिया था।

"सचमुच बहुत अच्छी बनी है," मैंने कहा। मैं चाय का कोई पारखी नहीं था। पर एक तो आज बहुत दिनों पर पीने को मिली थी, तिस पर मेरी रुचि के अनुकूल बनी थी।

"जिन्दगी भी एक अच्छी-खासी पहेली है, दोस्त!" ऐसा कहते हुए चाचा की तब तक की गम्भीर मुद्रा में सहसा एक मस्ती का-सा रंग चढ़ गया था। दूसरा घूँट लेते हुए बोले, "अब यही देखो न, एक ओर कितनी परेशानियाँ भरी पड़ी हैं—तुम्हारे चेहरे के आईने से अभी तक साफ झलक रहा था कि तुम्हारी जिन्दगी का एक-एक लमहा कैसी मुसीबतों और तरद्दुदों में बीत रहा होगा। पर दूसरी ओर देखो—चाय का एक घूँट पीते ही तुम्हारा सारा नक्शा ही बदल गया। आँखों में खुशी की चमक आ गई, होठ मुस्करा उठे। वाह भाई वाह, इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि जिन्दगी पुरलुत्फ है। परेशानियों के बीच में क्या मजे छिपे हुए हैं, यह तब महसूस होता है जब बीज-बीच में चाय की चुस्कियाँ और हुक्के की गुड़गुड़ाहट चलती रहती है। अगर ऐसा न हो तो हर इन्सान रेल के नीचे कटकर मरने लग जाय। अभी तुम्हें वह ठाटदार हुक्का पिलाता हूँ दोस्त, कि तुम्हारी सारी परेशानियाँ धुआँ बनकर हवा में गायब हो जायँगी।"

करीम चाचा चाय जल्दी समाप्त करके उठे और एक बड़े-से नैचे के ऊपर

रखी हुई काले रंग की काफी बड़ी और मोटी चिलम उठाकर उसमें पास ही एक आले पर से तमाखू निकालकर भरने लगे। तमाखू के ऊपर एक मोटा-सा तवा रखकर उन्होंने चिलम को एक किनारे पर रख दिया। उसके बाद एक कोने में रखे हुए लकड़ी के बिना जले कोयले निकालकर उन्होंने अँगीठी पर पत्थर के कोयलों के ऊपर रख दिये। फिर नैचे को उठाकर उसका पानी बाहर गिराकर और उसे एक बार धोकर नया पानी बदला। तब तक लकड़ी के कोयले सुलग चुके थे—बल्कि दहकने लगे थे। चिमटे से उन अंगारों को निकाल-निकालकर वह चिलम में रखने लगे। उसके बाद चिलम को नैचे पर रखकर उसे उठाकर तख्त के पास वह आये। दो-चार बार खूब अच्छी तरह कश खींचने के बाद बोले, "वाह क्या महक रहा है! क्या फस्ट किलाश तमाखू है चमरुसाह के यहाँ का! आज ही गया से एक आदमी लाया है। मैंने कहला दिया था कि बढ़िया किस्म की चीज लाना। वाकई चीज बढ़िया है। तबीयत खुश हो गई। लो पीओ···" कहकर उन्होंने हुक्का मेरी ओर बढ़ा दिया।

मैंने पहला ही कश जो खींचकर लगाया तो बुरी तरह खाँसी आने लगी। जब मैं खाँसी के उस दौर से सँभला तब चाचा बोले, धीरे-धीरे खींचो। यह कोई ऐसा-वैसा तमाखू नहीं है। गया के मशहूर चमरुसाह के यहाँ का है। आज तो सब जगह सभी चीजों में मिलावट होने लगी है। तमाखू भी मिलावट से नहीं बचा। फिर भी चमरुसाह के खानदानवाले अभी तक पुराना रवैया किसी-न-किसी हद तक कायम रखे हुए हैं। तमाखू तो मिलता था तुम्हारे लखनऊ में। वह नवाबी ठाठ की चीज मिलती थी कि एक फूँक मारते ही तबीयत बाग-बाग हो जाती थी। पर अब वहाँ के तमाखू में भी कुछ दम न रहा। क्या करें बेचारे तमाखूवाले! जो मसाला लड़ाई के पहले पचीस रुपया मन बिकता था अब सात सौ रुपया मन बिकता है। इस अन्धेर के साथ कौन दौड़ लगा सकता है। धीरे-धीरे पीओ, तब है इसका मजा···" मुझे फिर खाँसी आते देखकर चाचा ने अन्तिम बात कही।

मुझे सचमुच बहुत ही सुख मिल रहा था। खाँसी आरम्भ में केवल इसलिए आई थी कि मैं अभी हुक्के के साथ अपनी आदत का मेल नहीं बिठा पाया था। जब करीम चाचा की हिदायत के अनुसार मैंने 'धीरे-धीरे,' जमकर पीना शुरू किया तब मुझे लगा जैसे वास्तव में मेरी सभी 'परेशानियाँ' धुआँ बनकर हवा में उड़ने

लेंगीं।

चाचा कभी एक देगची का ढक्कन उठाकर करछुल चलाते थे, कभी दूसरी देगची का। साथ ही मुझसे बातें करते जाते थे, "जिन्दगी में अगर चाय और तमाखू का इन्तजाम ठीक रहे—दोनों चीजें वक्त पर मिलती चली जायँ—तब जन्नत का सुख इससे बढ़कर और क्या हो सकता है, मैं तो इस उम्र तक भी न समझ पाया।"

"क्या उम्र होगी आपकी, चाचा ?" मैंने इतमीनान से हुक्का गुड़गुड़ाते हुए कहा।

"सत्तर से दो-एक साल ज्यादा ही होगी।"

"पर आप तो साठ से भी कम के लगते हैं···"

"अरे तो हम लोग कोई आजकल के—डालडा के जमाने के—लड़के थोड़े ही हैं। असली घी खाया है हम लोगों ने, असली। अभी ताकत के वो करिश्में दिखा सकता हूँ कि आज के बड़े-बड़े जवानों की जवानी सिर झुका ले।" कहते हुए चाचा ने दोनों आस्तीन चढ़ाकर अपनी कसरती बाँहें दिखाईं। और सचमुच वह बुड्ढा शरीर से और मन से भी अभी तक पूरा जवान था।

"हाँ तो चाचा," मैंने विषय को एक नया मोड़ देने के लिए कहा, "आपकी यही राय है न कि अगर चाय और हुक्के का ठीक-ठीक इन्तजाम रहे तो जन्नत के पूरे मजे इसी दुनिया में मिल जायँ। क्यों, है न ?"

"बिलकुल यही बात है," करछुल चलाते हुए चाचा बोले।

"पर यह बताइये कि अगर हर आदमी अपनी हालत से इसी तरह सन्तोष कर ले तो दुनिया की आज जो हालत है उसमें सुधार कैसे होगा ? चारों ओर जो भुखमरी और बेकारी फैली हुई है और यहाँ तक नौबत पहुँच चुकी है कि लाखों आदमी गिरहकटी, चोरी और डकैती के बिना जी ही नहीं पाते, आदमी आदमी का गला काट रहा है, लड़ाइयों के सबब लोगों को कुत्तों की मौत मरने के लिए लाचार किया जा रहा है, सब जगह हाय-हाय मची हुई है, घर-घर में तरह-तरह की बीमारियाँ फैली हुई हैं या फैलाई जा रही हैं, कहीं चैन नहीं है और किस्म-किस्म की तकलीफों ने जिन्दगी को नरक बना रखा है—इन सब परेशानियों के बावजूद अगर कोई उन मुश्किलों को आसान करने की कोशिश में न लगकर हुक्का गुड़गुड़ाता हुआ यह सोचे कि चारों ओर जन्नत-ही-जन्नत है, तो

क्या यह आपकी नजर में आदमी की समझदारी की निशानी है ?"

मेरे प्रश्न से चाचा को कुछ खरोंच-सी लगी। कुछ क्षण तक मेरी ओर गम्भीर दृष्टि से देखते हुए बोले, "तुम समझे नहीं, दोस्त, मेरी बात को ठीक से। मैंने यह कब कहा कि इन्सान दुनिया के सारे मुश्किलात की ओर से मुँह फेर ले और आँखें बन्द कर ले। जब तक किसी के दम-में-दम है तब तक हर इन्सान को इन्सानियत के लिए लड़ना चाहिए। पर इसका यह मतलब हर्गिज नहीं कि चाय और हुक्के की शक्ल में जो दो नखलिस्तान आज की जिन्दगी के सारे रेगिस्तान के बीच में बचे हुए हैं उन्हें भी ठुकरा दे। इसे मैं गदहागीरी मानता हूँ, तरक्की नहीं। अब तुम्हीं ईमानदारी से बताओ कि हुक्के ने तुम्हारी सारी मायूसी को काफ़ूर कर दिया या नहीं ?"

"यह बात तो आपने सच कही," मैंने हुक्का गुड़गुड़ाते हुए कहा।

"तब इसी बात से हकीकत समझ लो," दोनों देगचियों में एक-एक करके पानी छोड़ते हुए करीम चाचा बोले। पानी छोड़ने से आग बुझाने की सी छंया-छंया-छंया आवाज हुई। पानी डालने के बाद फिर से ढकना चढ़ाकर चाचा तख्त पर आकर हुक्का पीने की मुद्रा में उकड़ूँ बैठ गये। मैंने हुक्का उनकी ओर बढ़ा दिया।

नैचे की साफ की हुई मोटी नली से कसकर धुआँ खींचते और मशीन-गन की तरह 'गड़-गड़-गड़-गुडुम' शब्द निकालते हुए चाचा कुछ देर तक मौन रहे। लगता था जैसे गम्भीर चिन्ता में मग्न हो गए हों। फिर सहसा बोल उठे, "अच्छा भाई, अब देर हो गई। चलो तुम्हें पहलवान के पास ले चलें।" कहकर हुक्का एक तरफ रखकर वह तख्त पर से उठ खड़े हुए। मैं भी बिना यह प्रश्न किए ही कि कौन है वह पहलवान और उसके पास किसलिए जाना होगा, चुपचाप उठ खड़ा हुआ।

हम दोनों दरवाजे से बाहर निकले। चाचा ने बाहर से दरवाजे पर साँकल चढ़ा दी। उसके बाद बाएँ हाथ एक दूसरे मकान की ओर वह मुझे ले गये—वह दूसरा मकान, जो कि बगल ही में चहारदीवारी के भीतर ही उतना पुराना नहीं दिखाई देता था कि जितना पहलेवाला मकान। सामनेवाला दरवाजा खुला था। करीम चाचा मुझे चले आने का संकेत करके भीतर घुसे और फिर सीढ़ियों से होकर सीधे ऊपर चढ़ गए। मैं भी पीछे-पीछे ऊपर पहुँचा। वहाँ

बाहर छत पर साँवले रंग का एक प्रायः दैत्याकार मनुष्य केवल एक लँगोटा पहने हुए एक चटाई पर पाँव पसारे बैठा हुआ था और दो-तीन आदमी लाल रंग के एक बहुत गाढ़े किस्म के तेल से उसकी मालिश कर रहे थे। उस गाढ़े लाल तेल से उस आदमी का सारा शरीर चिकना होकर चमक रहा था। लगता था जैसे उससे खून चू रहा हो। पास ही एक आदमी एक बड़ी-सी कूँड़ी पर किसी सफेद-सी चीज को एक मोटे सोटे से रगड़ रहा था। सम्भवतः बादाम घोटा जा रहा था। ऐसा लगता था जैसे बारीक पिसी हुई मिट्टी को अच्छी तरह फेंट दिया गया हो।

"कहो चाचा, क्या हाल हैं?" दैत्याकार पहलवान मालिश कराता हुआ तनिक गुरु-गम्भीर स्वर में बोला।

"कोई खास बात नहीं है, पहलवान। नवाब ने इस आदमी को भेजा है, बिटिया को हिन्दी पढ़ाने के लिए।"

पहलवान ने एक बार गौर से मेरी ओर देखा। मुझे उसका मोटा शरीर और मोटी तोंद हास्यास्पद-सी लग रही थी और मालिश करनेवाले उसे और अधिक हास्यास्पद रूप देते चले जा रहे थे। इसलिए मैं बरबस हँसी रोकता हुआ अत्यन्त गम्भीर मुद्रा धारण करने का प्रयत्न कर रहा था।

"तुमने बातें कर ली हैं?" पहलवान ने, जिसकी गर्दन के नीचे मालिश चल रही थी, सिर तनिक झुकाते हुए पूछा।

"हाँ। मुझे तो आदमी पसन्द है। बाकी पढ़ाई-लिखाई का हाल बिटिया ही बता सकती है।"

"अगर तुम्हें पसन्द है, तब फिर क्या बात है। रख लो। तुम्हीं ले जाकर बिटिया से मिला दो और सब समझा दो।"

"अच्छी बात है। तब मैं चलता हूँ।" और फिर मेरी ओर देखकर बोले, "चले आओ मेरे साथ।"

हम दोनों फिर सीढ़ियों से नीचे उतरे। दाईं ओर एक सहन था। वहाँ उतरकर मकान के भीतर ही हम लोग छोटे से फाटक के भीतर घुसे। मैंने देखा कि भीतर एक और सहन है जो पहलेवाले से कई गुना बड़ा है। सहन के चारों ओर ऊपर-नीचे कई कमरे थे। पूरब की ओर ऊपर को देखते हुए चाचा ने पुकारा, "कला, तनिक नीचे उतर आओ बिटिया, तुम्हारे मास्टर साहब आये हैं।"

प्रायः तेरह-चौदह साल की वह लड़की जिसके स्वस्थ सुन्दर मुँह का गेहुँआ रंग कुछ ललाई लिये हुए था, और जो सलवार और फ्रॉक पहने हुए और ऊपर काला दुपट्टा ओढ़े हुए थी, भीतर से बरामदे में बाहर आई और कुछ देर तक मेरी ओर देखती रही। और वह फिर कमरे के भीतर जाकर कुछ किताब-कापियाँ आदि लेकर नीचे आ गई।

नीचे दरवाजे के पास ही बाईं ओर एक बरामदा था; करीम चाचा मुझे वहीं ले गए। वहाँ पर बेंच से प्रायः सटी हुई एक लम्बी बहुत सादे ढंग की पुरानी मेज लगी हुई थी। लड़की जाकर उसी बेंच पर बैठ गई और किताबें उसने मेज पर फैला दीं। मैंने एक-एक करके सब किताबें देखीं। तीसरे और चौथे दर्जे की दो अँग्रेजी की किताबें थीं जिनके ऊपर के पन्ने फटे हुए थे; दो उर्दू के रीडर थे जो दर्जा ६ की हैसियत रखते थे; एक हिन्दी की प्रारम्भिक पुस्तक थी जो अपेक्षाकृत नई थी।

"बिटिया उर्दू तो अच्छी तरह पढ़ लेती है और अँगरेजी भी मेरे जान थोड़ी-बहुत पढ़ और समझ लेती है, पर इसे हिन्दी पढ़ानेवाला कोई ठीक आदमी अभी तक मिला नहीं। छेदी ने इसे ककहरा पढ़ना सिखा दिया था, बस। पर पहलवान की ख्वाहिश है कि यह हिन्दी खूब अच्छी तरह पढ़ना-लिखना सीख जाय और बड़ी-बड़ी पोथियाँ आसानी से समझने लगे। इसी के लिए एक आदमी की जरूरत थी। मेरा दिल बोलता है कि तुम इसके लिए सबसे काबिल आदमी साबित होगे।"

मैंने पहली परीक्षा हिन्दी ही से आरम्भ की। वर्णमालावाले पन्नों को छोड़ कर आगेवाले पन्नों में मझोले टाइप में जो सरल और मात्रारहित शब्द अभ्यास के लिए दिये गए थे उन्हें पढ़ने के लिए मैंने लड़की से कहा। लड़की ने प्रत्येक अक्षर के नीचे उँगली लगाकर धीरे-धीरे प्रत्येक शब्द ठीक-ठीक पढ़ दिया। उसके बाद मैंने मात्रावाले शब्दों को पढ़ने के लिए कहा। उन्हें पढ़ने में उसे कुछ देर अवश्य लगी, पर पढ़ा उसने ठीक ही। फिर मैंने लिखावट की परीक्षा ली। मैंने कहा, "लिखो—'पानी लाओ'।" वह एक बार भोली मुद्रा से मेरी ओर आधी दृष्टि से देखकर मुस्कराई, और फिर पेंसिल लेकर कापी पर धीरे से लिखने लगी। जब लिख चुकी तब मैंने देखा कि अक्षर टेढ़े-मेढ़े होने पर भी पढ़े जाने योग्य थे। केवल 'पानी' की 'नी' उसकी लिखावट में 'नि' बन गया था। मैंने उस

छोटी-सी गलती को सुधारते हुए चाचा से कहा, "अच्छा लिख लेती है। पढ़ना भी जितना सीख चुकी है उससे मुझे पूरी उम्मीद है कि यह जल्दी ही बहुत सीख लेगी।"

"हाँ, बस मश्क की जरूरत है," मेरी बात की ताईद करते हुए चाचा ने कहा। "अच्छा तो मैं चलता हूँ। तुम अभी एक-आध घण्टा इसे पढ़ाओ। तब तक मैं खाना तैयार कर लेता हूँ। तुम वहीं आना, फिर साथ ही खाएँगे!"

यह कहकर चाचा चले गए। मैं उस लड़की के साथ अकेले रह जाने पर एक अजीब से मूर्खतापूर्ण संकोच का अनुभव करने लगा। इतने में दाईं ओर-वाले बरामदे में किसी के पाँवों की आहट सुनकर मैंने देखा, प्रायः चालीस वर्ष की एक औरत सफेद रंग की और नीली फूलदार किनारीवाली एक साड़ी पहने खड़ी थी और भौंहों के ऊपर तक का छोटा-सा 'घूँघट' निकालकर, बड़े ध्यान से—उत्सुकता और कुतूहल से—हम दोनों की ओर देख रही थी। उसकी आँखों में काजल था और कपाल में एक लाल-चमक बिन्दी थी। वह काफी स्वस्थ और साँवली दिखाई देती थी। यह जानकर कि मैं उस छोटी-सी लड़की के साथ अकेला नहीं हूँ, मैं कुछ आश्वस्त हुआ और लड़की को संयुक्त अक्षरोंवाला सबक पढ़ाने लगा। एक पृष्ठ पूरा पढ़ा चुकने के बाद मैंने उसे उन्हीं संयुक्त अक्षरों को लिखना सिखाया।

इस तरह जब प्रायः एक घण्टे का समय हो गया तब मैं उठा। जब जाने लगा तब वह औरत जो दाईं ओरवाले बरामदे में एक बोरे पर बैठी हुई थी, मेरे सामने उसी छोटे से घूँघटवाली स्थिति में आकर खड़ी हो गई। बड़े ही स्नेह से मुस्कराते हुए उसने आधी दृष्टि से मुझे देखते हुए कहा, "बिटिया को इसी तरह एक या दो घण्टे पढ़ा दिया करो, भैया! जल्दी हिन्दी पढ़ना सीख ले तो फिर कहीं शादी-वादी का ठीक लगे। अभी तक उर्दू पढ़ती रही, बड़ी मुश्किल से राजी हुई हिन्दी पढ़ने को। जब मैं करीम चाचा के गोड़ गिरी तब अब इन्त-जाम हो सका है, इसे हिन्दी पढ़ाने का। अब तुम आ गए हो भैया, तुम्हारे भी गोड़ गिरती हूँ। अब तुम्हारे ही हाथ में है—मुझ पर और इस पर दया करके इसे जल्दी इस लायक बना दो कि इसकी शादी कहीं ठिकाने से हो जाय।" और यह कहती हुई वह अचानक आँसू गिराने लगी। उन प्रतिक्षण मुस्कराती हुई-सी कज-रारी आँखों से इस तरह, बिना पूर्वसूचना के, आँसू ढुलक पड़ेंगे, इसकी कोई

कल्पना मैंने नहीं की थी।

मैंने घबराई हुई आवाज में कुछ हड़बड़ाहट के साथ कहा, "अरे, यह क्या करती हो! इसमें रोने की क्या बात है! मैं जरूर इस बात की पूरी कोशिश करूँगा कि लड़की जल्दी ही अच्छी तरह हिन्दी पढ़ने-लिखने लगे। इतमीनान रखो।"

"बस, तुम्हारे ही सरन हूँ, भैया,···" कहकर वह सचमुच मेरे पाँव पकड़ने लगी। मैं स्तब्ध था। कुछ सोच ही नहीं पाता था कि मामला क्या है।

"घबराओ मत, सब ठीक हो जायगा," कुछ न समझते हुए भी मैंने कहा और तेजी से बाहर निकल गया।

करीम चाचा के पास जाकर ही मैंने दम ली।

"बैठो दोस्त, आ गए तुम!" सहज प्रसन्नता से करीम चाचा बोले।

"हाँ आ गया, चाचा," प्रायः हाँफते हुए मैंने कहा।

"कैसी है बिटिया पढ़ने-लिखने में?"

"दिमाग तो उसका काफी तेज है।"

"हाँ? तब तो बड़ी खुशी की बात सुनाई तुमने," आन्तरिक स्नेहभरी प्रसन्नता आँखों में छलकाते हुए चाचा ने कहा।

"हाँ चाचा, बड़ी होशियार लड़की है, जल्दी ही सब कुछ सीख लेगी। पर एक बात···"

"क्या बात है?" बड़े कुतूहल से चाचा ने पूछा।

"कुछ नहीं, यों ही······"

"आखिर कुछ बताओगे भी?"

"बात यह है चाचा, कि यहाँ की सभी बातें मुझे कुछ अजीब भेदभरी-सी लगती हैं। कोई भी बात ठीक से, सीधे ढंग से समझ में नहीं आती। जब मैं उस लड़की को—उसका क्या नाम बताया था आपने?"

"कला···"

"हाँ ठीक है, कला; जब मैं कला को पढ़ा रहा था तब एक औरत नीली

फूलदार किनारी की सफेद साड़ी पहने वहीं पास में बैठी थी। जब मैं पढ़ाकर चलने लगा तब वही फौरन मेरे पाँव पकड़कर रोने लगी और कहने लगी कि 'इसे जल्दी हिन्दी सिखा दो, जिससे इसकी शादी जल्दी ही तय हो जाय।' हिन्दी सीखने से और शादी से क्या सम्बन्ध है, मैं अभी तक कुछ समझ न पाया।"

करीम चाचा सहसा कुछ गम्भीर हो गए। चिलम की राख गिराकर उसमें नया तम्बाकू भरते हुए बोले, "यह बात तुम्हें जरूर राजभरी लगती होगी। वैसे तो यह एक लम्बा किस्सा है, पर मोटे तौर पर तुम यह जान लो कि कला एक हिन्दू तवायफ की लड़की है। मरते वक्त उसकी अम्मा मुझे गवाह बनाकर पहलवान से कह गई थी कि बिटिया की शादी चाहे जैसे भी हो किसी हिन्दू लड़के से करना···"

"तब क्या कला की माँ मर चुकी है?"

"हाँ, जब यह दो साल की थी तभी।"

"तब वह औरत कौन थी जो मेरे पाँवों पर गिर पड़ी थी?"

"वह बिटिया की दाई है। उसी ने बचपन से कला को पाला है।" कहकर चाचा बाएँ हाथ में चिलम और दाएँ हाथ में चिमटा लेकर अँगीठी के पास गये जहाँ पहले ही से लकड़ी के कोयले खास तौर से तम्बाकू के लिए जलने के लिए रख दिए गए थे।

"अच्छा तो चाचा, आपका क्या खयाल है, कला को कोई हिन्दू लड़का मिल जायगा?"

"इसके लिए कोशिश तो हम लोग पूरी कर रहे हैं। तरक्की-पसन्द हिन्दू लड़का राजी भी हो गया है। हमारे यहाँ बचई नाम का एक हिन्दू पहलवान है। वह कुश्ती लड़ने में उतना सयाना नहीं है जितना लाठी चलाने में। उसी गाँव का है वह लड़का। किसी दफ्तर में वह मुन्शीगीरी या इसी तरह का कुछ काम करता है और सौ-डेढ़-सौ रुपल्ली पाता है। लड़का यतीम है। उसके न माँ-बाप हैं, न और कोई रिश्तेदार। कला को उसने देखा था। बिटिया उसे पसन्द आई, पर यह देखकर उसे बहुत बुरा लगा कि बिटिया एक हरफ भी हिन्दी पढ़ना नहीं जानती। उसने इस बात पर जोर दिया कि उसे हिन्दी पढ़ाई जाय और जब तक वह कम-से-कम छठी या सातवीं जमात तक की हिन्दी नहीं सीख लेती तब तक वह शादी न करेगा। मैं मानता हूँ, यह उसकी एक खाम-खयाली ही है, पर कोई

बुरी खाम-खयाली नहीं । अगर बिटिया हिन्दी क्या बंगाली भी सीख ले तो उसमें हर्ज ही क्या है । जितनी भी जबानें सीख लेगी उसका जहन बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं । इसलिए मैंने ही पहलवान पर इस बात के लिए जोर दिया था कि किसी हिन्दी जाननेवाले को बुलाना चाहिए । बहुत ढूँढ़ने पर भी कोई मन का आदमी मिलता नहीं था । वह लड़का खुद पढ़ाने में सकुचाता है । तुम इत्तफाक से ही मिल गए, दोस्त । मैं बहुत खुश हूँ तुमसे मिलकर । वैसे बहुत से आदमियों के बीच में हूँ । यहाँ के सभी अखाड़िये मेरी इज्जत करते हैं । पहलवान तो मुझे अपने बाप की ही तरह मानता है । छुटपन से मेरे ही साथ रहा है । इसका बाप कादिर अली बनारस का मशहूर पहलवान था । वह मेरे बचपन का साथी था और मरते दम तक मुझे अपने सगे भाई की तरह मानता रहा । जब मरने लगा तब उसका लड़का—यही पहलवान—बीस साल का रहा होगा । आवारा लड़कों की सोहबत में पतंग उड़ाना, बुलबुल और बटेर लड़ाना, जुआ खेलना, शराब पीना, और भी न मालूम क्या-क्या बेहूदगियाँ सीख गया था । कादिर अली ने उसे बुलाकर उसका हाथ मेरे हाथ में थमाते हुए कहा : 'करीम, मैं तो अब इस दुनिया से हमेशा के लिए कूच करने जा रहा हूँ । सईद आज से तुम्हारा बेटा है । देखना अपने खान-दान की इज्जत और शोहरत में कहीं ऐसी कालिख न पोत दे कि फिर कभी धुलने ही न पाए । इससे ज्यादा और तुमसे कुछ नहीं कहूँगा ।' और दोस्त, खुदा का शुक्र है कि इसने मेरी लाज रख ली । मैंने इसे बुरी सोहबत से छुड़ाकर इसके लिए दो उस्ताद रखे । एक ने इसे उर्दू-फारसी पढ़ाई और दूसरे ने दंगलबाजी के ऐसे करिश्मे सिखाए कि आज उसने अपने मरे हुए बाप की शोहरत में चार चाँद लगा दिये हैं । आज सईद पहलवान का नाम तमाम हिन्दुस्तान में मशहूर है । और आदमी भी वह बड़ी तबीअत का है···" कहते हुए चाचा हुक्के पर चिलम चढ़ा-कर तख्त के पास ले आए ।

तख्त के ऊपर उकड़ूँ बैठकर धीरे-धीरे हुक्का गुड़गुड़ाते हुए बोले, "इन्सान जब बदलता है तब क्या-से-क्या हो सकता है । अब इसी सईद को देखो । शुरू जवानी में इसका जो रवैया मैंने देखा था, उसकी याद से आज भी मेरा दिल दहल उठता है । कोई ऐसा ऐब नहीं जो इसमें न रहा हो । पर वाह रे अल्लाह मियाँ, कुदरत की शान कुछ निराली है । बाप के मरने के बाद से जो यह सँभला है तो फिर आज तक बराबर खरे सोने की तरह इसका भीतरी रंग बराबर निखरता

ही चला गया है। कभी किसी भी बात में मेरी मुखालफत नहीं करता, बल्कि मुझसे पूछे बिना कोई काम ही नहीं करता। आदमी कितना सच्चा है इसकी मिसाल तुम्हारे सामने ही है। चूँकि बिटिया की अम्माँ—चम्पा बाई—मरते वक्त उससे कह गई थी कि बिटिया को हिन्दू कायदे से रखना और किसी हिन्दू लड़के से ही उसकी शादी करना, इसलिए वह बराबर उसकी बात का खयाल रखता आया है। और चम्पा की भी क्या बात कहूँ, वह सचमुच चम्पा ही थी, दोस्त !" इतना कहकर चाचा ने हुक्का मेरी ओर बढ़ा दिया।

बुड्ढे की पलकें भीग आई थीं। मैं मौन भाव से हुक्का गुड़गुड़ाता जाता था, हालाँकि अब चिलम में कुछ भी दम शेष नहीं रह गया था। मुझे इतनी देर तक ऐसा लग रहा था जैसे मैं एक ऐसे बीते हुए विचित्र युग की पौराणिक गाथा सुन रहा होऊँ, जिसकी यथार्थता का तनिक भी अनुभव या अनुमान मुझे नहीं हो सकता था। ऐसा नहीं कि करीम चाचा की बात पर मुझे अविश्वास हो रहा हो, पर जिस युग की जिन परिस्थितियों की और जिस व्यक्तित्व से सम्बन्धित आपबीती कहानी उन्होंने आन्तरिक भावावेग के साथ सुनाई उसका मेरी कल्पना में कोई मेल ही नहीं बैठता था। केवल रह-रहकर एक मीठी और करुण-कोमल उदासी मेरे प्राणों को हल्की वासन्ती हवा के हिलोरों के साथ हौले-हौले हिला रही थी।

चाचा सहसा उठे और हुक्का ताजा करने के उद्देश्य से उन्होंने चिलम उठा ली। चिलम के बचे हुए अंगारे और राख अँगीठी में डालते हुए बोले, "क्या जमाना था वह भी, दोस्त ! लगता था जैसे अलफ-लैला की दुनिया में हम रह रहे हों, क्या वह जमाना फिर लौट के आ सकता है ? हरगिज नहीं। मैं अपने लिए नहीं कह रहा हूँ, नई पीढ़ी के लिए अफसोस कर रहा हूँ। अब क्या उस तरह की महफिलें कभी देखने में आ सकती हैं या उस तरह के गाने कभी सुनने को नसीब हो सकते हैं ! आज के नौजवान छोकरे फिल्मी दुनिया की मनचली छोकरियों के मिमियाने और पिनपिनाने पर सौ जानों से फिदा रहते हैं। क्या कहर आया है दुनिया में आज—न अदब रह गया है, न ईमान···।"

मैं बहुत देर से चुप था, पर चाचा का अन्तिम मन्तव्य सुनकर रह न सका। मैंने गम्भीर भाव से कहा, "चाचा मुझे आश्चर्य होता है जब मैं आप जैसे समझदार आदमी के मुँह से उस जमाने की तारीफ सुनता हूँ जब कुछ हसीन लड़कियों को सिरफ इसलिए उस्तादी गाना और तहजीब सिखाया जाता था कि वे पैसे के

लिए मरदों को रिझावें और अपनी अस्मत बेचें। उनसे आज की फिल्मी छोकरियाँ क्यों बुरी हो गईं जो दूसरों के दबाव में नहीं, बल्कि अपनी इच्छा से पूरी आजादी के साथ, अपनी जिन्दगी की गाड़ी को खुद चलाती हैं। मुझे स्वयं फिल्मी जीवन कतई नापसन्द है, पर जब आप पिछले जमाने की गानेवालियों की जिन्दगी की तारीफ करते हैं तब उनके मुकाबिले में···"

चाचा चिलम तैयार करना भूलकर बड़े आश्चर्य से मेरी ओर देखते रह गये। उनके मुख की मुद्रा अत्यन्त गम्भीर हो आई थी और वह चकित भाव से आँखें फाड़-फाड़कर मेरी ओर देख रहे थे। अन्त में वह रह न सके और मेरी बात पूरी होने के पहले ही मुझ पर सहसा बरस पड़े। वह अपनी कमर कुछ झुकाकर और दाढ़ी तनिक मेरी ओर बढ़ाकर बड़े तीखेपन के साथ बोले, "देखो जी, तुम्हें यह बात जान लेनी चाहिए कि मैं तुमसे कुछ कम तरक्कीपसन्द नहीं हूँ। दकियानूसी रिवाजों, कायदों और रवैयों से मुझे कोई मुहब्बत नहीं है। मैं सिरफ उस जमाने के अदब और तहजीब की तारीफ तुमसे कह रहा था। मैं मानता हूँ कि एक खास जात की औरतों को उस जमाने में जो चन्द चाँदी के टुकड़ों के लिए किसी भी मर्द के हाथ अपनी अस्मत बेचने को एक तरफ से मजबूर किया जाता था वह बात इन्सानियत के एकदम खिलाफ थी। पर उन औरतों का उसमें क्या कसूर था? वे तो एक रिवाज की शिकार थीं। क्या यह बात उनके लिए काबिले तारीफ नहीं है कि वे अपनी सारी बेबसी और मजबूरियों के बावजूद अपनी आन, शान, इन्सानियत को कायम रखे हुए थीं? आज की जिन्दगी में कुछ ऊपरी तरक्की जरूर दिखाई देती है, पर न वह गहरापन रह गया है, न इन्सानियत के तकाजे की आज कोई दिल से परवाह करता है। तुम्हारी फिल्मी छोकरियों ने ही आज इन्सानियत का कौन-सा ऐसा नया राग अलापा है जो पहले कभी नहीं चलाया गया था? सब बाहरी दिखावा है और कुछ नहीं···" यहाँ पर चाचा ने अपनी कमर सीधी कर ली और सिर भी ऊपर को उठा लिया। उसके बाद एक लम्बी साँस खींचते हुए बोले, "आज की दुनिया ही इस झूठे दिखावे की बुनियाद पर खड़ी होकर हवाई किले बाँध रही है।"

इसके बाद काफी देर तक चाचा चुप रहे और न जाने किस ध्यान में डूबकर चिलम तैयार करते रहे। फिर सहसा बोल उठे, "आज एक ओर तरक्की की बातें सुनने में आई हैं, दूसरी ओर पहले से कहीं ज्यादा अमीरों के हाथों से गरीबों के

गले कट रहे हैं। उनका खून कानूनी कायदों से इस तरकीब से चूसा जा रहा है कि देखनेवालों को कुछ पता नहीं चल पाता; गवाह को कोई सबूत पेश करने को नहीं मिलता। नतीजा यह देखने में आता है कि गरीबों ने भी अपने जीने के नये-नये ढंग अख्तियार कर लिये हैं। दिनदहाड़े गिरहकटी, चोरी और डकैती के जितने मामले आज देखने में आते हैं उतने पहले कभी नहीं देखे गए। हालाँकि पुलिस की ताकत आज पहले से बेइन्तिहा बढ़ गई है, फिर भी खुले-आम, धड़ा-धड़ चोरियाँ और डकैतियाँ हो रही हैं। गरीब लोग सिरफ पुलिस की आँखों में धूल झोंकने का ही ढंग नहीं सीख गए हैं, उसे अपने साथ मिलाने के भी तौर-तरीके उन्हें मालूम हो गए हैं। आज पता ही नहीं चल पाता कि कौन चोर है और कौन भला आदमी। दूर जाने की जरूरत नहीं, यहीं लो। पहलवान के शागिर्दों में जाने कितने गुण्डे, चोर और लुटेरे भरे पड़े हैं। मैंने और पहलवान, दोनों ने मिलकर इस बात की बारहा कोशिशें कीं कि हमारे यहाँ एक भी गुण्डा या बदमाश न घुसने पावे। पर लाख सर पटकने पर भी हमें रत्ती-भर कामयाबी हासिल न हो सकी। क्योंकि कहाँ तक किसको परखें और किस-किसको शागिर्द बनने से मना किया जाय? कइयों को हम डाँट-फटकार निकाल भी चुके हैं, पर फिर भी कोई-न-कोई नया शागिर्द ऐसा आ घुसता है जिसकी बदमाशियों का पता लगाना मुश्किल हो जाता है। हर सच्चे पहलवान का यह फर्ज होता है कि भरसक किसी को शागिर्द बनने से मना न करे और इसी फर्ज की अदायगी में हम लोग मारे जाते हैं। फिर भी यहाँ आने पर बहुत से पेशेवर गुण्डे सुधर गए हैं और इन्सानियत का तकाजा क्या है, यह समझने लगे हैं। पहलवान की मोहब्बत का बड़ा अच्छा असर उन पर पड़ा है। पर सभी के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

"और फिर गुण्डों का भी क्या कसूर है, जबकि सारी दुनिया में ठगी और बेईमानी का बोलबाला है। जब तक उन लोगों के लिए कोई ऐसा इन्तजाम नहीं किया जाता कि वे लोग ईमानदारी से रहकर अपने और अपने बच्चों की गुजर अच्छी तरह कर सकें और भले आदमियों की तरह जिन्दगी बसर कर सकें तब तक उनसे यह उम्मीद कैसे की जाय कि वे अपना रवैया आसानी से बदल देंगे। जो लोग कानून और कायदे के 'रखवाले' हैं वे उन्हें माकूल तरीकों से अच्छे रास्ते पर लाने की कोशिशें करने के बजाय उल्टे जैसे सितम उन पर ढाते हैं उनका ब्योरा जब एक दिन तारीख में लिखा जायेगा तब उसे पढ़कर दुनियावालों के रोंगटे

खड़े हो जायँगे।

"इसके अलावा एक बात तुम्हें और बता दूँ। इन गुण्डों में भी बहुत से ऐसे आदमी मिलते हैं जिनमें इन्सानियत एकदम मर नहीं गई है, बल्कि कभी-कभी उनमें ऐसी हमदर्दी और दरियादिली पाई जाती है कि बहुत से भले-भले आदमी उनके आगे कमीने मालूम होने लगते हैं।

"गुण्डों और जाहिलों की बात छोड़ दो। मैं पूछता हूँ कि आज अस्सी फीसदी पढ़े-लिखे नौजवान जो दर-दर मारे-मारे फिर रहे हैं, जिनकी सारी ताकतें कौम की तरक्की में लगने के बजाय दो जून अपना पेट भरने की कोशिशों में जाया हो रही हैं, और उन कोशिशों में भी जो कोई कामयाबी नहीं हासिल कर पा रहे हैं, खाने-पीने के ठिकाने को बात तो दर-किनारे, जिन्हें पाँव फैलाने के लिए छः फीट बन्द या खुली जमीन तक मयस्सर नहीं हो पाती, उनका इन्तजाम कायदे-कानून के ठेकेदार लोग क्या कर रहे हैं? दुनिया के वे लोग जो खुशहाल हैं, क्या उनके साथ कभी किसी तरह की हमदर्दी से पेश आते हैं? उन खुशहालों के दिलों में हर वक्त यही खौफ बना रहता है कि क्या गुण्डे, क्या पढ़े-लिखे बेकार, क्या मजूर और क्या सरकार, सभी उन्हें लूटने पर तुले हुए हैं और फिर सिर्फ बड़े-बड़े मिलवालों या दूसरे सरमायादारों की बात नहीं है; कोई भी आदमी, अगर वह तनिक भी खुशहाल है, फिर चाहे उसका ताल्लुक सियासती दुनिया से हो या सरकार से, किसी भी गिरी हुई हालतवाले आदमी से बात तक करना पसन्द नहीं करता। हर शख्स आज की दुनिया में इस हद तक खुदगर्ज हो उठा है कि दूसरे का रोना सुनने मुतल्लक फुरसत किसी को नहीं है। आज हर आदमी दूसरे आदमी को शक की नजर से देखता है, हर आदमी यही सोचता है कि वह दूसरे से क्या पा सकता है। दूसरे को वह क्या दे सकता है, यह कोई नहीं सोचता। ऐसा अंधेरा इस जमाने के पहले कभी देखा नहीं गया, भाईजान! आज तरक्की की बातें बहुत सुनने में आती हैं और ये बहुत ही अच्छे आसार हैं, मैं मानता हूँ। आगे चलकर इन्सान वाकई तरक्की करेगा, इस बात की पूरी उम्मीद भी मुझे है। पर अभी जो हाल हैं, उनमें तो तरक्की की बू-बास तक मुझे कहीं नजर नहीं आती, पिछले जमाने में तरक्की चाहे न रही हो, पर इन्सानियत तो थी···"

किस चर्चा से बात कहाँ पहुँच गई! चाचा का धारा-प्रवाह जब थमा तब वह कुछ देर तक शून्य दृष्टि से मेरी ओर देखते रहे। उसके बाद ताजा भरी हुई

चिलम को नैचे में 'फिट' करके फिर तख्त पर चले आए और एक बार कसकर हुक्का गुड़गुड़ाते हुए अत्यन्त शान्त भाव से, स्नेह-भरे स्वर में बोले, "अकेला रहता हूँ दोस्त, इसलिए बहुत-सी बातें मन में भरी पड़ी रहती हैं; आज तुम्हें पाकर बाहर निकल पड़ी हैं। वैसे मुझे माननेवाले और मेरे साथ इज्जत से पेश आनेवाले लोग यहाँ बहुत हैं, पर हैं सब जाहिल। इसलिए मैं सबके बीच में रहते हुए भी सबसे अलग रहता हूँ। जब कोई झगड़े की बात खड़ी हो जाती है और इन्साफ की जरूरत आ पड़ती है, तब पहलवान मुझे बुला लेता है; बाकी मेरा किसी से कोई वास्ता नहीं रहता। यह कमरा है और मैं हूँ। यहीं अपने लिए खाना बना लेता हूँ और रात में इस तख्त पर लेटा रहता हूँ। आज जाने दुनिया के किस कोने से अचानक तुम आ गए। तुम्हें देखते ही मुझे लगा कि यह आदमी है जिसके आगे मैं दिल की बातें कर सकता हूँ। सिर्फ पढ़ा-लिखा होने से ही कुछ नहीं होता। चाहिए समझदारी और इन्सानियत। तुममें ये दोनों चीजें मौजूद हैं, ऐसा मुझे लगा। लो हुक्का पियो, इसके बाद दोनों साथ ही खाना खाएँगे। मैं तब तक दो तश्तरियों में पहलवान के लिए कीमा और कोफता भिजवाता हूँ।" यह कहकर उन्होंने हुक्का मेरी ओर बढ़ा दिया और तख्त पर से उठ खड़े हुए।

"पहलवान का खाना क्या आप ही बनाते हैं!" हुक्का अपनी ओर सरकाते हुए मैंने कहा।

"नहीं, खाना तो उसका अलग बनता है, पर जब तक मेरे हाथ की बनी दो-एक चीजें उसके पास नहीं जातीं तब तक वह खाना मुँह में नहीं डालता।"

वह इनेमल की गई दो तश्तरियों को नल पर धोने लगे। मैंने बहुत धीरे-धीरे हुक्का गुड़गुड़ाते हुए सहसा पूछा, "अच्छा चाचा, एक बात जानने के लिए मैं बहुत उतावला हो उठा हूँ। आप बता रहे थे कि आप कुछ पढ़-लिख नहीं पाए। पर आपकी बातों से तो ऐसा नहीं लगता।"

करीम चाचा मुस्कराए। तश्तरियों को नीचे रखकर, पास ही रखे हुए काठ के एक टूटे और पुराने बक्स के भीतर हाथ डालकर उन्होंने उर्दू के ढेरों दैनिक और मासिक पत्र निकाले। वे मुझे दिखाते हुए बोले, "बस मेरी जानकारी के जरिए ये ही चीजें हैं। इनके आगे मेरे जहान की पहुँच नहीं है। पर हाँ, अकेले में मैं सोचता बहुत हूँ और इन अखबारों और पर्चों की बातों से मैं बहकता नहीं। क्या सही है और क्या गलत, क्या वाजिब है और क्या गैर-वाजिब, क्या

मुमकिन है और क्या नामुमकिन, इसका फैसला मेरा दिमाग खुद करता रहता है।"

मैंने उठकर उन अखबारों और 'पर्चों' को हाथ में लिया। उनमें से कुछ अत्यन्त साधारण कोटि के उर्दू दैनिक थे, जो कलकत्ता ही में छपते थे, और कुछ उर्दू के ही साप्ताहिक और मासिक थे, जो दूसरी जगहों में प्रकाशित होते थे। सर-सरी तौर से दृष्टि डालकर मैंने फिर उन पत्रों को बक्स के भीतर ही डाल दिया और तख्त पर लौटकर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा।

मुझे पाकर चाचा निश्चय ही प्रसन्न थे, इस बात पर मुझे तनिक भी सन्देह नहीं रह गया था। उनकी वह आन्तरिक प्रसन्नता, छोटी-से-छोटी बात से प्रकट होती थी। हुक्का पीने का कितना बड़ा शौक उन्हें होगा, इसका अनुमान सहज में लगाया जा सकता था। पर आज वह स्वयं हुक्के का मजा लेना भूलकर बार-बार केवल मेरे ही लिए जैसे तैयार कर रहे थे। बीच में एक-आध बार जरूर गुड़गुड़ा लेते थे, पर तत्काल मेरी ओर बढ़ा देते थे और फिर बहुत देर तक उसके धोरे नहीं जाते थे। बात-बात में उनकी आँखों में उल्लास चमक उठता था और मेरे प्रति आन्तरिक स्नेह-भावना टपक पड़ती थी।

दरवाजे से बाहर झाँककर चाचा ने एक आदमी को पुकारा। उसके बाद दो तश्तरियों में मांस परोसकर उस आदमी के हवाले करते हुए कहा, "लो, इन्हें पहलवान के यहाँ पहुँचा दो।"

जब वह आदमी चला गया तब चाचा ने कहा, "अब तुम भी हाथ-वाथ धोकर तैयार हो जाओ।"

मैं उठा और हुक्के को एक कोने में रखकर मैंने हाथ धोए। उसके बाद फिर तख्त पर बैठ गया। चाचा ने 'इनेमल' की गई चार तश्तरियों में मांस परोसा और दो छोटी-छोटी अलुमिनियम की कटोरियों में चटनी रखी। उसके बाद अलु-मिनियम की एक थाली में दस-बारह बड़ी-बड़ी तन्दूर की रोटियाँ रख दीं। फिर एक-एक करके उन सब चीजों को तख्त पर सजाकर अँगोछे से एक बार कपाल पर चमकती हुई पसीने की बूँदें पोंछीं। इसके बाद उन्होंने बिजली का बटन दबा कर बत्ती जलाई। तख्त के पास ही फर्श पर एक टोंटीदार झंझर और दो गिलास रख दिए। फिर तख्त पर इतमीनान से बैठते हुए बोले, "आओ अब शुरू किया जाय।"

एक क्षण के लिए मुझे कुछ झिझक हुई और मैं बड़े गौर से तश्तरियों पर

परोसे गये मांस की ओर देखने लगा।

"क्या देख रहे हो" चाचा ने कहा, "हमारे यहाँ—सारी बस्ती में—कोई ऐसी चीज नहीं बनती, जिस पर किसी हिन्दू को कोई एतराज हो, क्योंकि तुम्हारे अलावा बहुत से हिन्दू भाई यहाँ हम लोगों के साथ मुद्दत से रहते हैं। पहलवान के बहुत से शागिर्द और मेरे कई दोस्त हिन्दू हैं। हाँ, अगर तुम्हें गोश्त ही से परहेज हो तो बात दूसरी है।"

"नहीं, मुझे गोश्त से कोई परहेज नहीं है," कहकर मैंने रोटी का एक टुकड़ा तोड़कर एक तश्तरी में डुबोया, और फिर खाना शुरू कर दिया। मांस सचमुच ही बड़ा स्वादिष्ठ बना था।

जब हम दोनों खा-पी चुके और फिर एक बार हुक्का गुड़गुड़ा चुके तब चाचा बोले, "मैं चाहता तो यही था दोस्त, कि हम तुम सोते भी एक ही कमरे में लेकिन यहाँ जगह नहीं है। एक ही तख्त आ सकता है। लिहाजा चलो, तुम्हारे सोने का इन्तजाम किसी दूसरे कमरे में किया जाय।"

हम दोनों बाहर निकले। करीम चाचा मुझे पूरब की ओर ले गये। जिस मकान के दालान में मैंने कुछ लोगों को दण्ड पेलते, कसरत करते और कुश्ती लड़ते देखा था, वहीं पहुँचकर वह एक दरवाजे से भीतर घुसे। उनके पीछे-पीछे मैं भी हो लिया। भीतर जाकर हम लोग सीढ़ियों से होकर ऊपरवाले खण्ड पर पहुँच गये। वहाँ छत की तरह फैला हुआ एक बहुत लम्बा और चौड़ा एक बरामदा था। उससे लगे हुए एक बड़े कमरे में कुछ कसरती जवान फर्श पर एक मैली-सी दरी पर टाँग फैलाये बैठे थे और गप-शप कर रहे थे। चाचा ने उनमें से एक को पुकारकर कहा, "वंशी, आज एक मेहमान को अपने साथ लाया हूँ। यह भी यहीं सोएगा। कोई कमरा खाली है?"

वंशी तत्काल बड़े अदब से उठकर खड़ा हुआ और बोला, "उत्तर की ओर बाएँ हाथवाला कमरा खाली है।"

"तब ठीक है। गफूर से कहकर वहाँ तख्त पर एक दरी बिछवा दो, एक तकिया लाकर रख दो और एक चादर ओढ़ने को दे दो।"

"अच्छी बात है, मैं अभी सब इन्तजाम किये देता हूँ," बंशी ने बत्ती के प्रकाश में परीक्षक की-सी दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा।

चाचा मुझे उसी कमरे में ले गये, जहाँ बंशी ने बताया था। कमरा छोटा था। वहाँ बत्ती नहीं थी, पर बाहर जली हुई बत्ती से अस्पष्ट प्रकाश भीतर पहुँच रहा था। उसी अस्पष्ट प्रकाश में पुरानी दीवारों पर जहाँ-तहाँ मकड़ी के जाले दिखाई दे रहे थे। फर्श पर कई दिन से इकट्ठा हुआ कूड़ा पड़ा था। एक किनारे पर एक तख्त पड़ा था, जिसकी लकड़ी काफी पुरानी हो चुकी थी। खिड़कियों के दरवाजे खोलने पर ठण्डी हवा आने लगी, जिससे जान-में-जान आई, नहीं तो मारे गरमी के दम घुटने-सा लगा था। खिड़कियों के दरवाजों से 'चर्र-चर्र' और 'कर्र-कर्र' की-सी आवाज निरन्तर सुनाई दे रही थी! स्पष्ट ही उसकी पुरानी लकड़ी में घुन लग गये थे जो भीतर-ही-भीतर उसे काट रहे थे।

चाचा ने कहा, "कल यहाँ सफाई करवा दूँगा और बत्ती भी लगवा दूँगा। आज की रात ऐसे ही काट डालो। आज से इस कमरे पर तुम्हारा ही कब्जा रहेगा। दूसरा कोई आदमी यहाँ नहीं आयेगा। अभी दरी आ जाती है। तख्त पर बिछाकर ठाट से पाँव फैलाकर लेट जाना। आओ तब तक बैठकर गपशप करें।" कहकर चाचा तख्त पर बैठ गये। मैं भी उनके बगल में जा बैठा।

थोड़ी देर में एक आदमी दरी, चादर और तकिया लेकर आ पहुँचा। दरी तख्त पर बिछाकर चादर पैताने में सजाकर और तकिया सिरहाने लगाकर चाचा और मैं कुछ देर तक बैठे रहे। उसके बाद चाचा बोले, "अच्छा, अब तुम आराम करो। कल फिर मिलेंगे।" और फिर चले गये।

मैं सचमुच थकावट अनुभव कर रहा था। पिछली कई रातें बेचैनी में बीती थीं और मैं ठीक से सो नहीं पाया था। आज पहली बार मुझे एक अलग कमरा और एक 'पलँग' सोने को मिला था। लेटते ही मैं जैसे घोड़े बेचकर सो गया।

सुबह को चाचा ने आकर मुझे जगाया। मैं तब तक बेखबर सोया हुआ था। चाचा मुझे चाय पीने के लिए अपने साथ बुला ले गये। चाय पीकर, हुक्का गुड़गुड़ाकर मैं प्रातःक्रिया से निवृत्त होने के लिए चला गया। लौटकर जब आया

तब चाचा बोले, "आज तुम अपने ये सब कपड़े धो डालो। बहुत गन्दे हो गए हैं।"

मैंने कहा, "मेरे पास बदलने के लिए कोई कपड़ा नहीं है।"

चाचा ने तख्त के नीचे से एक छोटा-सा बक्स निकाला। उसे खोलकर उसमें से एक धुली हुई लुंगी और एक नई बनियाइन निकाली। उसके बाद एक बड़ा-सा टुकड़ा साबुन का मुझे दिया। फिर बोले, "जाओ, सामने ही नल है। पहले नहाकर कपड़े बदल लो, फिर कपड़े धो डालो।"

मैं चला गया। नहाने और कपड़े धोने में काफी समय लग गया। कपड़े सुखाने की जगह चाचा ने वही बरामदानुमा छत बताई थी जिसके पास मैं रात में सोया था। वहाँ एक रस्सी टँगी हुई थी। वहीं गीले कपड़ों को सुखाने के लिए फैलाकर जब मैं चाचा के पास लौटकर गया तब मुझे देखकर प्रसन्नता से उनकी आँखें भर आईं। बोले, "लगता है जैसे तुमने केंचुली ही बदल डाली हो। लो अब बाल भी बना डालो।" कहकर उन्होंने आले पर से शीशे की एक मैली कुप्पी-सी निकाली जिसमें तेल भरा था। थोड़ा-सा तेल उन्होंने मेरे हाथ में डाला। उसे सिर पर जब अच्छी तरह मल चुका, तब थोड़ा-सा तेल उन्होंने और दिया। उसके बाद कुप्पी को अपनी जगह पर रखकर उन्होंने एक छोटी-सी कंघी निकाली जिसके कई दाँत टूटे हुए थे। हाथ से उसे अच्छी तरह पोंछकर उन्होंने उसे मेरी ओर बढ़ाया। शीशा शायद उनके पास नहीं था। बालों में कई बार खूब अच्छी तरह कंघी फेरकर मैंने कंघी उन्हें वापस कर दी।

"अब बाकी रह गई तुम्हारी दाढ़ी।" चाचा उसी प्रसन्न मनःस्थिति में बोले, "सो तुम चाहो तो दाढ़ी बढ़ा सकते हो, चाहो तो एक नाई बुला दूँ। मेरी तो यही राय है कि तुम दाढ़ी बनवा ही लो। जवानों के चेहरे पर दाढ़ी कुछ जमती नहीं। वैसे अगर दाढ़ी तुम्हारी कुछ बढ़ जाय तो तुम्हारे इस दुबले-पतले चेहरे पर कुछ रोब तो जरूर आ जायगा।" यह कहकर वह खूब हँसे। मैं मन्द-मन्द मुस्कराता हुआ चुप रहा।

मैं तख्त पर बैठ गया। चाचा हुक्का ताजा करने लगे थे। चाचा नल के नीचे नैचे को रखकर उसे खूब अच्छी तरह धोते हुए सहसा, न जाने क्या सोचकर बोले, "अच्छा दोस्त, एक काम तुम क्यों नहीं करते। हमारे यहाँ कसरतबाजों और पहलवानों का एक अच्छा-खासा अखाड़ा रहते तुम इस तरह टिटिहा की-सी

पतली टाँगें लिये बैठे रहो, यह तो कुछ ठीक बात मुझे नहीं लगती। कल से तुम भी क्यों न बाकायदा कसरत करना शुरू कर दो ? एक महीने के भीतर तुम देखोगे, तुम्हारा चेहरा गुलाब की तरह खिल उठेगा, तुम्हारे पुट्ठे लोहे की तरह मजबूत हो जायँगे, तुम्हारी टाँग और बाँहें खूब गठी हुई दिखाई देंगी और सीना चट्टान की तरह हो जायगा।...”

मैं इस बात को एक अच्छा परिहास समझकर, अविश्वासपूर्वक मन्द-मन्द मुस्कराने लगा। पर चाचा अत्यन्त गम्भीर हो उठे। बोले, “मैं मजाक नहीं कर रहा हूँ। मैं सच कहता हूँ, तुम्हारी कायापलट हो जायगी। देखो भाई, जैसे दुबले-पतले, दियासलाई-मार्का आदमी तुम हो, ऐसे आदमी से दुनिया में क्या काम हो सकता है ? किसी भी रोज तुम तपेदिक के शिकार बन सकते हो। एक तन्दुरुस्ती हजार न्यामत ! सेहत ठीक रहेगी तो कम-से-कम तबीयत के साथ जी तो सकोगे। मुसीबतें तो लगी ही रहती हैं। उन्हें झेलने, उनका मुकाबला करने, उनसे लड़कर आगे बढ़ते रहने ही में तो जिन्दगी का असली मजा है। पर अगर सेहत ही ठीक न रहे, तो फिर किस बूते पर मुसीबतों से भिड़ा जा सकता है ? इसलिए, सेहत की परवाह न करना मेरी नजर में एक गुनाह है। यह जिन्दगी के साथ दगाबाजी है। लिहाजा मैं जो बात तुमसे कहता हूँ उस पर खूब अच्छी तरह गौर करो। मेरी बात अगर मानोगे तो जिन्दगी का एक दूसरा ही लुत्फ उठा सकोगे। तुम्हारी आँखों के आगे जिन्दगी का सारा नक्शा ही एकदम बदल जायगा...”

वह ऐसे प्रभावोत्पादक ढंग से, ऐसी गम्भीर मुद्रा में बोल रहे थे कि मेरे मन के ऊपर से उदासीनता का परदा फटकर हट गया। मैं भी सोचने लगा कि अगर मैं चाचा की बात मान ही लूँ तो उसमें हानि ही क्या है ? उससे मेरा बिगड़ता ही क्या है ? और कुछ नहीं तो एक अच्छी दिल्लगी तो रहेगी ही। मैंने कहा, “चाचा, आप जैसा कहेंगे मैं वैसा ही करूँगा।”

“तब ठीक है। मैं आज ही शाम से सब इन्तजाम किए देता हूँ। तुम अभी बहुत कमजोर हो। तुम्हें आहिस्ता-आहिस्ता रफ्तार बढ़ानी होगी और हर रोज मेरी हिदायत के मुताबिक चलना होगा।”

उसी दिन शाम को जब मैं कला को डेढ़-दो घण्टे हिन्दी पढ़ाने के बाद चाचा के पास लौटा तब वह मुझे सीधे अखाड़े में ले गए और उट्ठक-बैठक कराने लगे। एक मोटी-सी गोल लकड़ी जमीन पर गाड़ दी गई थी। उसे दोनों हाथों में पकड़कर मैं एक बार उठता था और एक बार बैठता था। दस मिनट तक लगातार जब वह क्रिया चलती रही तब मैं बुरी तरह थक गया। चाचा ने कहा, "पसीना पोंछ लो और जरा सुस्ता लो।" उनकी आज्ञा का पालन करते हुए मैं धम्म से जमीन पर बैठ गया और लुंगी से पसीना पोंछने लगा।

जो दूसरे लोग वहाँ कसरत कर रहे थे वे मेरा हाल देखकर अच्छे तमाशे का अनुभव करते हुए हँस रहे थे। जब मैं प्रायः दस मिनट तक सुस्ता चुका तब चाचा बोले, "अब फिर शुरू करो।" उनके आदेश का पालन करते हुए मैं फिर दोनों हाथों से उस खम्भानुमा लकड़ी को पकड़कर उट्ठक-बैठक करने लगा। इस बार पहले से भी जल्दी पस्त पड़ गया। मेरा दम फूलने लगा और चाचा कि हिदायत की प्रतीक्षा किए बिना ही मैं जमीन पर चारों खाने चित लेट गया।

चाचा खड़े-खड़े बोले, "आजके लिए इतना ही काफी है। आराम करो।"

मैं काफी देर तक उसी तरह चित लेटा रहा। जब साँस की गति अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ गई तब चाचा ने कहा, "अब उठो, कमरे में चलें। वहीं तख्त पर आराम करना।"

मैं धीरे से उठा और उनके साथ हो लिया। उनके कमरे में पहुँचकर मैं फिर तख्त पर लेट गया। चाचा ने आते ही अँगीठी पर चढ़ी हुई देगची का ढक्कन हटाया और बाएँ हाथ की सँडसी से उसे पकड़ते हुए और दायें हाथ से करछुल चलाते हुए बोले, "मैं इसमें पानी पूरा भर के गया था, पर अब एक बूँद भी नहीं बचा है।"

मैं आँखें बन्द किए हुए था, पर बिना देखे ही आवाज से इतना पता मुझे लग रहा था कि वह देगची के तले को करछुल से खुरच रहे हैं। उसके बाद उन्होंने एक लोटा पानी नल से लेकर उसमें डाला जिसमें 'छ-छ-छ-छ छयाँ' की-सी आवाज आई। उसके बाद फिर देगची पर ढक्कन चढ़ाकर बोले, "मैं अभी आता हूँ, तब तक तुम आराम करो।" उनके पाँवों की आहट से मैंने अनुमान लगाया कि वह बाहर चले गए।

प्रायः पन्द्रह मिनट बाद वह लौटे। मैं तब भी उसी तरह लेटा था। आते ही

बोले, "उठो, गरम-गरम दूध पी लो। सारी थकावट दूर हो जायगी।"

मैंने आँखें खोलकर देखा, उनके हाथ में एक बड़ा गिलास था। मैं धीरे से उठा और चुपचाप उनके हाथ से गिलास लेकर घूँट-घूँट करके दूध पीने लगा। चाचा की ओर न देखने पर भी मैं अनुभव कर रहा था कि वह स्नेह और सन्तोष-भरी दृष्टि से मेरी ओर देख रहे हैं।

जब मैं दूध पी चुका तब करीम चाचा बोले, "आज पहला दिन है। इसके पहले तुम्हें कसरत की आदत कभी नहीं रही, लिहाजा जल्दी ही थक गए। कल और ज्यादा कसरत कर सकोगे और थकावट आज से कम महसूस होगी। परसों कल से भी ज्यादा देर तक टिके रहोगे। इस तरह रफ्ता-रफ्ता आदत बन जायगी और ताकत भी बढ़ती चली जायगी।

मैं उत्तर में कुछ न बोला। फिर चुपचाप लेट गया।

चाचा ने ठीक ही कहा था। दूसरे दिन मुझे कम थकावट महसूस हुई और तीसरे दिन और कम। धीरे-धीरे यह नौबत आई कि मैं लगातार एक घण्टे तक दण्ड पेलने या 'उठक-बैठक' करते रहने पर भी थकता नहीं था। मेरे उत्साह की वृद्धि के साथ-ही-साथ मेरा स्वास्थ्य भी आश्चर्यजनक रूप से सुधरने लगा। भूख बढ़ने लगी और शरीर में उत्तरोत्तर अधिक बल और स्फूर्ति का संचार होने लगा। ज्यों-ज्यों मेरा स्वास्थ्य अच्छा होता गया त्यों-त्यों मैं कसरत का परिमाण भी बढ़ाता चला गया और चाचा उसी अनुपात में मेरी गिजा भी बढ़ाते चले गए। आरम्भ में उन्होंने केवल दूध की मात्रा ही बढ़ाई थी। दूध एकदम खालिस मिलता था और ऐसा मीठा और स्वादिष्ट लगता था कि चीनी डालने की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी, बल्कि चीनी उसका स्वाद नष्ट कर देती थी। चाचा अपनी ही (अर्थात् पहलवान की) 'प्राइवेट' डेयरी से वह दूध लाते थे। बाद में उन्होंने दूध के साथ घुटा हुआ बादाम भी देना आरम्भ किया और धीरे-धीरे बादाम की मात्रा भी वह बढ़ाते चले गए।

तीन महीने बाद एक दिन चाचा ने एक अच्छा-सा शीशा लेकर मेरे हाथ में दिया। मैंने उसमें अपना चेहरा देखा। मैं सच कहता हूँ, क्षण-भर के लिए मुझे

यह भ्रम हुआ कि उसमें प्रतिबिम्बित चेहरा मेरा नहीं है, किसी दूसरे का है। स्वस्थ मांस से पुष्ट और नये रक्त से रंजित मेरे गोरे-उजले मुँह पर ऐसी सुर्खी छाई हुई थी कि लगता था जैसे छूते ही खून चू पड़ेगा। कपाल में एक भी झुर्री नहीं थी, आँखों के नीचे एक भी गढ़ा नहीं था, दोनों पिचके हुए गाल भर गए थे और गालों के ऊपर की उभरी हुई हड्डियाँ ढक गई थीं। आँखों में पहले जो क्षय-रोग-ग्रस्त व्यक्ति की-सी चमक दिखाई देती थी वह अब सजग-स्वस्थ उल्लास में बदल गई थी।

जिस हद तक मैं अपना स्वास्थ्य बढ़ा चुका था उससे मैं काफी सन्तुष्ट था और उससे अधिक उन्नति नहीं चाहता था। पर चाचा को उतने से सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने कहा, "अभी मौका है, अपनी तन्दुरुस्ती को ज्यादा-से-ज्यादा जितना भी बढ़ा सकते हो बढ़ाते चले जाओ। अभी तुम्हें गिजा मिल रही है, उसका पूरा फायदा उठाओ। कल न जाने जिन्दगी की तूफानी हवा तुम्हें किस समुन्दर के किस साहिल पर लाकर पटक दे, कौन कह सकता है! इसलिए अपने बदन की टंकी में वक्त-जरूरत के लिए ज्यादा-से-ज्यादा तेल भरे चले जाओ। भुखमरी क्या चीज है, यह तुम अच्छी तरह जान चुके हो। जिस दिन पहले पहल तुम मेरे पास आए थे उसी वक्त तुम्हारा चेहरा देखते ही मैंने तुम्हारी जिन्दगी की तारीख को आईने की तरह तुम्हारे चेहरे पर साफ लिखा हुआ पढ़ लिया था। मैं मानता हूँ कि तुम्हारे भीतर एक ऐसी अन्दरूनी ताकत है जो तुम्हें भारी भुख-मरी और दूसरी मुसीबतों के बावजूद बराबर आगे की ओर ठेले लिए जा रही है, और वह किस मंजिल तक तुम्हें ले जायगी मैं कह नहीं सकता। लेकिन इस दुनिया में हर ताकत की एक हद होती है। बदन में चरबी रहेगी तो भुखमरी को भी ठेले लिए जाओगे और अगर बदन ही का तेल सूख गया तो फिर तुम्हारी अन्दरूनी ताकत भी कब तक साथ देगी। चुनांचे ताकत का 'इस्टोर' जितना भर सकते हो अभी भर लो।"

और मैंने उनकी सलाह मानकर चलने में कोई हानि न देखी और नित्य अधिकाधिक परिश्रम के साथ कसरत करता चला गया। साथ ही दूध, बादाम, घी, मांस, मछली, अण्डा आदि पौष्टिक चीजों को अपने भीतर जज्ब करता चला गया। चाचा ने मेरे लिए एक नया शीशा खरीद कर रख दिया था और मैं रोज अपने उत्तरोत्तर स्वस्थ और सुन्दर दिखाई देनेवाले चेहरे पर कुछ मिनटों के लिए

गर्व और प्रसन्नता-भरी दृष्टि से देखता रहता था। दाढ़ी मैं अब नियमित रूप से बनाने लगा था और ग्रीक पुराण के नरगिस की तरह अपने रूप पर स्वयं ही मुग्ध होने लगा था।

पर जल्दी ही मुझे अपनी गलती महसूस होने लगी। अपने रूप पर स्वयं ही मुग्ध होने की प्रवृत्ति कहीं मेरे मन को भीतर-ही-भीतर, मेरे अनजान में, घुन की तरह चाटने न लगे, यह आशंका न जाने किस अँधेरे कोने से उभरकर मेरी रक्षा करने लगी। मैंने शीशा देखना छोड़ दिया और जैसे किसी सहज कर्तव्य-वश अपना स्वास्थ्य बढ़ाता चला गया।

इधर कला का अध्ययन नियमित रूप से चल रहा था। वह कुछ महीनों के भीतर हिन्दी पढ़ना-लिखना काफी अच्छी तरह सीख गई थी। चाचा और पहलवान दोनों उसकी तरक्की देखकर खुश थे। उसकी बुद्धि जैसी तेज थी उसका स्वभाव भी वैसा ही मधुर, शिष्ट और शालीनतापूर्ण था। निश्छल, स्नेह-भरी सरस मुसकान हर समय उसके चेहरे पर खेलती रहती थी। वह मुझसे एक भी फालतू बात नहीं करती थी। पर अपनी दो बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखों की पैनी दृष्टि से वह एक बार मेरे चेहरे का पट्टा अवश्य पढ़ लेती थी। उस पट्टे की लिखावट में किस दिन क्या परिवर्तन हुआ है, यह उससे जैसे छिपाया ही नहीं जा सकता, कुछ ऐसी धारणा उसके सम्बन्ध में मेरे मन में बनने लगी थी। पर उसकी दृष्टि की उस प्रखरता से मुझे प्रसन्नता ही होती थी, क्योंकि मुझे अपने ऊपर पूरा विश्वास था। मैं जानता था कि उसके प्रति सहज स्नेह—बल्कि वात्सल्य—के सिवा और कोई दूसरी भावना मेरे अनजान में भी मेरे भीतर नहीं जाग सकती। जब मैं उसे पढ़ाता था तब दाई पास ही कहीं-न-कहीं या तो खड़ी रहती थी या बैठी रहती थी। यद्यपि वह निश्चय ही समझ गयी होगी कि मुझसे किसी प्रकार के खतरे की आशंका का कोई कारण नहीं है और वह नित्य कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से मेरा स्वागत करती थी, तथापि लड़की को उसने कभी एक क्षण के लिए भी मेरे पास अकेला नहीं छोड़ा। उसकी इस सावधानी के लिए मैं मन-ही-मन उसकी बहुत सराहना करता था।

जितनी देर तक मैं कला के पास उसे पढ़ाने के उद्देश्य से बैठा रहता उतनी देर तक एक अपूर्व, स्निग्ध और पवित्र-सी अनुभूति से मेरा मन भरा-सा रहता। केवल मेरा मन ही नहीं, मुझे लगता कि आस-पास का सारा वातावरण जैसे उस दिव्य अनुभूति से स्नेहमय, शांतिमय और मंगलमय हो उठा हो।

वह बड़ी लगन से सीख रही थी। मैं जो-कुछ भी काम उसे करने को देता, चाहे वह कैसा ही कठिन और कितना ही अधिक क्यों न हो, उसे वह बड़ी तत्परता से करती। मैं जो-कुछ बताता उसे बड़े ध्यान से सुनती। बड़े ही साफ, सुन्दर और सुडौल अक्षर लिखने लगी थी वह। कठिन शब्दों का अर्थ भी वह बड़ी जल्दी याद कर लेती थी। घर पर अलग से पढ़ने, लिखने और याद करने के लिए यदि मैं कभी कुछ कम और आसान काम देता तो वह बहुत ही विनम्र और सलज्ज भाव से मुझसे प्रार्थना करती कि मैं कुछ और अधिक और साथ ही कठिन काम दूँ। उसके मन की सारी आकांक्षा जैसे केवल एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित हो उठी थी। हिन्दी भाषा का ज्ञान जल्दी-से-जल्दी अधिक-से-अधिक परिमाण में प्राप्त करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह जैसे बड़ी-से-बड़ी बाधा का सामना करने के लिए तैयार थी। प्रति मास उसके लिए एक नई और पहले से अधिक कठिन पुस्तक खरीदनी होती।

उसकी इस लगन की प्रशंसा मैं चाचा से करता रहता था। सुनकर चाचा बहुत प्रसन्न होते थे। चाचा की बातों से पता चला कि कला को वह लड़का बहुत पसन्द है जिससे शादी की बात-चीत चलाई गयी है और उस (लड़के) की इच्छा के अनुरूप पूर्णतया सफल सिद्ध होने के लिए वह दृढ़प्रतिज्ञ है। चाचा को दाई ने यह सूचना दी थी।

मैं मन-ही-मन यह सोचकर आशंकित हो रहा था कि कहीं चाचा, पहलवान और दाई किसी धूर्त लड़के के फेर में न पड़ गए हों; कहीं ऐसा न हो कि लड़की के दहेज के लिए पहलवान ने दस हजार की जो रकम अलग रख छोड़ी है उसे हथिया कर लड़की को बाद में दूध की मक्खी की तरह अलग फेंक देने की बात किसी बदमाश ने सोची हो। ऐसी भोली, निश्छल और सहृदय लड़की के साथ यदि कोई दुष्ट इस तरह का व्यवहार करे (जैसा कि आज के युग में कुछ असम्भव नहीं है) तो इससे अधिक मार्मिक पीड़ा—क्या चाचा को, क्या पहलवान को, क्या दाई को और क्या लड़की को—दूसरे किसी कारण से पहुँचाई नहीं जा

सकेगी। इस सम्बन्ध में चाचा की परख पर भी मेरा विश्वास नहीं था। मैं सोचता था कि वह स्वयं जैसे सरल स्वभाव के हैं वैसा ही दूसरे को भी समझ सकते हैं।

पर एक दिन मुझे स्वयं अपनी आँखों से उस लड़के को देखने और उससे बातें करने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। उस दिन जब मैं तीसरे पहर कला को पढ़ा रहा था तब चाचा सहसा एक युवक को साथ लेकर वहाँ पहुँच गए। युवक की आयु प्रायः पचीस-छब्बीस साल की होगी। वह एक लम्बा-सा सफेद कुरता और सफेद ही धोती पहने था। उसे देखने पर पहला ही प्रभाव मन पर यह पड़ता था कि वह बहुत ही शिष्ट, सहृदय और सुन्दर है। जब चाचा ने मेरा परिचय उससे कराया और बताया कि मैं ही कला को हिन्दी सिखाता हूँ तब उसने इस तरह सहज भाव से मुस्कराते हुए मेरी ओर हाथ जोड़े जैसे आँखों द्वारा यह जताना चाहता हो कि वह मेरे प्रति बहुत ही कृतज्ञ है। मैंने उसे तख्त पर बैठने के लिए आग्रह किया और उसके संतोष के लिए कला को आदेश दिया कि वह अपनी हिन्दी पुस्तक में से दो पन्ने पढ़ कर सुनाए। कला बार-बार कनखियों से उस युवक की ओर देख रही थी और देख-देखकर जैसे पुलकभरी लाज से पसीज-पसीज उठती थी। मेरा आदेश सुनकर उसने बिना अधिक तकल्लुफ के पुस्तक खोली और पहली ही बार के खोलने में जो पृष्ठ सामने आया उसी को शांत और स्थिर भाव से पढ़ने लगी। बड़ा ही मीठा उसका कंठ था और बहुत ही शुद्ध उसका उच्चारण था। मैं युवक के मुख के भाव पर गौर कर रहा था। अकृत्रिम आश्चर्य और आन्तरिक प्रसन्नता का मिश्रित भाव उसकी दो सुन्दर आँखों में चमक रहा था। जब कला पढ़ चुकी तब मैंने युवक को उसकी लिखावट दिखाई। उसे देखकर वह और अधिक चकित रह गया। अकपट भाव से मुझसे बोला, "जब चार महीने पहले यहाँ आया था तब यह हिन्दी का ककहरा भी नहीं जानती थीं। पर आज देखता हूँ कि काफी ऊँचे स्टैंडर्ड की पुस्तक यह आसानी से पढ़ लेती हैं और बहुत अच्छे अक्षर लिख लेती हैं।"

"और कठिन शब्दों का अर्थ भी समझ लेती है," मैंने उसकी बात को पूरा करते हुए कहा।

"इसके लिए मैं आपको अन्तर से धन्यवाद देता हूँ," लड़के ने मेरी ओर फिर एक बार हाथ जोड़ते हुए कहा।

वास्तव में लड़का मुझे बहुत पसन्द आया। चाचा का संकेत पाकर मैं कला

को पढ़ाना छोड़कर उठा और लड़के को वहीं छोड़कर और चाचा के यहाँ मिलने के लिए कहकर हम दोनों बाहर निकल गए। प्रायः एक घण्टे बाद लड़का चाचा के यहाँ आया। तब उससे मेरी बातें हुईं। मालूम हुआ कि उसका नाम पञ्चानन है। मैं चपल कुतूहलवश पूछ बैठा कि पूरा नाम क्या है। उसने कहा, "बस पूरा या अधूरा कुछ भी हो, मेरा नाम केवल पञ्चानन है।" कहकर वह स्निग्ध भाव से मुस्कराया।

उसके बाद धीरे-धीरे बहुत-सी बातें उससे हुईं। पता चला कि उसके पूर्वज बंगाली थे और प्रायः सौ साल पहले बिहार में जाकर बस गए थे। उसके माँ-बाप पूर्णिया में रहते थे। जब वह तीन साल का था तभी अनाथ हो चुका था। पहले माँ की मृत्यु हुई, फिर बाप की। अपने निकट या दूर के रिश्तेवाले लोग जो कोई रहे भी होंगे वे सब दूर-दूर बिखरे हुए थे। इसलिए पड़ोस के एक बिहारी सज्जन उसे अपने यहाँ उठा लाए। उनकी पत्नी से उसकी माँ की घनिष्ठ मित्रता थी। उसी परिवार में उसका पालन हुआ। उन्हीं बिहारी सज्जन को और उनकी पत्नी को उसने अपने माता-पिता के रूप में जाना और माना। अपने माँ-बाप की कोई स्मृति उसे नहीं थी। वह सज्जन बहुत गरीब थे। किसी स्थानीय दफ्तर में क्लर्की करके जो स्वल्प वेतन पाते थे उसी से किसी तरह परिवार का खर्च चलाते थे। उसे वह बराबर अपने ही बेटे की तरह मानते रहे और माँ का स्नेहाशीर्वाद तो उस पर बना ही रहता था। उन दोनों ने कभी अपने दो बेटों में और उसमें कोई भेद-भाव नहीं रखा। पर उनके बेटों को यह पता लग गया था कि वह उनका सगा भाई नहीं है और किसी दूसरे परिवार का लड़का है। इसलिए यद्यपि उनके अपने व्यवहार में कोई कपट नहीं था तथापि उसके 'भाइयों' का व्यवहार उसके प्रति प्रारम्भ ही से कुछ अच्छा नहीं था। बाद में एक दिन पिताजी की मृत्यु हो गई। तब तक उनका बड़ा लड़का पटना में किसी दफ्तर में नौकर हो चुका था। पञ्चानन की पढ़ाई का कोई ठीक प्रबन्ध नहीं हो पाया। हाई स्कूल तक किसी तरह फीस माफ कराके और इधर-उधर से माँगी हुई किताबें पढ़कर वह अपना काम चलाता रहा। पर जब हाई स्कूल की वार्षिक परीक्षा का समय आया तब फीस जमा न कर सकने के कारण वह परीक्षा में बैठ ही न पाया। भाइयों के व्यवहार से और अपनी विवशता से लज्जित-सा होकर वह भागकर कलकत्ता चला आया और इधर-उधर भटकता हुआ किसी तरह दिन काटने लगा। उसने बताया कि उसे पढ़ने का शौक

बहुत था और वह लोगों से पुस्तकें माँग-माँगकर विविध विषयों की पुस्तकों का अध्ययन करता रहता था। पर उसका वह पढ़ना-लिखना कुछ काम न आया और वह दर-दर मारा-मारा फिरने लगा। अन्त में बड़ी कठिनाइयों के बाद दो-एक जगह 'ट्यूशन' का प्रबन्ध हो सका। उसके कुछ दिन बाद एक राजनीतिक दल के सदस्यों से उसकी घनिष्ठता हो गई। उनकी सहायता से उसे उक्त दल के कार्यालय में रहने और सोने के लिए जगह मिल गई। आज भी वह उसी आफिस में रहता है। ट्यूशन से जो रुपया मिलता है उसमें से कुछ-न-कुछ बचाकर वह बूढ़ी अम्माँ के लिए भेजता रहता है। वह अब निःशक्त हो गई हैं और उनके बेटे और बहुएँ उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। विवाह हो जाने के बाद वह अम्माँ को अपने पास ही ले आने का प्रयत्न करेगा।

पञ्चानन से मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और कला के सौभाग्य के सम्बन्ध में मेरी सारी आशंकाएँ दूर हो गईं।

एक दिन मुझे न जाने क्या सूझी, मैंने चाचा से अनुरोध किया कि मुझे खाना बनाना सिखावें। वह मेरी बात को परिहास में टालने लगे। पर मैंने अपनी बात की गम्भीरता पर पूरा जोर देते हुए कहा, "चाचा, मैं हँसी में नहीं कह रहा हूँ। मैं सिर्फ शौक के लिए खाना बनाने की कला सीखना नहीं चाहता। मैं रोजी के लिए भी इसे सीखना चाहता हूँ। अगर यह हुनर सीखे रहूँगा तो कहीं-न-कहीं मेरा ठिकाना लग जायगा, इस बात का पूरा विश्वास मुझे है···"।

चाचा कुछ देर तक इस तरह मुझे देखते रहे जैसे किसी सोच में पड़ गए हों। उसके बाद बोले, "तब अच्छी बात है, सीखो। मुझे क्या एतराज हो सकता है सिखाने में।"

"मसाला पीसने से लेकर देगची को अँगीठी पर से उतारने तक हर एक छोटे-से-छोटे काम को मैं बारीकी से सीखना चाहूँगा," मैंने कहा।

चाचा प्याज छीलते और काटते थे, पर मसाला एक लड़का आकर पीस जाया करता था। "तब आओ, पहले प्याज छीलना और काटना ही सीख लो," कहकर अर्द्ध-परिहास के साथ मुस्कराते हुए चाचा प्याज और चाकू लेकर

तख्त पर बैठ गए।

प्याज छीलना और काटना भी एक कला है, इस बात की ओर मेरा ध्यान इसके पहले नहीं गया था। चाचा ने एक गोल और चिकना-सा प्याज उठाकर बहुत ही सधे हुए हाथ से चाकू से छीलना आरम्भ कर दिया। पहले जड़ के अंश को चारों ओर से काटा और उसके बाद सिरेवाले नुकीले भाग को जरा-सा काट-कर उसके साथ ही कई छिलके छील डाले। छीलने के बाद उन्होंने नुकीले भाग से पूरी गोलाई के साथ प्याज की गोल-गोल पतली-पतली लच्छियाँ काटनी आरम्भ कर दीं—बड़ी तेज रफ्तार के साथ। चाचा प्याज काट ही रहे थे कि मसाला पीसनेवाला आ पहुँचा। वह अलग-अलग मसालों को विशेष अनुपात के साथ पीसता जाता था और चाचा मुझे बताते जाते थे कि अनुपात में गड़बड़ी होने से क्या-क्या खराबियाँ पैदा होती हैं। प्याज, लहसुन, धनिया, गरम मसाले, तेज-पत्ता, दालचीनी आदि कोई भी चीज मसाले के नाम पर छूटने नहीं पाई थी—सिवा हल्दी के। मैंने पूछा कि हल्दी क्यों बची रह गई। चाचा बोले, "हल्दी का काम केसर से चल जायगा।" उन्होंने इस तरह कहा जैसे केसर सर्वत्र और सभी ऋतुओं में उगनेवाली दूब से भी साधारण और सहज-सुलभ वस्तु हो।

मसाला पीसने के बाद लड़के ने अँगीठी जलाई और फिर उस पर देगची चढ़ा दी। उसके बाद चाचा उठे और आले पर रखा हुआ एक बड़ा-सा टीन उठाकर उन्होंने उसमें से घी निकालकर देगची में छोड़ा। घी की मात्रा काफी थी। उसके बाद चाचा ने अपनी घी लगी हुई उँगली मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा, "जरा सूँघो।" सूँघकर दिमाग तर हो गया। भैंस के शुद्ध दूध के दही से ताजा निकाला हुआ खालिस घी था वह, जो बाजार में किसी भी भाव में प्राप्य नहीं हो सकता था।

"अगर किसी अच्छे, शौकीन और खुशहाल आदमी के यहाँ खाना बनाना हो तो सबसे पहले इस बात का खयाल रखना कि घी खालिस हो। अगर घी अच्छा न मिला तो बिस्मिल्ला ही गलत हो जायगा। अगर किसी होटल में तुम्हें खाना बनाने की नौकरी मिली तब तो डालडा से ही काम चलाना पड़ेगा। उस हालत में मसालों से ही जादू जगाना पड़ेगा। अगर किसी बंगाली के यहाँ तुम्हें काम मिले तब तो डालडा को भी दूर ही से सलाम करके सरसों के तेल के भीतर से ही लज्जत पैदा करनी होगी। वैसे अगर तेल खालिस मिले तो उसका भी एक

अलग मजा है। पर अमूमन आजकल सरसों का तेल खालिस मिलता नहीं। तेल को खूब अच्छी तरह जलाकर उसके ऊपर अगर थोड़ा-सा घी डालकर जलाया जाय तो घी का ही मजा मिलता है।"

घी तड़क-तड़क तड़-तड़-तड़ आवाज करता हुआ जब शान्त हो गया तब चाचा ने कुछ खड़े मसाले—लौंग, इलायची आदि—उसमें छोड़ दिए। उसके बाद प्याज की गोल-गोल कतरनें उस पर छोड़ दीं। जब काफी देर बाद उन कतरनों में सुनहरा भूरा रंग चढ़ गया तब उन्होंने एक-एक करके सभी पिसे हुए मसाले छोड़ दिए और एक खुरपीनुमा करछुल से वह उन्हें भूनने लगे। काफी देर तक उसे भूनने के बाद उन्होंने अच्छी तरह धुले हुए मांस को देगची में छोड़ दिया और फिर उसे भी तलने लगे। जब अच्छी तरह तल चुके तब अन्दाज से उस पर नमक छोड़कर उन्होंने ढकना चढ़ा दिया। बोले, "जब पानी बिलकुल सूख जायगा तब फिर तलना होगा। अभी काफी देर है। तब तक एक चिलम तम्बाकू बड़े मजे में पिया जा सकता है।" और यह कहकर वह चिलम तैयार करने लगे।

चिलम भरकर, नैचा-वैचा साफ करके तख्त पर आकर हुक्का गुड़गुड़ाते हुए बोले, "अव्वल में बकरे की नस्ल और गोश्त की किस्म को पहचानना और परखना जरूरी है। आजकल बकरों को कोई दाना नहीं खिलाता, सिर्फ सस्ती घास और पत्तियाँ खिलाई जाती हैं। अगर गोश्त की किस्म अच्छी हो तो फिर बनने में चाहे कैसी ही कसर क्यों न रहे, खानेवाले का मजा नहीं बिगड़ने पाता। ऐसा बकरा भी भला किस काम का जिसकी जान भी जाय और खानेवाले को मजा भी न आए···"

काफी देर तक चाचा बकरे की नस्लों और गोश्त की किस्मों पर भाषण देते रहे। उसके बाद हुक्का मेरी ओर बढ़ाकर फिर अँगीठी के पास चले गए और देगची का ढकना उतारकर करछुल चलाने लगे। प्रत्येक छोटी-से-छोटी और साधारण-से-साधारण क्रिया की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करते हुए बताने लगे, "जरा-सा चूक जाने से सारी मेहनत बेकार हो सकती है। जहाँ तक गोश्त को तलने की बात है, करछुल को तब तक चलाते रहना चाहिए जब तक जलने के आसार न दिखाई दें। जलने और न जलने के बीच का एक मिनट ऐसा होता है जिस पर सब-कुछ निर्भर करता है। थोड़े-से एहतियात से चीज क्या-से-क्या हो सकती है

और तनिक-सी गफलत से सारा मामला चौपट हो सकता है। गोश्त ऐसा होना चाहिए कि जले भी नहीं और कम भी न भुने।"

दो-चार मिनट के लिए चाचा ने फिर ढकना चढ़ा दिया और करछुल रख दिया। उसके बाद फिर उसे उतारा और फिर तलने लगे। इस तरह तीन-चार बार ढकने को उतारने और चढ़ाने की क्रिया को जारी रखने के बाद उन्होंने दूसरी अँगीठी में अलग से एक केतली में खौलते हुए पानी को देगची में डाल दिया। 'छः-छः-छः-छः-छयाँ' की आवाज हुई और फिर उन्होंने ढकना चढ़ा दिया।

मैं पूरी तन्मयता से सारी क्रिया पर ध्यान दे रहा था। कोई छात्र परीक्षा के कुछ ही दिन पूर्व कॉलेज के विज्ञान-विभाग की प्रयोगशाला में अध्यापक द्वारा प्रदर्शित किये जानेवाले व्यावहारिक विज्ञान-सम्बन्धी किसी प्रयोग पर उस लगन से ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता, जिस रूप में चाचा द्वारा प्रदर्शित पाक विधि पर मैं गौर कर रहा था।

उसके बाद मैं प्रतिदिन नियमित रूप से पाक-शास्त्र में चाचा की शागिर्दी करने लगा। उन्हें मांस-मछली के विविध प्रकार तैयार करने की विधियों के अलावा निरामिष व्यंजनों की भी कई किस्में तैयार करने के तरीके मुझे बताए। एक दिन उन्होंने कहा, "जो लोग गोश्त नहीं खाते उन्हें गुच्छी और कटहल की तरकारियाँ ठीक उसी तरकीब से बनाकर खिलाओ, जिस तरह गोश्त बनाया जाता है तो कोई फर्क नहीं मालूम होगा। जो लोग मछली नहीं खाते उन्हें छेने की 'करी' बनाकर खिलाओ तो पता न चले कि मछली खा रहे हैं या छेना।" कटहल और मूँग के कोफ्ते और आटा, चोकड़ या बेसन की कलेजी किस तरह तैयार की जा सकती है, यह सब चाचा ने मुझे सिखा दिया। किस्म-किस्म के पुलाव, तहरी, मीठा भात, विविध प्रकार के हलवे, बंगाली 'लूची', तरह-तरह की देशी और बंगाली मिठाइयाँ बनाना भी मैं सीख गया। मुगल युग के पाक-विज्ञान से लेकर डालडा युग के होटलों के पकवानों तक का सारा ज्ञान मैं जान गया।

इस प्रकार प्रायः दस महीने मैंने चाचा की शागिर्दी में बिता डाले। सुबह कसरत करना और कुश्ती लड़ना सीखता था, दोपहर कला को हिन्दी सिखाता

था और शाम को पाक-विज्ञान-सम्बन्धी 'क्लास' एटेंड करता था। बीच-बीच में हुक्का गुड़गुड़ाता, चाय पीता और चाचा की तहरीरें सुनता। रात को छतवाले कमरे में सोने के लिए चला जाता था।

छतवाला वह कमरा भी मुझे बहुत प्रिय लगने लगा था। प्रारम्भ में कुछ दिन तक आदी न होने से मुझे उस कमरे में अकारण ही कुछ घबराहट या बेचैनी-सी मालूम होती। पर धीरे-धीरे उसके प्रति एक प्रकार का संसर्गज मोह मेरे मन में उत्पन्न हो गया। रात में सोने के पहले मैं बीड़ी सुलगाकर काफी देर तक उस कमरे में टहलता रहता। बगलवाले बड़े कमरे में पहलवान के जो शागिर्द लोग रहते थे उनसे भी मेरी काफी घनिष्ठता हो चुकी थी। रात में कभी-कभी उन लोगों के बीच में बैठकर गपशप का मजा लेता था। कभी उन लोगों की बातें सुनता, कभी स्वयं उन्हें सुनाता। देश में और विदेश में कहाँ क्या हो रहा है और क्यों, कहाँ क्या होने की आशा और आशंका है और क्यों, आदि अखबारी दुनिया की खबरें भरसक दिलचस्प तरीके से मैं उन लोगों को सुनाता रहता और वे लोग बड़े चाव से सुनते रहते। जब अखबारी दुनिया की बातों से वे लोग और मैं दोनों उकता जाते तब मैं कथासरित्-सागर या अलिफ-लैला के किस्से अपने मन से जोड़कर या घटाकर उन लोगों को सुनाता। प्रेम से गद्‌गद होकर वे लोग बड़ी ही तन्मयता से सुनते। जब सोने का समय आता तो कुछ साथी उसी बड़े कमरे में रह जाते और कुछ चले जाते।

मैं देख रहा था कि मेरे बगलवाले साथी किन्हीं कारणों से मुझसे कतराने लगे थे, मेरी हवा से भी दूर भागने लगे थे और आपस में बातें करते हुए परोक्ष में मेरे प्रति तीखे व्यंग्य कसने लगे थे। फल यह हुआ कि वह सारा वातावरण मुझे विजातीय-सा लगने लगा।

कुछ दिन तक चाचा को मैंने कुछ नहीं बताया; नई परिस्थिति की कोई सूचना उन्हें नहीं दी—इस भय से कि मैं कहीं चुगुलखोर न मान लिया जाऊँ। पर स्थिति दिन-पर-दिन ऐसी अशोभन होती चली गई कि अन्त में मुझसे रहा नहीं गया और चाचा को सूचित करना ही पड़ा। उस समय चाचा फुरसत में धीरे-धीरे हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। मैं उनके पास ही तख्त पर बैठा हुआ था। वे बड़े ध्यान से बातें सुनते रहे। उसके बाद धीरे से, तनिक उपेक्षा की-सी मुद्रा में बोले, "बात यह है कि ये सब लोग जाहिल हैं। किसी बात की गहराई में

पैठकर असलियत जानने की तकलीफ नहीं उठाना चाहते। उनके अपने कुछ बँधे हुए उसूल होते हैं; उन्हीं के हिसाब से वे भले और बुरे की परख करते हैं। वैसे अपने तंग दायरे में वे किसी से कुछ कम ईमानदार नहीं होते। और अब तो ये जाहिल लोग भी धीरे-धीरे बदल रहे हैं और तरक्की कर रहे हैं। मिसाल के लिए, मैं एक ऐसे उजड्ड किसान को जानता हूँ जिससे गाँव के मुखिया ने किसी बात पर बिगड़कर उसका सारा खलिहान और झोपड़ी जला डाली। वह कलकत्ते चला आया। वहाँ उसने पहले किसी मिल में मजदूरी की, फिर वहाँ से भी अलग होकर वह अखबार बेचने लगा। करते-करते वह एक दिन कई अखबारों का सोल एजेण्ट बन बैठा और उसकी खुशहाली बढ़ती चली गयी। उसने अपनी बीबी और बच्चों को भी कलकत्ते बुला लिया।

एक दिन सत्रह-अठारह साल का एक लड़का भटकता हुआ उसके यहाँ आ पहुँचा। पूछने पर पता लगा कि वह उसी मुखिया का लड़का है जिसने उसकी झोपड़ी और खलिहान जला डाले थे। लड़के ने बताया कि उसका बाप दमे से बेदम हुआ जा रहा है और घर की हालत बहुत खस्ता है। लड़का नौकरी की तलाश में आया था। उस जाहिल किसान ने अपने ही कारोबार में उसे रख लिया और अपनी कमाई का एक-तिहाई उसे देने लगा। उसकी औरत ने जब एतराज किया तो उसने जवाब दिया : 'मैं मुखिया से इन्तकाम ले रहा हूँ।' इसीलिए मैं कहता हूँ कि जाहिलों की दुनिया आज बदल रही है।"

"पर चाचा, आप ही उस रोज यह शिकायत कर रहे थे कि आज की दुनिया में कहीं ईमान नहीं रहा और सब जगह खुदगर्जी का बोलबाला है और आज आप ही कह रहे हैं कि दुनिया अच्छाई के लिए बदल रही है। इन दोनों में किस बात को सही माना जाय ?"

"मैं इस वक्त भी कहता हूँ," चाचा ने एक-एक शब्द पर जोर देते हुए कहा, "कि आज की दुनिया से ईमान उठ गया है—खासकर उस दुनिया से जहाँ पढ़े-लिखों की हुकूमत छाई हुई है। पढ़े-लिखों की झूठी शान की पगड़ी को कीड़ों ने छान डाला है और नकली इज्जत-आबरू का चोला तार-तार हो चुका है। यही सबब है कि जाहिलों को उनकी दुनिया पर तनिक भी भरोसा नहीं रह गया है और वे उस पुरानी, खोखली दुनिया के खण्डहरों की नींव पर अपनी एक नई दुनिया बसाने जा रहे हैं। तुम्हारे पढ़े-लिखे साथी कहा करते हैं कि अमरीका में

जब दिन होता है तब यहाँ रात होती है और अमेरिका में जब रात होती है तब यहाँ—पूरब में—लाली छाने लगती है। वही हाल है। आज जब पढ़े-लिखों की दुनिया उजड़ चुकी है तब जाहिलों की दुनिया पनपने और लहलहाने जा रही है। यह है कुदरत का खेल। वक्त पर आई हुई इस बाढ़ को कौन रोक सकता है! पढ़े-लिखों ने सदियों से बनाई हुई दुनिया को खुद ही तहस-नहस कर डाला है और वे बन्दरों की तरह उस उजड़े हुए चमन की बची-खुची पत्तियों और फूलों को नोच-नोचकर एक-दूसरे पर फेंक रहे हैं। लिहाजा मैं कहता हूँ और तुम सुनो कि वे दिन दूर नहीं हैं; जब आज के जाहिल लोग कल के लीडर बनकर, पुरानी दुनिया की सारी शक्ल बदलकर एक दिन सारे जहान में हुकूमत करेंगे। पर मेरी इस बात का यह मतलब हरगिज नहीं कि आज ही दुनिया के जाहिल लोग अपनी जहनियत को एकदम बदल डालेंगे और आज ही एक नई तहजीब का झण्डा गाड़ देंगे। हर बड़े किस्म के नए काम के लिए वक्त चाहिए। मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता था कि जाहिलों की नई जिन्दगी की नई सुबह की पौ फट चुकी है। देखनेवाले देख सकते हैं…"

"तो आप यह कहना चाहते हैं कि आज जो लोग चोर, गुण्डे और बदमाश हैं कल उन्हीं की हुकूमत दुनिया में छा जायगी और तब एक नई इन्सानियत जन्म लेगी?"

"आज भी कौन लोग चोर, बदमाश और गुण्डे हैं और कौन ईमानदार व शरीफ, इस बात का फैसला वक्त ही करेगा। आज दुनिया जिन लोगों को चोर, बदमाश और गुण्डा बता रही है उनमें पढ़े-लिखे शरीफों की बनिस्बत कई गुना ज्यादा इन्सानियत और ईमानदारी पाई जाती है। उन लोगों का आपस में बड़ा मेल रहता है और जरूरत पड़ने पर वे एक-दूसरे की बड़ी मदद करते हैं। एक साथी की जान या इज्जत बचाने के लिए सौ आदमी खड़े हो जाते हैं। 'इज्जत' की बात सुनकर हँसना मत। उन लोगों में भी इज्जत की कद्र होती है, हालाँकि उस 'इज्जत' के बारे में उनके अपने अलग उसूल हैं। पर पढ़े-लिखे शरीफों का हाल ही कुछ दूसरा है। वे आपस में ही एक-दूसरे पर कीचड़ उछालते हैं और एक की जान या इज्जत जाते देखकर हजार आदमी खुश होकर तमाशा देखने लगते हैं। एक शरीफ भूखों मर रहा हो तो बाकी सब शरीफ उसकी मदद करने के बजाय उस पर छींटे उड़ाते हैं। खुशहाल पढ़े-लिखों की चोरी, बेईमानी और

बदमाशी; शराफत, अदब और तहजीब में शुमार की जाती है! और गरीब जाहिल लोग अपने को भूखों मरने से बचाने के लिए जो पेशा अख्तियार करते हैं उसे चोरी और सीनाजोरी का जुर्म करार दिया जाता है। पर एक दिन पासा पलटकर रहेगा और तब कायदे-कानून भी उलट जायँगे। तब नये ही नुक्ते-नजर से इस बात का फैसला होगा कि किन्हें चोर कहा जाय और किन्हें शरीफ।"

चाचा आज 'शराफत' की बात बताने में इस कदर व्यस्त हो उठे थे कि इतनी देर तक अकेले ही हुक्का गुड़गुड़ाए जा रहे थे और हुक्का मेरी ओर बढ़ाने की 'शराफत' तक वह एकदम भूल चुके थे। मैंने जब यही बात उनसे कही तब अपनी अन्यमनस्कता पर वह स्वयं खूब हँसे और उन्होंने धीरे से हुक्का मेरी ओर बढ़ा दिया।

चाचा से सहानुभूति पाने के उद्देश्य से मैं जिन लोगों के सम्बन्ध में उलाहना लेकर उनके पास गया उन्होंने अपनी बातों से परोक्ष में उन्हीं लोगों का साथ दिया। मेरी नाजुक परिस्थिति को या तो वह नहीं समझ पाये थे या मैं ही नहीं समझा पाया था। अपने जान हर मामले में अपने साथियों का पूरा साथ देने और उनके प्रति किसी भी रूप में विश्वासघात करने की भावना भी तनिक मन में न लाने पर भी मैं जिस तरह अपराधी सिद्ध हो गया था और प्रतिक्षण साथियों के तीखे व्यंग्यों की बौछारों को सहन करते चले जाने के लिए विवश बना हुआ था, उस परिस्थिति से उबरना मेरे लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हो उठा था। मुझे लगता था कि उस वातावरण में अब अधिक ठहरने से मेरा दम ही घुट जायगा। यह सोचकर एक दिन मैंने वहाँ से भाग निकलने का निश्चय किया।

जब मैंने एक दिन सुबह सहसा चाचा को अपने विचार से सूचित किया तब वह कुछ देर तक स्तब्ध दृष्टि से मुझे देखते रह गए। जब पहले धक्के से कुछ सँभले तब मेरी जल्दबाजी के लिए उन्होंने मुझे टोका। जब उस टोकने का कोई असर मुझ पर न हुआ तब उन्होंने कुछ महीने और ठहर जाने के लिए मुझसे आग्रह किया। जब उस पर भी मेरा विचार न टला तब अपना स्नेह-सना हाथ

मेरे माथे पर आशीर्वाद के रूप में रखते हुए बहुत धीरे-से भर्राई हुई-सी आवाज में बोले, "बेटा, इतने दिनों तक तुमने मेरी तनहाई का साथी बनकर मेरी आदत बिगाड़ डाली। तुम्हारी सोहबत में जो पिछले दस-बारह महीने बिताए वे हँसी-खुशी और बातचीत में दस-बारह दिन की तरह बीत गए। कुछ पता ही न चलता था कि वक्त कहाँ और कैसे गुजर गया। तुम्हारे साथ जिन्दगी के बड़े-बड़े मसलों पर जिस तरह की बातें मैंने कीं वैसी बातें मेरी जबान से न कभी पहले निकली थीं, न इसके बाद अब कभी किसी के आगे निकलेंगी। जाने वह कौन-सी रूहानी कशिश तुममें है जो बराबर मुझे बहुत ऊँचे पर उठाकर मेरे दिल को यह यकीन दिलाती रही है कि मैं भी इन्सान हूँ और बुलन्दखयाली का माद्दा रखता हूँ। अब तुम्हारे चले जाने के बाद मैं फिर जाहिलों के बीच में जाहिल ही बना रह जाऊँगा। यह बुड्ढा फिर तनहा-का-तनहा रह जायगा—फिर वही कुंजेकफस, फिर वही सैयाद का घर।" इस बहु-भाषित उक्ति को दुहराते हुए उनकी दाईं आँख से एक बूँद आँसू टपक पड़ा। "पर तुम्हारे लिए अभी दुनिया के सभी रास्ते खुले हुए हैं। मैं जानता हूँ कि तुम्हारे आगे अभी कुछ अरसे तक हजारों परेशानियाँ खड़ी होती रहेंगी, पर उन परेशानियों का सामना करना, उनसे लड़ना ही तो जिन्दगी है। लिहाजा तुम यहाँ की चौहद्दी से बाहर निकलते ही जिन्दगी के हर तरह के मजे लूटोगे, पर मैं किसी बात की परेशानी न होने के सबब यहाँ अकेला मौत के बाकी दिन गिनता रहूँगा। जाओ, मैं तुम्हें नहीं रोकूँगा। तुम्हें अभी जिन्दगी में बहुत काम करना है। जाओ, पर जब कभी कोई मुसीबत आये तब अपने इस बूढ़े चाचा को न भूलना। सीधे यहीं चले आना। जाओ, तुम्हारी जिन्दगी के ऊबड़-खाबड़ और बीहड़ रास्ते में काँटों के साथ ही फूल भी खिलते रहें, यही दुआ यह बुड्ढा तुम्हें दे सकता है, बेटा! जाओ, खुदा हाफिज!" कह-कर उन्होंने एक बार कसकर मुझे छाती से लगाया। उनकी दोनों आँखों के झरने अविराम बह रहे थे और दाढ़ी भीगती चली जा रही थी।

मेरी आँखें भी गीली हो आई थीं। गला साफ करके मैंने कहा, "चाचा, मैं जरूर आऊँगा। कला की शादी अपनी आँखों से देखे बिना मेरा जी कैसे मानेगा। बीच-बीच में आकर मैं खबर लेता रहूँगा।" उनके दोनों पाँव छूकर मैं विदा हुआ। वहाँ से पहलवान के पास जाकर मिला। पहलवान को भी मेरे जाने की बात सुनकर दुख हुआ। बोला, "जब जाना ही चाहते हो तो जाओ। लेकिन

बीच-बीच में आते रहना और जब कभी किसी काम के लिए मेरी जरूरत पड़े तो बगैर किसी तकल्लुफ के आकर बताना। कला को बहुत रंज होगा। उसे तुमने बहुत जल्दी पंडितानी बना दिया, इसके लिए शुक्रिया। अपना साल-भर का मेहनताना लेते जाओ।" यह कहकर वह तिजोरी खोलने लगा।

तिजोरी से दस-दस के नोट गिनकर उसने एक गड्डी मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा, "ये लो, ढाई-सौ रुपया है। जरूरत पड़ने पर और ले जाना।"

मैंने कहा, "इतने रुपये लेकर मैं क्या करूँगा, पहलवान? कहाँ रखूँगा इन्हें? इस वक्त मुझे सिर्फ बीस रुपये दे दो, बाकी फिर आकर लेता रहूँगा।"

पहलवान ने कम-से-कम पचास रुपये उसी समय ले जाने का हठ किया। अधिक बहस करना व्यर्थ समझकर मैंने चुपचाप उन्हें रख लिया। उसके बाद कला और उसकी दाई से जाकर मिला। मेरे जाने का समाचार सुनकर कला का ताजे गुलाब-सा सहजप्रसन्न मुख सहसा जैसे लू से झुलस गया, पर वह बोली कुछ नहीं। केवल वेदना-भरी मौन आँखों से मेरी ओर एकटक देखती रह गई। दाई ने स्नेह से रोते हुए मुझे आशीर्वाद दिया।

उसके बाद अपने उन्हीं कुश्तीबाज साथियों से मिला जो मुझसे बहुत नाराज थे। अत्यन्त विनम्र भाव से बोला, "जो कुछ भी गलती मुझसे जान या अनजान में हुई हो उसके लिए माफ कर देना भाई!" कहकर मैंने दोनों हाथ जोड़ दिए। वे लोग उत्तर में एक शब्द भी न बोले, पर उनकी विस्मय-वेदना-भरी आँखें बताती थीं कि उन लोगों ने मुझे क्षमा कर दिया है।

फिर एक बार मैं निराश्रय होकर कलकत्ता की सड़कों और गलियों में बेकार भटकने लगा, पर इस बार मेरी स्थिति में कुछ अन्तर था। फटा-मैला कुरता और वैसी ही धोती की जगह मैं इस बार करीम चाचा की कृपा से स्लेटी रंग के पापलिन का एक नया कुरता, बाल की तरह बारीक काली कन्नी की एक नई धोती और बाटा की एक जोड़ी नई चप्पल (जिसे चाचा ने कभी अपने लिए खरीदकर बिना पहने रख दिया था) पहनकर, नया स्वास्थ्य और नया उत्साह लेकर बाहर निकला था।

मेरी जेब में इस बार पचास रुपये भी थे, जो मुझे बुरी तरह काट रहे थे। उन रुपयों को जल्द-से-जल्द खर्च करने के लिए मैं भीतर-ही-भीतर बहुत उतावला हो रहा था। वे मेरे लिए ऐसे विकट भार-स्वरूप हो उठे थे कि उनका बोझ लेकर मेरा मन जैसे दो कदम आगे नहीं बढ़ना चाहता था।

'बस' में बैठकर मैं हावड़ा तक गया और वहाँ से पैदल पुल पार करने लगा। मन निराश्रित जीवन का आदी इस कदर हो चुका था कि साल-भर के आश्रय से उस पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा—उसकी आदत तनिक भी नहीं बिगड़ी, ऐसा मुझे लग रहा था, क्योंकि यह चिन्ता जान में या अनजान में, एक क्षण के लिए भी मेरे मन में नहीं जागी कि रात कहाँ बिताऊँगा, कहाँ जाऊँगा और क्या खाऊँगा। बन्धनहीन, निर्द्वन्द्व और निर्मुक्त प्राणी की तरह मैं निरुद्देश्य चला जा रहा था।

सूरज पच्छिम में डूबने की तैयारियाँ कर रहा था। पच्छिम में कुछ देर से घिरे हुए गाढ़े काले बादल जलकर एकदम लाल हो गए थे, जैसे कोयलों के आकाशव्यापी गोदाम में आग लग गई हो और सब कोयले सहसा एक साथ दहक उठे हों। उनकी रक्तिम आभा नदी पर पड़कर तेज हवा के कारण सौ-सौ उछलती हुई तरंगों में प्रतिबिम्बित होकर पिघलती हुई आग की तरह दिखाई दे रही थी।

पुल पार होने पर कुछ देर तक मैं उस रक्त-रंजित दृश्य को मोह-मुग्ध दृष्टि से देखता रहा। उसके बाद कुछ दूर आगे चलकर सहसा, बिना कुछ सोचे ही, दाईं ओर मुड़ गया। स्ट्रैंड रोड से होता हुआ जब चला जा रहा था तब आकाश के लाल बादल धीरे-धीरे राख के ढेर में परिणत होते चले जा रहे थे।

डलहौजी स्क्वायर पहुँचकर मैं पार्क के भीतर जाकर एक बेंच पर बैठ गया। कुछ देर तक अनिश्चित और अनमने भाव से वहाँ बैठा रहा। सामने एक बहुत बड़ा होटल दिखाई दे रहा था और उसके नीचे रेस्तराँ के सामने कई कारें कतार में खड़ी थीं। धीरे-धीरे पार्क की, सड़कों की, दुकानों की और फैशनेबल भोजनालयों की बत्तियाँ जगमगा उठीं।

सहसा मैं उठा और सामनेवाले फुटपाथ पर जाकर बड़े होटल के नीचे एक आलीशान रेस्तराँ के भीतर घुस ही तो गया। वहाँ मोटे काले शीशे के चमकते हुए टेबलों को घेरकर शहर के धनी और फैशनेबल—देशी और विदेशी—स्त्री-पुरुष

बैठे थे। एक भी टेबल खाली नहीं था। पूरा चक्कर लगाने पर एक कोने में एक टेबल ऐसा नजर आया जहाँ एक अकेला आदमी बैठा हुआ शीशे के मोटे से 'टंबलर' से पीले रंग का कोई तरल पदार्थ धीरे-धीरे पी रहा था। मैं भी उसी टेबल के पास उस अकेले व्यक्ति के सामनेवाली कुरसी पर बैठ गया। वह एक सूट-बूट-धारी काला साहब-सा लगता था। उसके सिर के बाल घने-काले और घुँघराले थे और होंठ असाधारण रूप से मोटे थे। उसने शायद किसी चीज के लिए ऑर्डर दे रखा था और उसका इन्तजार कर रहा था। वह बड़े गौर से और वक्र दृष्टि से मेरी ओर देख रहा था। स्पष्ट ही मेरा उसके साथ बैठना उसे खल रहा था। मैंने टेबल पर पड़ा हुआ 'मेनू' खींचकर पढ़ना आरम्भ कर दिया।

जब 'वेटर' आया तब मैंने उससे विलायती 'डिनर' ले आने को कहा। साहब के लिए थोड़ी देर बाद एक प्लेट में 'कटलेट' की तरह की कोई चीज और दूसरी प्लेट में 'सैंडविच' और तीसरी में कुछ सलाद लिए 'वेटर' आ पहुँचा। साहब ने सलाद में नमक, मिर्च और सिरका इच्छित अनुपात में मिलाकर छुरी-काँटे से खाना आरम्भ कर दिया। मुझे कुछ देर और इन्तजार करना पड़ा।

रेस्तराँ के भीतर का तीव्र प्रकाशमय वातावरण मुझे आज बहुत अच्छा लग रहा था। अपने ही भीतर के अन्धकार से ग्रस्त मेरा मन जैसे किसी पतंग की तरह प्रकाश के लिए छटपटा रहा था, इसलिए रेस्तराँ के उस असाधारण प्रकाश में पूर्णतया मग्न रहने के सिवा दूसरी कोई भावना जैसे मेरे मन में नहीं रह गई थी। उस वातावरण के मोहक प्रभाव के कारण ऐसा अनुभव हो रहा था जैसे बाहर के कठोर संघर्षपूर्ण विषम जीवन का अन्धकार रेस्तराँ की उस असाधारण जगमगाहट की छाया के सिवा और कुछ नहीं है। वह अस्वाभाविक प्रकाश ही जैसे जीवन का स्वाभाविक रूप हो, शेष सब मिथ्या माया हो, ऐसा विश्वास करने को जी कर रहा था। सब-कुछ जानते हुए भी मैं कुछ समय के लिए बेवकूफ बनकर उसी विचित्र और कृत्रिम मनःस्थिति में विश्राम करना चाहता था।

'ब्वाय' आकर सबसे पहले मुझे एक प्लेट में लाल-पीले रंग का चमकता हुआ 'सूप' दे गया। उसे चम्मच से सुड़कता हुआ मैं कुछ ही देर में साफ कर गया। फिर कटलेट आया। उसे मैंने छुरी-काँटे की सहायता से, स्वाद लेते हुए, धीरे-धीरे समाप्त किया। सामने बैठे हुए काले साहब ने बोतल से फिर अपना 'टंबलर' भर लिया था और पहले की ही तरह वक्र और क्रूर दृष्टि से मुझे बीच-

बीच में घूरता हुआ वह एक-एक टुकड़ा करके कटलेट खाता जाता था। कटलेट के बाद मेरे लिए तली हुई मछली आई और फिर 'राइस-एण्ड-करी'। अन्त में एक मीठे 'डिश' द्वारा मैंने डिनर समाप्त किया।

मीठा डिश खाते हुए मेरी इच्छा हुई कि सामने बैठे हुए साहब से कुछ बातें करनी चाहिए। वह कोई हब्शी है, इतना विश्वास तो मुझे पहले ही हो गया था, पर इतना जानने का कुतूहल मेरे मन में बना था कि वह अमेरिकी हब्शी है या अफ्रीकी। अधिक सम्भावना मुझे उसके अमेरिकी होने की ही लगती थी। 'फ्री-वर्ल्ड' का नारा बुलन्द करनेवाले अमेरिका में हब्शियों के साथ आज भी किस अमानुषिकता से गोरे लोग पेश आते हैं, इस सम्बन्ध में वहाँ के नीग्रो लेखकों की कुछ पुस्तकें मैंने पढ़ रखी थीं। इसलिए यह कल्पना मेरे मन को गुदगुदाने लगी कि मेरी मेज का साथी भी कहीं कोई हब्शी लेखक या हब्शी नेता न निकल आये।

यह सोचकर मैं इस बार उससे चार आँखें होते ही सहसा अँगरेजी में पूछ बैठा, "एक्सक्यूज मी, मैं अपने कुतूहल को नहीं दबा पा रहा हूँ। आप से बहुत देर से एक प्रश्न करने की इच्छा हो रही है। मैं जानना चाहता हूँ कि आप अमेरिकी नीग्रो हैं या अफ्रीकी?"

"मालूम होता है कि तुम्हारी आँखें सर्वत्र लाल ही देखती हैं," उफनते हुए क्रोध को जैसे बरबस दबाने का प्रयत्न करते हुए 'साहब' ने उत्तर दिया, "मैं विशुद्ध 'इण्डियन' हूँ, समझे? न अमेरिकी हूँ, न अफ्रीकी। क्या तुम्हें रतौंधी हो गई है? आदमी की आकृति से नहीं पहचान पाते कि वह देशी है या विदेशी?"

यदि वह सीधे ढंग से मेरी बात का उत्तर देता तो मैं निश्चय ही लज्जा से पानी-पानी हो गया होता। पर उसका ढंग ही कुछ अनोखा था, इसलिए उसकी प्रतिक्रिया भी मुझ पर कुछ दूसरी ही हुई।

"माफ कीजिएगा," मैंने पूरे आत्म-विश्वास के साथ धीरे से कहा, "मुझे न रतौंधी हुई है, न सर्वत्र लाल-ही-लाल दिखाई देता है। मैं तो अपने सामने सब-कुछ काला देख रहा हूँ।"

"तो क्या कोई काला आदमी जैंटलमैन नहीं हो सकता?" उसका क्रोध भयंकर हास्य उत्पन्न करनेवाला था।

"क्यों नहीं," मैंने बड़ी गम्भीरता के साथ सहानुभूति के स्वर में कहा, "मैं तो प्रत्येक सूट-बूटधारी हब्शी को 'जैंटलमैन' मानता हूँ। अफसोस केवल इतना ही है

कि आप हब्शी नहीं हैं, जैसा कि आपने स्वयं सूचित किया है।"

'साहब' मेरी गम्भीर शैली से जैसे कटकर रह गए। काले फ्रेम के भीतर से लाल आँखें दिखाते हुए बोले, "मैं क्या हूँ, तुमको अभी थोड़ी देर में पता लग जायगा। खाना तो खा चुके न? या कुछ लोगे?" अन्तिम प्रश्न उसने इस ढंग से किया जैसे वह मेरा मेजबान हो।

"नहीं, अब कुछ नहीं लेना है। 'ब्वाय' आ जाय, बिल चुक जाय, बस।"

"तब ठीक है। मैंने भी समाप्त कर लिया है। मैं भी बिल चुकाकर चलता हूँ तुम्हारे साथ। कुछ देर बाहर मैदान में दोनों एकान्त में बातें करेंगे। क्यों, तुम्हें कोई आपत्ति तो न होगी?" इस बार उसके स्वर में पहले से कुछ कोमलता विद्यमान थी।

मैंने कहा, "मुझे आपत्ति क्या हो सकती है! बल्कि यह तो मेरे लिए बड़ी प्रसन्नता का प्रस्ताव है।"

'ब्वाय' आया। उससे हम दोनों ने बिल लाने को कहा। दोनों बिल अलग-अलग आये। मैं अपना बिल चुकाने ही जा रहा था कि साहब ने मुझे रोका और मेरा बिल भी मेरे कड़े विरोध के बावजूद, स्वयं उसीने चुकाया। उसके बाद दोनों साथ-साथ बाहर निकले। उसने मेरे बाएँ हाथ की कलाई इस तरह पकड़ ली थी, जैसे मैं या तो कोई चोर होऊँ या 'साहब' का घनिष्ठ मित्र।

जब हम दोनों पार्क में पहुँचे तब 'साहब' एक एकान्त स्थान में मुझे ले गया और उसके बाद मेरा हाथ उसी तरह पकड़े हुए अत्यन्त क्रूर मुद्रा के साथ सुस्पष्ट हिन्दी में बोला, "तुमने मेरी जेब से जो पर्स निकाला है उसे अभी वापस करो। उसमें चार सौ रुपये थे। अगर वापस नहीं करते तो मैं तुम्हें इसी क्षण लाल बाजार थाने में पहुँचाता हूँ। तुम्हें पता होना चाहिए कि मैं सी० आई० डी० विभाग का एक अफसर हूँ। इसलिए थाने में 'माइ वर्ड इज लॉ।' तुम्हारी कोई नहीं सुनेगा।

उसे अचानक इस तरह पैंतरा बदलते देखकर मैं क्षण-भर के लिए हक्का-बक्का होकर बेवकूफों की तरह उसकी ओर देखता रह गया। पर उस अप्रत्याशित धक्के से सँभलने में मुझे अधिक देर न लगी। मैंने शान्तभाव से उत्तर दिया, "मेरे पास न कोई पर्स है, न चार सौ रुपया ही।"

"तब जितना कुछ भी तुम्हारे पास है, झट से निकालकर, बिना बहस के

चुपचाप मेरे हवाले कर दो," अपने दाएँ हाथ की उँगलियों को रुपया वसूलने की-सी मुद्रा में नचाते हुए उसने कहा।

मैंने कहा, "यहाँ प्रकाश अधिक है। यहाँ देना ठीक न रहेगा, कोई देख लेगा। तनिक अँधेरे में चलो तो मैं तुम्हें दूँ।"

अब के उलटे मैं उसका हाथ पकड़कर—बल्कि खींचकर—मैदान में एक ऐसी जगह उसे ले गया जहाँ कोई बत्ती नहीं जल रही थी। एकदम अँधेरा भी नहीं था, क्योंकि दूर की बत्तियों का धुंधला-सा प्रकाश वहाँ भी कुछ-न-कुछ पहुँच ही रहा था। पर जगह थी एकान्त और हवाखोरी के लिए आए हुए स्त्री-पुरुष वहाँ से काफी दूरी पर थे। वहाँ पहुँचते ही मैंने सहसा बाएँ हाथ से उसका गला पकड़ा और दाएँ हाथ से उसके कोट का बटन खोलकर भीतर की जेब से उसका 'पर्स' निकाल लिया। वह बेहद छटपटाता हुआ 'क्या करते हो, क्या करते हो !' कहता ही रह गया; पर चाचा के यहाँ मैंने पहलवानी यों ही नहीं सीखी थी। मेरी वज्रमुष्टि से वह किसी तरह भी अपने को छुड़ा न पाया। बहुत गालियाँ दीं उसने। पर उन गालियों से मेरे काम में तनिक भी बाधा नहीं पहुँची। पर्स लेकर मैंने कुर्ते के भीतर बंडी की जेब में उसे गायब करते हुए कहा, "इसके पहले मेरा ध्यान इस ओर गया ही नहीं था कि तुम 'पर्स' भी रखते हो या नहीं। तुम्हींने स्वयं अपने पर्स की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। इसके लिए तुम्हें धन्यवाद देता हूँ। अब बताओ तुम सच-सच। अगर तुम सचमुच सी० आई० डी० के अफसर हो, तब तो तुम्हारा अपराध अक्षम्य है। रक्षक का पद ग्रहण करके तुम भक्षक बनते हो ! और किसी समर्थ और सम्पन्न व्यक्ति को नहीं, बल्कि चुन-चुनकर संबलहीन, निरीह व्यक्तियों को तुम अपनी नीच प्रवृत्ति का शिकार बनाना चाहते हो ! तुमसे बढ़कर किसी दूसरे कमीने और कायर की कल्पना ही मैं नहीं कर सकता। इसलिए मैं तुम्हें अभी यहीं जिन्दा गाड़ देना चाहता हूँ। और अगर तुम सी० आई० डी० के आदमी नहीं हो और जीवन की परिस्थितियों से विवश होकर तुमने इस तरह की, लूट-खसोट का पेशा अख्तियार किया है, तो मैं तुम्हें क्षमा कर दूँगा।"

"मैं चाहे कोई भी होऊँ, तुमसे क्या मतलब ! मेरा पर्स वापस करो, वर्ना··· नतीजा अच्छा न होगा।" पर उसकी वह धमकी एकदम खोखली थी, यह बात वह स्वयं अच्छी तरह जान गया था।

मैंने उत्तर में केवल एक ठहाका मारा। पर जब वह गाली देने लगा, तब मैंने एक ऐसा तमाचा उसके बाएँ गाल पर जड़ा कि वह घूमन खाकर पाँच गज पीछे जाकर गिरा। मैंने गरजकर कहा, "सीधे अपना रास्ता नापो, वर्ना अभी गला घोंटकर तुम्हारा काम खतम कर डालता हूँ···"

"अच्छा, अच्छा, मैं देखता हूँ अभी। तुम्हारी सारी शेखी मैंने न भुला दी तो मेरा नाम···"

उसके बाद मैंने उस प्रायान्धकार में पर्स खोलकर देखा। उसमें कुल पचहत्तर रुपये थे। चार सौ बताता था बेईमान! पर्स की दूसरी जेब में एक नाम-छपा कार्ड मिला। रुपयों को जेब में रखकर, खाली पर्स को दूर फेंककर, खम्भे के प्रकाश में मैंने पढ़ा, "के० पी० शर्मा, असिस्टेंट इन्सपेक्टर, सी० आई० डी०।" पढ़कर मेरे आनन्द की सीमा न रही। "वह भी सोचेगा कि उसे कोई गुरु-घण्टाल मिला है," मैंने मन-ही-मन कहा।

दूसरे दिन मैं इधर-उधर चक्कर लगाने के बाद दोपहर के समय खिदिरपुर की तरफ चला गया। मैंने देखा कि हजारों मोटरें एक-दूसरे का अनुसरण करती हुई एक विशेष दिशा की ओर बढ़ी चली जा रही थीं और उस ओर जानेवाली ट्रामें और बसें भी खचाखच भरी हुई थीं। मामला क्या है, यह जानने का कुतूहल मुझे हुआ और मैं भी पैदल ही उस ओर बढ़ा चला गया। पता चला कि घुड़दौड़ का विशेष पर्व होने के कारण लोग रेस-कोर्स की ओर बेतहाशा भागे चले जा रहे हैं। सहसा मेरे सिर पर भी न जाने कौन भूत सवार हुआ, मैंने भी घुड़-दौड़ के मैदान के फाटक पर जाकर पाँच रुपया देकर पहले दर्जे का टिकट खरीद लिया। भीतर प्रवेश करने पर देखा कि प्रायः साठ-सत्तर हजार स्त्री-पुरुष नीचे मैदान में और स्टेडियम के ऊपर भीड़ लगाये हुए थे और अनायास अर्थ-प्राप्ति की दुराशा में या तो नई दौड़ के लिए टिकट खरीद रहे थे या आपस में सलाह करने में व्यस्त थे कि किस घोड़े पर दाँव लगाया जाए। कुछ लोग एक बहुत लम्बे-चौड़े बोर्ड पर जल्दी-जल्दी बदलते रहनेवाले आँकड़ों को बड़े गौर से पढ़

रहे थे, जिनसे यह पता चलता था कि किन-किन घोड़ों पर बिक्री हो रही है और किस घोड़े से लोग सबसे अधिक आशा रखते हैं। कुछ लोग एक बहुत ही छोटी-सी पुस्तिका हाथ में लिए बड़े गौर से उसमें उन घोड़ों की पिछली दौड़ों का इतिहास पढ़ रहे थे जो आगामी दौड़ में दौड़नेवाले थे। कुछ लोग वहाँ खड़े थे जहाँ दौड़नेवाले घोड़ों और घुड़सवारों का प्रदर्शन हो रहा था और अनुभवी और कुशल पारखियों की दृष्टि से वे लोग उनका निरीक्षण कर रहे थे। सबके चेहरों पर एक अजीब-सी व्यस्तताजनित चञ्चलता छाई हुई थी।

उस सारे वातावरण का छुतहा प्रभाव मुझ पर भी पड़ा और मैंने भी उस छोटी-सी पुस्तिका का अध्ययन आरम्भ कर दिया जिसे मैं बाहर फाटक पर ही से खरीद लाया था। उसके बाद एक विशेष घोड़े को पसन्द करके उस पर दस रुपये का एक टिकट खरीद लिया। थोड़ी देर बाद घोड़ों को उस स्थान पर ले जाकर कतार में खड़ा कर दिया गया जहाँ से दौड़ शुरू होनेवाली थी। मैं स्टेडियम के सबसे ऊपरवाले बेंचों के पास जाकर खड़ा हो गया। सभी नर-नारी अत्यन्त उत्सुक भाव से, एकान्त मनोयोग से दूसरे ही क्षण दौड़ने के लिए तत्पर घोड़ों की ओर देख रहे थे। सब के हृदय आशा और उत्कण्ठा की तीव्र धड़कन से तरंगित हो रहे थे। प्रत्येक दर्शक की चेतना का एक-एक अणु उन घोड़ों की परिपूर्ण तन्मयता के साथ केन्द्रित हो रहा था।

दूसरे ही क्षण ज्यों-ही घोड़े दौड़ पड़े त्यों-ही हजारों कण्ठ जैसे बिजली के एक ही स्विच के दबाए जाने से समान रूप से आन्दोलित होकर, हाथों को नचाते और शरीर के प्रत्येक अंग को हिलाते हुए गला फाड़-फाड़कर अपनी-अपनी पसन्द के घोड़े का नाम या नम्बर पुकार-पुकारकर सारे आकाश को चीरने, समूची पृथ्वी को विदीर्ण करने की होड़ लगा बैठे। वह उन्मत्त सम्मिलित स्वर प्रलय-काल में उमड़े हुए समुद्र की असंख्य तूफानी लहरों का-सा भैरव रोर उपस्थित कर रहा था। सबके चेहरे एक अस्वाभाविक उत्तेजना की चमक से तमतमा रहे थे। लगता था जैसे प्रत्येक के जीवन-मरण का प्रश्न उसी दौड़ पर निर्भर है। गरीब-से-गरीब क्लर्क से लेकर धनी-से-धनी सेठ तक सभी जैसे सहसा पागल हो उठे थे। सब लोग घोड़ों की ओर टकटकी लगाए थे और मैं उन दर्शकों के मुख के भावों पर आँखें गड़ाए था। मेरे नम्बर का घोड़ा बाजी मारता है या नहीं, इस बात की तनिक भी उत्सुकता मुझमें शेष नहीं रह गई थी। मैं इस विचार में मग्न हो गया

था कि यदि वे हजारों दर्शक पूर्णतः पागल नहीं हैं तो पागलपन और किसे कहते हैं, यह मैं कभी समझ नहीं पाऊँगा। और उस पागलपन के मूल में कौन प्रवृत्ति काम कर रही है? कौन महाचुम्बक उन लोहे के पुतलों को नचा रहा है? "रुपया! रुपया! हाय रुपया! मुझे मिल जा रुपया! दूसरों की पाकेट खाली करके केवल मेरे पास आ जा रुपया! प्यारा रुपया! दिलदार रुपया! भाग्य का विधायक रुपया! आ जा रुपया! जिला जा रुपया! छाती ठण्डी कर जा रुपया! भुजा-भर भेंट जा रुपया! हाय रुपया! हाय रुपया! रुपया-रुपया-रुपया-रुपया! मुझको-मुझको-मुझको रुपया! केवल मुझको! केवल मुझको! मिल जा रुपया! मिल जा रुपया! मेरे घोड़े! मेरे घोड़े! जीत! जीत! जीत! जीत! मैं—हूँ—पागल! मैं—हूँ—पागल! मैं—मैं—मैं—मैं! अरे घोड़े! बढ़ जा, बढ़ जा, बढ़ जा, बढ़ जा!···" यह महारागिनी घोड़ों की टापों के ताल में प्रत्येक के भीतर उद्दाम स्वर से बज रही थी।

अन्त में जब दौड़ समाप्त हुई और जीतवाले घोड़ों के नम्बर दूर सामनेवाले बोर्ड पर अंकित हो गए तब सहसा पंचानवे प्रतिशत व्यक्तियों के प्रदीप्त चेहरे ऐसे बुझ गए जैसे प्रधान स्विच ही 'ऑफ्' हो गया हो। जीवन के ज्वर की सामूहिक उत्तेजना और उसके बाद मृत्यु की जड़ अवसादग्रस्त निश्चेष्टता, ये दोनों रूप ऐसे ज्वलन्त रंगों में अंकित चित्रों के रूप में मेरे सामने आ गए कि उस नये ही अनुभव के आगे मेरी अपनी हार-जीत का प्रश्न ही मेरे लिए अत्यन्त तुच्छ हो उठा। कुछ देर बाद उसी अनमने भाव से मैंने अपने टिकट में घोड़े का नम्बर देखा। वह हार गया था।

दुबारा टिकट खरीदने की तनिक भी प्रवृत्ति मुझे नहीं हुई। मेरी जेब में पैंतीस रुपये अभी तक बचे थे। पहले दर्जे के स्टेडियम के नीचे उतरकर मैं दूसरे दर्जे स्टेडियम की ओर अनमने भाव से बढ़ा चला गया। वहाँ पहुँचने पर मैंने देखा कि निम्नतम आर्थिक स्थिति के लोगों की भीड़ वहाँ लगी हुई थी। अत्यन्त साधारण कोटि के क्लर्क, कुली, मजूर, फेरीवाले, नाई, धोबी, मोची, नौसिखिए चोर, गिरहकट आदि वहाँ इकट्ठा थे। मुट्ठी-भर आदमियों को छोड़कर शेष सबके चेहरे दुराशाजनित लू से झुलसे और मुरझाये हुए थे। एक अधेड़ आदमी, जो फटी-मैली कमीज और कोयला और तेल के सैकड़ों दागों से सुशोभित पैंट पहने था, खुले भाव सिर पीटकर रो रहा था। उसके विलाप से यह स्पष्ट था कि वह

कुल रुपये हार चुका है और उन हारे हुए रुपयों को नये दाँवों द्वारा लौटाने की दुराशा का क्षणिक काल्पनिक सुख बनाए रखने का तनिक भी साधन उसके पास नहीं बचा है। मैंने उसके पास जाकर उससे पूछा कि वह कितने रुपये हारा है। उसने बताया कि बीस रुपये उसके पास थे और उन बीसों को वह हार चुका है। मैंने धीमे स्वर में उसके कान के पास मुँह करके कहा, "मेरी एक बात मानो तो मैं तुम्हें बीस के बजाय तीस रुपये दे दूँगा।" वह रोना-कलपना छोड़कर अत्यन्त विस्मित और उत्सुक दृष्टि से मेरी ओर देखता हुआ बोला, "क्या बात ?" मैंने कहा, "तुम इन तीस रुपयों को अपने पास रखकर फिर यहाँ एक क्षण भी न ठहरना और सीधे घर वापस चले जाना। बोलो मंजूर है तुम्हें यह शर्त ?"

उसके मुख पर तीन-चौथाई प्रसन्नता झलक उठी और एक-चौथाई निराशा। "अच्छी बात है, दे दो रुपये। तुम यही चाहते हो तो मैं घर ही चला जाऊँगा। तुम्हारी बात रह जाय। मैं और कर ही क्या सकता हूँ—लाचार जो हूँ !" प्रायः एक लम्बी साँस भरते हुए उसने कहा। स्पष्ट ही अगली दौड़ में पाँच रुपये और लगाकर अपनी तकदीर के विरुद्ध एक बार और लड़ने की उत्कट आकांक्षा को दबाना उसके लिए अत्यन्त कष्टकर सिद्ध हो रहा था।

मैंने जेब से तीस रुपये निकालकर उसके हवाले किये और अपने ही साथ वापस चलने के लिए कहा, क्योंकि उसकी बात पर मुझे कोई भरोसा नहीं था। वह कुछ दूर तक मरे मन से मेरे साथ-साथ फाटक की ओर चला। उसके बाद सहसा भीड़ में किस समय और कैसे गायब हो गया, मैं कह नहीं सकता। मैं मन-ही-मन खिसियानी-सी हँसी हँसता हुआ फाटक के बाहर निकल गया।

इस प्रकार जब पहलवान के दिये हुए रुपये भी प्रायः सब जेब से निकल गए—केवल पाँच रुपये शेष रह गए—तब मुझे लगा जैसे एक बहुत बड़ा बोझ मेरे शरीर और मन पर से उतर गया। वे रुपये मुझे बुरी तरह काट रहे थे। और उन्हें जेब में लिये हुए मुझे एक पल के लिए चैन नहीं मिल रहा था। फाटक के बाहर चाटवालों के खोमचे लगे थे। मुझे बड़ी भूख लगी थी। खड़े-खड़े प्रायः आठ आने की चाट मैं खा गया। उसके बाद पानी पीकर मैं आगे बढ़ा। मेरी

जेब में अब साढ़े चार रुपये बचे थे जो दो-तीन दिन के चने-चबैने के लिए काफी थे। इसलिए तब तक के लिए निश्चिन्त होकर मैं मगन चला जा रहा था—निकटतम बस-स्टैंड की ओर।

कुछ ही दूर आगे चलने पर मैंने देखा, एक जवान लड़की एक मोटी-सी और धूल से धूसरित धोती पहने फुटपाथ पर खड़े-खड़े दहाड़ मार कर रो रही थी। भिखारी लड़कियों के इस तरह रोने-धोने के नाटकों से मैं भली-भाँति परिचित था, इसलिए प्रारम्भ में कोई विशेष समवेदना उस लड़की के प्रति मेरे मन में नहीं जागी। पर कुतूहलवश मैं उसके निकट खड़ा हो गया और मैंने आस-पास, अगल-बगल में खड़े तमाशबीनों से पूछा कि उसके रोने का कारण क्या है। कोई भी न बता सका। अन्त में मैंने लड़की के एकदम निकट जाकर उसीसे पूछा। वह एक बार उपेक्षा की-सी दृष्टि से मेरी ओर देखकर उसी तरह रोती रही। इस बार मैंने गौर से उसकी आँखों में झलकनेवाले भाव का अध्ययन किया। देखकर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि चाहे कैसी ही कुशल अभिनेत्री क्यों न हो, रोने का ऐसा सच्चा और सजीव चित्र वह आँखों में कभी नहीं उतार सकती। इसलिए वह लड़की निश्चय ही किसी यथार्थ और मार्मिक व्यथा से पीड़ित है। मैंने जब अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण स्वर में बार-बार पूछा, तब उसने उसी तरह रोते हुए बताया कि उसकी गाँठ से कोई गिरहकट सब पैसे निकाल ले गया है। "कितने पैसे थे कुल तुम्हारे पास?" मैंने पूछा। वह बोली, "करीब दो रुपया रहा होगा।" स्पष्ट ही भीख माँग-माँगकर उसने पैसे बटोरे होंगे। फिर एक बार क्षणभर के लिए मुझे सन्देह हुआ कि वह लड़की राहगीरों की समवेदना जगाकर उनसे पैसा माँगने का एक नया तरीका अख्तियार किये हुए है। पर दूसरे ही क्षण मैंने सन्देह को मन से झाड़कर अपने जेब से चार रुपये निकालकर उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा, "लो, इन्हें सँभाल कर रखो और चुपचाप घर चली जाओ!" बाएँ हाथ के आँचल से आँसू पोंछते हुए उसने दाएँ हाथ से मेरे दिए हुए रुपये स्वीकार कर लिए।

मेरी बात सुनकर पास ही खड़ा एक आदमी जिसके सिर का अगला हिस्सा गंजा होने के लक्षण प्रकट कर रहा था और जो सुनहरे बटनों से युक्त एक लम्बा-सा रेशमी कुरता और चिट्टी-सी चुन्नटदार धोती पहने था और आँखों में सींग के फैशनदार फ्रेमवाला चश्मा चढ़ाये हुए था, मेरी अज्ञानता पर हँसता हुआ बोला, "उसके कहीं घर हो तब तो! ये सब आवारा और दस-नम्बरी लोग केवल चलते-

फिरते राहगीरों को लूटने और उनकी पाकिटें 'मारने' की कला जानते हैं, और फुटपाथों पर पड़े रहते हैं। अपने लिए कोई ठिकाना खोजने की तनिक भी चिन्ता इन्हें नहीं रहती और पुलिसवालों का 'मिस-मैनेजमेन्ट' देखिए कि इन्हें गिरफ्तार नहीं करते। राहगीरों को परेशान करने की खुली छूट इन्हें दे रखी है !"

वह लड़की चुपचाप वहाँ से खिसक गई थी। मैंने महाशय जी की ओर क्षण-भर के लिए गौर से देखा, फिर कहा, "आप कहाँ तशरीफ ले जा रहे हैं ?"

"रेस-कोर्स।"

"जो लेक्चर आपने यहाँ दिया वही टर्फ-क्लब के प्रबन्धकर्ताओं को भी दीजिएगा, क्योंकि ये 'दस-नम्बरी' बेचारे तो सिर्फ अनजान राहगीरों को लूटते हैं, पर टर्फ-क्लबवाले डंके की चोट से सभी अखबारों में सामूहिक लूट की घोषणा करके, खुले-आम, बड़ी 'शराफत' के साथ हजारों जानकारों की पाकिटें खाली करवा लेते हैं।"

मेरी बात सुनकर 'महाशय जी' तो चुप रहे, पर पास ही खड़ा एक आदमी, जो पोशाक-पहनावे से किसी दफ्तर का चपरासी-सा लगता था, अत्यन्त प्रसन्न भाव से बोल उठा, "वाह बाबूजी, क्या लाजवाब बात कही आपने !"

वहाँ से कुछ दूर पश्चिम की ओर जाकर मैं अनमने भाव से एक बस-स्टैण्ड के पास खड़ा हो गया। अभी जेब में आठ आने पैसे बचे थे। किधर चलना चाहिए और क्या करना चाहिए, यह मैं स्वयं नहीं जानता था और न यह प्रश्न ही मेरे मन में उठ रहा था। कुछ देर ठहरने के बाद एक 'बस' आ पहुँची। वह कहाँ जायगी, इसकी कोई जानकारी मुझे नहीं थी, पर मुझे जानने की कोई जरूरत भी नहीं थी, इसलिए मैं उस पर बैठ गया।

'बस' पूरी-की-पूरी खाली हो गई थी और नये यात्री उस पर चढ़ रहे थे। जब 'कंडक्टर' आया तब मेरी बगल में जो आदमी बैठा हुआ था उसने धर्मतल्ले तक का टिकट माँगा। उसकी देखा-देखी मैंने भी धर्मतल्ले तक का टिकट ले लिया।

मैं इस कदर अनमना हो चला था कि ठीक से कुछ सोच ही नहीं पाता

था। मेरे मन के ऊपर तरह-तरह के विचित्र चलचित्र अंकित होकर मिटते चले जा रहे थे और फिर उन मिटे हुए चित्रों के ऊपर नये चित्र अंकित हो रहे थे। उन चलचित्रों की सतह के ठीक नीचे अनेक अस्पष्ट और धुँधले स्वप्न प्रशान्त झील में रंग-बिरंगी मछलियों की तरह जैसे तैर रहे थे, केवल इतना ही अनुभव मैं कर रहा था।

'बस' कब धर्मतल्ले से आगे भी बढ़ गई, मैं जान ही न पाया। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि मुझे धर्मतल्ला उतरना चाहिए, यह बात मैं भूल ही गया। कंडक्टर भी किसी कारण से मुझे याद दिलाना भूल गया, वर्ना कंडक्टरों की स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक रूप से तीव्र होती है और सैकड़ों यात्रियों के चढ़ते-उतरते रहने पर भी वे प्रत्येक यात्री को एक बार देखने पर फिर उसे नहीं भूलते। किससे टिकट वसूला गया है और किससे नहीं और किसने कहाँ तक का टिकट खरीदा है, ये सब बातें वे आश्चर्यजनक रूप से याद रखते हैं।

जो भी हो, उसी अनमनी स्थिति में मेरे कानों में सहसा आवाज आई, 'लोअर सरकुलर रोड!' मैं जैसे स्वप्न से उचक पड़ा। कई यात्री उतरे और उनके साथ मैं भी उतर पड़ा।

चौराहे पर सड़क को पार करने के प्रयत्न में मैं इधर से आती हुई ट्राम, उधर से आती हुई 'बस' और सामने से आती हुई एक 'कार' के बीच में फँसकर लपेट में आते-आते रह गया। किसी तरह सड़क पार करके मैं, सामनेवाले छोटे से पार्क के भीतर घुस गया। पता नहीं क्यों, बड़ी थकावट मालूम हो रही थी। एक बेंच आधी खाली देखकर धम्म से उसी पर बैठ गया। 'पान-बीड़ी सिगरेट' की आवाज लगाता हुआ एक आदमी सामने से चला आ रहा था। मुझे अचानक करीम चाचा के हुक्के की याद बुरी तरह सताने लगी। और उसी ताव में मैंने एक बंडल बीड़ी और एक डिब्बा दियासलाई खरीद लिया। एक बीड़ी जलाकर इतमीनान से पी ही रहा था कि सहसा सामनेवाले मकान की ओर मेरी दृष्टि गई। यह वही मिस्टर भादुड़ीवाली कोठी थी जहाँ प्रायः एक साल पहले मैं नौकरी की खोज में गया था। पल में एक नई सूझ बिजली की तरह मेरे मन के अँधेरे के बीच कौंध गई। मेरी दिन-भर की सारी जड़ता और अवसाद दूर हो गया।

बीड़ी खतम होने पर मैं उठा और सीधे भादुड़ी महाशय की कोठी के फाटक

के भीतर पूरे आत्म-विश्वास के साथ घुसा। उस समय मेरे मन के किसी भी कोने में न तनिक भी हिचक थी, न लेशमात्र शंका। भीतर प्रवेश करते ही मैंने देखा, घर की मालकिन नीचेवाले बरामदे में खड़ी हैं। आज वह काफी स्वस्थ और सुन्दर दिखाई देती थीं। मैंने उनके निकट जाकर, सिर झुकाकर हाथ जोड़े। वह मन्द-मन्द मुस्कराती हुई मेरी ओर देखती रहीं। स्पष्ट ही उन्होंने मुझे पहचाना नहीं था। पहचानना सम्भव भी नहीं था। पिछले साल जब मैं कई दिनों का भूखा-प्यासा उनके यहाँ पहुँचा था, तब मेरे प्रेत-शरीर पर मौत की छाया नाच रही थी। पर आज करीम चाचा की कृपा से मेरा कायाकल्प हो चुका था। मेरे शरीर के सुदृढ़ गठन और चेहरे पर रक्त और मांस की वृद्धि ने निश्चय ही मेरे व्यक्तित्व को एक निराले ही ढंग का पुरुषोचित सौन्दर्य प्रदान कर दिया होगा।

जो भी हो, मैंने उसी क्षण यह अनुभव किया कि मुझे देखते ही मालकिन का चेहरा अकारण प्रसन्नता से चमक उठा।

मैंने उसी तरह हाथ जोड़ते हुए ठेठ बँगला में कहा, काम की खोज में आया हूँ। खाना बनाना जानता हूँ। यदि आपको रसोइये की आवश्यकता हो तो···"

"ओः! तुम खाना बनाना जानते हो?" यह कहते हुए मालकिन का चेहरा अधिक खिल उठा। "तब तो तुम अच्छे ही मौके पर आए हो। आज तीन दिन हुए हमारा रसोइया नौकरी छोड़कर चला गया है। हम लोग किसी दूसरे रसोइए को खोज ही रहे थे··।"

अपने इतने बड़े सौभाग्य की कल्पना मैंने नहीं की थी। जब बात बनने को होती है तब पहले ही कदम के सभी जोड़-तोड़ ठीक-ठीक मिलते चले जाते हैं। मैं तो यही कल्पना करके गया था कि भादुड़ी साहब के यहाँ इस बार एक नया संघर्ष मोल लेना पड़ेगा। पर प्रारम्भ ही में गृहलक्ष्मी का प्रसन्न मुख देखने को मिला और उसके बाद सब शुभ होता चला गया।

"तुम क्या हर तरह का खाना बना लेते हो?" मालकिन ने पूछा।

"इतनी धृष्टता की बड़ी बात आपसे कैसे कह दूँ मालकिन, कि मैं हर तरह का खाना बना लेता हूँ। इस दुनिया में व्यंजनों के प्रकारों का कोई अन्त नहीं है।" बड़े ही विनम्र और विनोदात्मक भाव से मैंने कहा।

"मेरा मतलब सिर्फ इतना ही था कि 'वेजिटेरियन' और 'नॉन-वेजिटेरियन' दोनों ही प्रकार का खाना बना लेते हो या 'नॉनवेजिटेरियन' से परहेज है तुम्हें?"

"नहीं, कोई परहेज नहीं है मुझे।"

"तब ठीक है। क्या लोगे?"

"पहले आप मेरा काम देख लें। उसके बाद आप जो भी तय करेंगी मैं सहर्ष स्वीकार कर लूँगा। केवल एक बात के लिए मैं आपसे पहले ही से आग्रह करना चाहता हूँ।"

"क्या?"

"मुझे रहने के लिए आपको अपने ही यहाँ थोड़ी-सी जगह देनी होगी।"

"वह तो देनी ही होगी। इस बात की कोई चिन्ता मत करो। तब चलो अभी भीतर। तुम्हें सब काम समझाकर सहेज देती हूँ।"

"जो आज्ञा", कहकर मैं उनके पीछे-पीछे चलता हुआ भीतर गया। भीतर जो भी व्यक्ति मिलता था उससे बड़ी प्रसन्नता से मालकिन बताती जाती थीं कि रसोइया मिल गया है। रसोई-घर नीचे ही वाले खण्ड में पच्छिम की ओर था। उसकी बगल में ही भण्डार-गृह था। पहले मालकिन ने भण्डार की हर चीज मुझे दिखाते हुए यह बताया कि कौन सामान कहाँ रखा है। उसके बाद उन्होंने बड़े विस्तार से यह समझाना आरम्भ किया कि घर में खानेवाले कितने सयाने हैं और कितने बच्चे, कितना आटा अन्दाजन खर्च होगा, कितना चावल और कितनी दाल। रात में खाना क्या-क्या बनेगा। तरकारियाँ किस-किस चीज की और कितने प्रकार की रहेंगी और मांस और मछली की क्या-क्या किस्में बनेंगी। कितने व्यक्ति 'वेजिटेरियन' खाना खाएँगे और कितने 'नॉन-वेजिटेरियन'। कितना घी लगाना चाहिए और कितना तेल। इसी तरह की और भी बहुत-सी आवश्यक बातें मोटे तौर पर उन्होंने मुझे बताईं। मैं बड़े ध्यान से उनकी प्रत्येक बात सुनता रहा।

घर के बच्चे और सयाने, जवान और बुड्ढे, लड़के और लड़कियाँ, स्त्री और पुरुष, नौकर-चाकर सभी बड़े कुतूहल से मेरी ओर देख रहे थे। इस बार किसी के मुख पर विद्वेष अथवा उपेक्षा का भाव तनिक भी मैंने नहीं पाया। यह आश्चर्य ही की बात मुझे लग रही थी। इसका केवल एक ही कारण मुझे लग रहा था। पिछली बार जब मैं इसी मकान में नौकरी अथवा आश्रय की माँग लेकर आया था तब मेरे प्रेत-मुख की अभिव्यक्ति निश्चय ही ऐसी भयानक रही होगी कि सभी के मन में मेरे सम्बन्ध में तरह-तरह की शंकाएँ उत्पन्न हुई होंगी।

किसी ने मुझे गिरहकट समझा होगा, किसी ने चोर और किसी ने खूनी। पर इस बार मेरा असाधारण रूप से स्वस्थ शरीर देखकर सबके मन पर मेरे सम्बन्ध में स्पष्ट ही अच्छा प्रभाव पड़ रहा था। मालकिन ने केष्टो से भी मुझे मिलाया, जो पिछले वर्ष मुझे ईडेन गार्डन्स में छोड़ आया था। स्पष्ट ही उसने भी मुझे नहीं पहचाना था। वह पहचान भी नहीं सकता था।

मालकिन के सुझाव से और केष्टो की सहायता से मैंने रात के प्रायः आठ बजे तक शाम का कुल खाना तैयार कर लिया। जब डाइनिंग रूम में बच्चों, जवानों और सयानों को खाना खिलाया जा चुका तब केष्टो ने और खाना ले जाने वाले दो नौकरों ने बताया कि आज का खाना सब लोगों को बहुत पसन्द आया: बच्चों से लेकर बड़े बाबू तक, सभी ने एक-स्वर से सभी व्यंजनों की बड़ी प्रशंसा की। बड़े बाबू को इस बार मैंने अभी तक देखा नहीं था, पर चूँकि मालकिन की कृपा का आश्वासन मुझे मिल चुका था, इसलिए मालिक से न मिल पाने की कोई चिन्ता मुझे नहीं थी।

मालिकों के बाद नौकर-चाकरों को खाना खिलाया और अन्त में अपना पेट भरा। सारे चक्कर के बाद प्रायः साढ़े ग्यारह बजे मुझे छुट्टी मिली। सोने के लिए केष्टो मुझे अपने कमरे में ले गया, जो नीचेवाले खण्ड ही में था। इस बार केष्टो मुझ पर विशेष कृपाशील और प्रसन्न दिखाई देता था। एक तख्त पर उसने मेरे लिए पूरा बिस्तर बिछवा दिया और ऊपर से एक नई धुली चिट्टी-सी चादर डलवाकर ओढ़ने के लिए भी एक हल्की और नई चादर दिलवा दी। उसका बिस्तर उसी कमरे में, सामनेवाले तख्त पर पहले ही से बिछा था।

मैंने बाँहकटी बंडी की जेब से बीड़ी और दियासलाई निकाली और एक बीड़ी केष्टो की ओर बढ़ाई। वह बोला, "बीड़ी क्या पीते हो, लो सिगरेट पिओ।" और कैप्सटैन सिगरेट का एक पैकेट खोलकर उसने मेरी ओर बढ़ाया। मैंने कहा, "धन्यवाद। अभी बीड़ी ही पीऊँगा, बाद में जरूरत पड़ने पर माँग लूँगा।" यह कहकर मैंने अपने लिए एक बीड़ी जलाई।

उसने एक सिगरेट जलाई और पलंग पर चित लेटकर पीने लगा। हम दोनों काफी देर तक गपशप करते रहे। मैंने उससे बहुत-सी बातें उस घर के निवासियों के सम्बन्ध में मालूम कर लीं। केष्टो की बातों से पता चला कि घर के मालिक—बड़े भादुड़ी महाशय—कलकत्ते के बड़े 'नामी' और 'प्रभावशाली' व्यक्ति हैं।

सभी मिनिस्टर उन्हें 'बहुत मानते हैं।' उनसे कई बार किसी विशेष विभाग का मन्त्रित्व स्वीकार करने की प्रार्थना की जा चुकी है, पर वह मन्त्री बनने में कोई विशेष लाभ नहीं देखते। व्यावसायिक वृद्धि प्रतिवर्ष बड़ी तेजी से होती चली जा रही है। मिनिस्टर बनने से उनका कार्यक्षेत्र बँध जायगा और आमदनी अच्छी होने पर भी उस हद तक नहीं हो पाएगी जितनी आजकल है। पर मिनिस्टर न बनने पर भी उनका प्रभाव सभी क्षेत्रों में 'मिनिस्टरों' से कहीं अधिक है और स्वयं मिनिस्टर लोग सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में उनकी राय लिया करते हैं। वह नेता भी हैं और समय-समय पर सार्वजनिक सभाओं में बड़े जोरदार भाषण दिया करते हैं। यह सम्भव है कि केष्टो ने अपने 'कर्ता' (मालिक) के प्रभाव का वर्णन मुझ पर रोब जमाने के लिए कुछ बढ़ा-चढ़ाकर किया हो।

केष्टो से मुझे यह भी मालूम हुआ कि भादुड़ी महाशय के पाँच लड़के हैं और पाँच ही लड़कियाँ भी। बड़ा लड़का हरेन्द्र रसायन शास्त्र में 'रिसर्च' कर रहा है; उससे छोटा लड़का सुरेन्द्र एम० ए० फाइनल में बँगला साहित्य का अध्ययन करता है और उससे छोटा लड़का नरेन्द्र बी० ए० में पढ़ता है। बड़ी लड़की ज्योति की शादी किसी मिनिस्टर के लड़के के साथ हो चुकी है। दूसरी लड़की दीप्ति एम० ए० प्रीवियस में अँगरेजी साहित्य लिये हुए है। उससे छोटी लड़की स्मिति इंटरमीडियेट में पढ़ती है। शेष चार बच्चे छोटे हैं, जिनमें दो स्कूल में पढ़ते हैं।

मुझे बताया गया कि गृहिणी स्वभाव की बहुत भली हैं। वह किसी रिटायर्ड जज की लड़की हैं। घर की सारी व्यवस्था उन्हीं के हाथ में है; कभी-कभी थोड़ी-सी कंजूसी का परिचय अवश्य दे बैठती हैं, पर अधिक नहीं। बहुत-सी बातों में उदार भी हैं। लड़कियाँ बहुत ही उदार, बुद्धिमती और स्वतन्त्र प्रकृति हैं। बड़ी लड़की, जिसकी शादी मिनिस्टर के यहाँ हुई है, कुछ घमंडी अवश्य है, पर अधिक नहीं। लड़के बड़े ही शिष्ट हैं, ऊपर से कुछ घमंडी अवश्य लगते हैं, पर भीतर से बहुत उदार हैं।

केष्टो ने यह भी बताया कि भादुड़ी महाशय की विधवा बहन अपने जप-तप और पूजा-पाठ में ही अधिक व्यस्त रहती हैं। किसी के हाथ का खाना नहीं खातीं। स्वयं बनाती हैं और एक ही बार खाती हैं। सफाई का ध्यान जरूरत से कहीं ज्यादा रखती हैं। स्वभाव उनका बहुत विचित्र है। कभी तो महीनों तक

एकदम बोलती ही नहीं और कभी बहुत अधिक और बे-मतलब की बातें बोलने लगती हैं—यहाँ तक कि अकेले स्वयं अपने-आप से बातें करने लगती हैं।

इस रूप में केष्टो ने मुझे संक्षेप में घरवालों का परिचय दिया। स्वयं अपने बारे में उसने जो बातें बताईं उनसे पता चला कि प्रारम्भ में वह एक साधारण नौकर की हैसियत से भादुड़ी परिवार में प्रविष्ट हुआ था। उसके बाद धीरे-धीरे उसने 'गिन्नी' (अर्थात् घर की मालकिन) को अपने कामों से इस प्रकार खुश कर लिया कि वह एक प्रकार से उनका 'एडीकाँग' (यह केष्टो का ही शब्द था) बन गया। अब सारे घर की व्यवस्था गिन्नी उसी की सहायता से करती हैं। गिरस्ती से सम्बन्धित कुल चीजें उसी के माध्यम से खरीदी जाती हैं और कोई भी व्यवस्था उसकी सलाह के बिना नहीं होती है। फलस्वरूप उसकी माली हालत काफी अच्छी हो गई है, यह संकेत केष्टो ने, शायद भूल से, मुझे दे दिया।

और वास्तव में केष्टो के ठाठ ही कुछ और थे। वह किसी भी रूप में नौकर श्रेणी का आदमी नहीं लगता था। जब वह किसी काम से बाहर निकलता था, तब नया रेशमी कुर्ता और चुन्नटदार शान्तिपुरी धोती पहनता था। उसके कुर्ते के बटन अठारह कैरेट सोने के होते थे। अपने कृत्रिम घूँघरवाले बालों पर जो टेढ़ी माँग वह निकालता था वह अरुचि उत्पन्न करती थी। सिर पर तेज खुशबूवाला तेल और कपड़े में कभी गाजीपुरी इत्र और कभी 'ईवनिंग इन पैरिस' के ढंग का 'एसेन्स' मलता था। बाल उसके काले और धुँघराले थे। उसने यद्यपि अपनी उम्र चालीस वर्ष बताई थी, पर देखने में वह तीस-बत्तीस से अधिक का नहीं लगता था। सुन्दर तो उसे मैं नहीं कहूँगा, पर औसत बंगाली की अपेक्षा अधिक गोरा और स्वस्थ लगता था। घर के नौकर-चाकरों के प्रति उसका व्यवहार बहुत ही रूखा और कड़ा रहता था। सभी नौकर उससे डरते थे—वह मालकिन का 'एडी-काँग' जो था! घमंड—बल्कि ओछापन—उसके स्वभाव में कूट-कूटकर भरा था। पर मेरे प्रति इस बार, पता नहीं क्यों, वह विशेष कृपाशील हो उठा था और पहले ही दिन से मेरे साथ घनिष्ठ मैत्री का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विशेष उत्सुक दिखाई देता था। बहुत सोचने पर मुझे इसका केवल एक ही सम्भव कारण लगा। सारी सुख-सुविधाओं के बावजूद वह निश्चय ही हर समय यह अनुभव करता होगा कि उस घर में एक भी आदमी ऐसा नहीं है जिसके साथ वह जी खोलकर, बिना किसी तकल्लुफ के, बातें कर सके। बड़े बाबू और छोटे बाबुओं से—अर्थात् मालिकों

से—समान स्तर पर बातें करने का साहस उसे नहीं हो सकता था। मालकिन के मुँह वह अवश्य लगा हुआ था, पर उनसे भी 'कामरेडशिप' के स्तर बातें नहीं हो सकती थीं। घर के दूसरे नौकर-चाकरों को वह अपने से बहुत हीन मानता था, और उन्हें इस योग्य नहीं समझता था कि खुलकर उनसे बातें कर सके। इसलिए जब उसने मुझे पाया, तब सम्भवतः मेरा व्यक्तित्व देखकर किसी कारण से उसके मन में यह (गलत या सही) धारणा जम गई कि मैं न तो साधारण कोटि के नौकर-चाकरों की श्रेणी में आता हूँ न बाबुओं की कोटि में, अर्थात् वह समझने लगा कि मैं प्रायः उसी की समश्रेणी का आदमी हूँ—मेरा पद उससे थोड़ा ही नीचे है। इसलिए मुझे अपना साथी बनाकर वह अपने इतने दिनों के अकेलेपन की व्यथा को कुछ हल्का कर रहा था।

भाग्य का चक्र, 'चान्स' या 'लक' नाम की किसी चीज का कोई अस्तित्व है या नहीं, और है तो किस रूप में और किस हद तक, यह मैं नहीं जानता। पर इतना कह सकता हूँ कि इस बार जब मैंने भादुड़ी परिवार का आश्रय ग्रहण किया तब अप्रत्याशित रूप से सारे घरवालों की कुछ विशेष ही कृपा मुझ पर होने लगी। बच्चों से लेकर सयाने तक सभी मेरी पाक-कला की प्रशंसा करते हुए मुझसे खुश रहने लगे। मालकिन तो मुझ पर विशेष रूप से प्रसन्न दिखाई दीं। वह हर समय हँसती हुई मुझसे मिलती थीं। कभी किसी भी बात के लिए मुझे डाँट नहीं बताती थीं और न मेरे किसी काम से असन्तुष्ट रहती थीं! वैसे उनकी आदत कुछ जोर से बोलने की थी और दूसरे नौकर-चाकरों को वह अक्सर डाँटती रहती थीं, पर मेरे साथ बड़ी शिष्टता से बातें करती थीं और कभी-कभी मुझे लगता था कि वह मुझे कैष्टो से भी अधिक मानने लगी हैं। उन्होंने रसोई-घर का सारा प्रबन्ध मुझे सौंप दिया और भण्डार की चाबी भी मुझे दे दी। कुछ दिन बाद उनके व्यवहार से मुझे ऐसी आशंका होने लगी कि कहीं कैष्टो के स्थान पर वह मुझे ही अपना 'एडीकाँग' नियुक्त न कर लें।

मेरी लोकप्रियता दिन-दिन बढ़ते देखकर कैष्टो को मन-ही-मन कुछ कुढ़न अवश्य ही होती होगी, पर अधिक नहीं। वह बराबर मुझे अपना साथी बनाए रहा।

धीरे-धीरे अब मैं उस परिवार से इस कदर घुल-मिल गया जैसे मैं बरसों से उसी का सदस्य होऊँ। केवल बड़े बाबू को छोड़कर घर के सभी प्राणियों से मैं हिल गया था। बच्चे तो मुझसे इस कदर खुश थे कि जब मैं काम से अवकाश पाकर अपने (अर्थात् केष्टो के) कमरे में तनिक विश्राम करने के उद्देश्य से बैठता या लेटता था तब वे दल-बल सहित मेरे पास चले आते थे और परम आत्मीय जानकर तरह-तरह की बातें पूछते थे या अपने ज्ञान का भण्डार मेरे आगे खोलते थे। कभी मुझसे कहानी सुनाने का आग्रह करते और कभी स्वयं सुनाते। केष्टो उन्हें डाँटता रहता था और उन्हें कमरे से बाहर निकालने के प्रयत्न में कोई बात उठा न रखता था, पर वे नहीं मानते थे।

भादुड़ी महाशय के यहाँ समय-समय पर विभिन्न प्रकार की गोष्ठियाँ जमती थीं। एक गोष्ठी ऐसी होती थी जिसमें विशुद्ध राजनीतिज्ञ लोग (विशेषकर नामी काँग्रेसी नेता या कार्यकर्ता) जुटते थे। उस गोष्ठी में सामयिक राजनीति की चर्चा चलती थी और वर्तमान परिस्थितियों में देश की आर्थिक तथा वैदेशिक नीति क्या होनी चाहिए, इस पर गम्भीर रूप से विचार-विनिमय होता था। कुछ विशेष एम० एल० ए० उस 'प्राइवेट गोष्ठी' में सम्मिलित होते थे।

एक गोष्ठी कभी-कभी ऐसी होती थी जिसमें विशुद्ध अर्थवादी लोग सम्मिलित होते थे। उसमें बड़े-बड़े मारवाड़ी और बंगाली सेठ दिखाई देते थे। भादुड़ी महाशय चूँकि बड़े-बड़े अर्थपतियों और राजनीतिक नेताओं से समान रूप से सम्बन्ध कायम रखते थे, इसलिए तीनों की दृष्टि में उनका महत्त्व बढ़ गया था, क्योंकि तीनों उनके माध्यम से परस्पर लाभ उठाते थे। और उनके अपने लाभ का अंश तो सुरक्षित था ही!

तीसरे प्रकार की गोष्ठी में विशुद्ध आमोद-आलाप चलता था।

मैं ऐसी गोष्ठियों में किसी-न-किसी बहाने कुछ समय के लिए पहुँच जाया करता था। अतिथियों को चाय, कॉफी या शरबत पिलाने के अवसरों की ताक में मैं रहता था और किसी नौकर को भेजने के बजाय स्वयं ही 'ट्रे' लेकर भादुड़ी महाशय के दरबार में उपस्थित हो जाता था। ऐसे अवसरों पर उन लोगों की जो छिटफुट बातें मेरे कानों में पड़ती थीं उतने ही से आज की दुनिया की गतिविधि का काफी परिचय मुझे मिल जाया करता था।

मालकिन ने मेरे ही सुझाव से रसोई-विभाग में एक आदमी और बढ़ा दिया

था, जो मेरे 'असिस्टेन्ट' का काम करता था। एक और आदमी पहले ही से नियुक्त था। इस प्रकार मुझे दो 'असिस्टेन्ट' मिल गये थे। धीरे-धीरे मैंने अपनी स्थिति ऐसी बना ली कि मैं विविध व्यञ्जनों को तैयार करने में केवल 'गाइड' का काम करने लगा और बाकी सब काम मेरे सहकारी करते थे। इस तरह मैं अधिक-से-अधिक अवकाश का समय अपने लिए निकालने में समर्थ हो गया था।

भादुड़ी महाशय की कोठी में एक के बजाय दो ड्राइंग रूम थे। एक ड्राइंग रूम भादुड़ी महाशय के विशेष अतिथियों के लिए सुरक्षित था और दूसरा उनके लड़कों और लड़कियों के मेहमानों के लिए। भादुड़ी परिवार के लड़कों और लड़कियों की रुचि में मैंने एक विशेष बात पाई। वे लोग अपने पिता के संयोजन में होनेवाली राजनीतिक, आर्थिक गोष्ठियों में तनिक भी दिलचस्पी नहीं रखते थे। उनकी रुझान विशुद्ध साहित्य की ओर अधिक थी, इसलिए उनके निजी ड्राइंग रूम में प्रति शनिवार को साहित्यिक गोष्ठी जमती थी, जिसमें कलकत्ता के तरुण लेखक और लेखिकाएँ भाग लेती थीं। इस तरह की गोष्ठियों के संयोजन और संचालन में मझले भाई सुरेन्द्र भादुड़ी का हाथ अधिक रहता था, यद्यपि दूसरे भाई और बहनें भी उसमें पूरी दिलचस्पी लेती थीं। स्वयं मेरी भी दिलचस्पी इस प्रकार की साहित्यिक गोष्ठियों में बहुत रहती थी और मैं बीच-बीच में किसी बहाने समय निकालकर कमरे के एक कोने में या दरवाजे के पास खड़े होकर उन लोगों का साहित्यिक वादविवाद सुनता रहता था। ऐसी गोष्ठियों का रूप साधारणतः वैसा ही होता जैसा आजकल सभी साहित्यिक गोष्ठियों में देखा जाता था। कभी कोई कहानी पढ़ी जाती और कभी साहित्य-विषयक कोई निबन्ध। फिर बारी-बारी से प्रत्येक व्यक्ति उस कहानी या निबन्ध पर अपना मन्तव्य प्रकट करता। साधारणतः उन लोगों के विचारों का स्तर बहुत ऊँचा नहीं होता। गहन विवेचन से पूर्ण, साफ और सुलझी हुई बातें बहुत कम सुनने में आती थीं। अधिकतर विदेशी पुस्तकों या साहित्यिक पत्रों से लिये गए, रटे-रटाए वाक्य ही दुहराए जाते थे, किसी आत्मानुभूत सत्य की उपलब्धि का विशेष परिचय नहीं मिलता था। हर आदमी अपने भाषण या वक्तव्य में अधिक-से-अधिक पाश्चात्य लेखकों के नाम गिनाने या उनके वाक्यों का उद्धरण देने के लिए विशेष प्रयत्नशील दिखाई देता था। यह परापेक्षित बुद्धि और आत्मानुभूति की दयनीयता मुझे हास्यास्पद लगती थी, पर मैं गोष्ठी के बाहर भी इस सम्बन्ध में कोई बात किसी से बोलता नहीं था।

इस बात का तनिक भी आभास मैं किसी को देना नहीं चाहता था कि मैं भी साहित्य के सम्बन्ध में थोड़ी-बहुत जानकारी रखता हूँ।

लड़कों और लड़कियों की सम्मिलित साहित्यिक गोष्ठियों के अलावा हर दूसरे इतवार को केवल लेखिकाओं की साहित्यिक गोष्ठी अलग से होती थी। उनमें अक्सर कोई-न-कोई सयानी और ख्यातनामा लेखिका या कवयित्री 'प्रधान अतिथि' के रूप में आमन्त्रित रहती थी। लड़कियों की गोष्ठियों में कहानियाँ और कविताएँ ही अधिकतर पढ़ी जाती थीं और निबन्धों का पाठ बहुत कम होता था। इन गोष्ठियों की प्रधान संयोजिका थी दीप्ति। मुझे दीप्ति का व्यक्तित्व, जाने क्यों, बहुत ही प्रिय लगता था। वह बड़ी ही हँसमुख, ढीठ, स्वस्थ और सुन्दर लड़की थी। अपनी माँ से उसने थोड़ी-सी मोटाई पाई थी और अपने पिता से लम्बाई। उसका गोरा-सा चेहरा भी उपयुक्त अनुपात में गोलाई लिये हुए लम्बा था। एक परवर को लम्बा चीरने पर जो दो फाँकें बन जाती हैं वैसी ही बड़ी और तनी हुई उसकी दो उज्ज्वल आँखें दो सुडौल भौंहों की छत्रच्छाया के नीचे अठखेलियाँ करती थीं। नाक लम्बी, उभरी हुई और कुछ-कुछ नुकीली थी। दाँतों की दो सफेद पंक्तियाँ सीधी और सामंजस्यपूर्ण थीं। ओठों की दो पतली रेखाएँ ६३ के अंक की तरह आमने-सामने रखे हुए दो समान आकारवाले धनुषों की तरह अंकित-सी जान पड़ती थीं। पर उसका वास्तविक सौन्दर्य उसके मुख की इस सुन्दर सजावट और बनावट पर निर्भर नहीं करता था। उसके कुण्ठारहित उदार और भावपूर्ण अन्तर की जो अव्यक्त छाया उसके चेहरे पर पड़ती थी वह किसी विशेषज्ञ दर्शक पर गहरा प्रभाव छोड़े बिना न रहती। जब-जब मैं उसे देखता था तब-तब मुझे ऐसा लगता था जैसे कोई अजंता की किसी गुफा से कोई सुन्दर चित्र सजीव बनकर सामने संचरण कर रहा है।

यह मेरा बहुत बड़ा सौभाग्य था कि दीप्ति भी मुझ पर प्रसन्न दिखाई देती थी। जब-जब कमरे में, बाहर या सीढ़ियों में उससे मेरी भेंट हो जाती तब-तब वह एक बार आँखें भरकर, निःसंकोच और सुप्रसन्न मुद्रा से मेरी ओर देख लेती थी। हर समय वह मौखिक रूप से मुझसे कुछ बोल ही लेती हो, ऐसी बात नहीं।

अक्सर उसकी मुखर आँखें ही बहुत-सी पुलकप्रद और रहस्यमय बातें मेरे अन्तर के कानों में कह जाती थीं।

ठीक से कुछ न समझ पाने पर भी मुझे कुछ समय से ऐसा लगने लगा था कि मेरे चेहरे में और व्यक्तित्व में निश्चय ही कोई नई विशेषता आई है। इतना तो स्पष्ट ही था कि करीम चाचा की कृपा से मेरे स्वास्थ्य में पहले की अपेक्षा जमीन आसमान का अन्तर आ गया था। कैष्टो के कमरे में एक बड़ा-सा शीशा टँगा था। उसमें जब अनायास ही अपना प्रतिबिम्ब मुझे दिखाई पड़ता था तब पिछले कुछ महीनों से अपने चेहरे के परिवर्तन से परिचित होने के बावजूद मुझे ऐसा लगने लगता था जैसे वह प्रतिबिम्ब मेरा नहीं, किसी दूसरे व्यक्ति का हो। मुझे वही मुरझाया हुआ, चीमड़, झीनी झिल्ली से ढँके हड्डियों के ढाँचे का-सा मुख अपना लगता था, जिसका कोई अस्तित्व ही अब शेष नहीं रह गया था। बीच-बीच में, एकान्त क्षणों में, मुझे ऐसा अनुभव होता था कि अपनी उस शीर्ण और रुग्ण मुखाकृति को खोकर मैंने जैसे अपना वास्तविक व्यक्तित्व ही खो दिया है और मैं अब 'मैं' नहीं रह गया हूँ—किसी दूसरे व्यक्ति कि आत्मा मुझमें प्रविष्ट कर गई है। अपने दुबले-पतले भूख से व्याकुल प्रेत-शरीर को जब मैं कलकत्ता की गलियों, सड़कों और पार्कों में घसीटता हुआ चलता था तब विद्रोह की प्रलयाग्नि को दहकाने की जिस अपूर्व शक्ति का, जिस प्रचण्ड आत्म-विश्वास का अनुभव मेरे चीमड़ प्राणों को होता था उसका अस्तित्व ही जैसे लुप्त हो गया था। अपने उस पूर्व व्यक्तित्व के स्थान पर मैं जिस व्यक्ति का चेहरा अब शीशे में देखता था वह अत्यधिक रक्त और मांस से पुष्ट युवक मुझे अत्यन्त घृणित और अरुचि उत्पन्न करनेवाला लगता था। तब क्या वह सचमुच मेरा ही प्रतिबिम्ब था? यदि ऐसी ही बात थी तो वह पिछला विद्रोही व्यक्तित्व क्या सचमुच मेरे नये स्वस्थ और पुष्ट व्यक्तित्व के भार से दबकर चूर हो गया था? या कहीं अन्तर की किसी अँधेरी गुफा में उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में छिपा बैठा था?

रह-रहकर इसी तरह के विचार शीशे में अपना चेहरा देखने पर मेरे मन में उदित होते थे। मैं देख रहा था कि करीम चाचा के यहाँ जो स्वास्थ्य मैंने प्राप्त किया था वह दिन-दिन और अधिक खिलता चला जा रहा था। क्या अधिकार था मुझे उस तरह अपने स्वास्थ्य को पुष्ट करते चले जाने का जब कि लाखों भूखे कंकाल कलकत्ता की गलियों और सड़कों में हताश निःश्वास छोड़ते हुए दम

तोड़ रहे थे ? सोच-सोचकर मुझे अपने उस अत्यधिक विकसित स्वास्थ्य पर घोर लज्जा और ग्लानि का अनुभव होने लगता था। मैं अपने को अक्षम्य अपराधी अनुभव करने लगता था।

यह था मेरी अन्तर्भावना का एक पहलू। पर उसका एक दूसरा पहलू भी था जो उससे कुछ कम सत्य नहीं था। मैं कह नहीं सकता कि मेरे स्वास्थ्य की वृद्धि के साथ मेरे व्यक्तित्व के 'सौन्दर्य' की भी वृद्धि किसी मात्रा में हो रही थी या नहीं। पर इतना मैं प्रत्यक्ष देख रहा था कि अब जिस किसी भी व्यक्ति की दृष्टि एक बार मेरी ओर जाती थी वह कुछ क्षण के लिए पूर्ण सन्तोष-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखता ही रह जाता था, जैसे मेरे मुख पर अंकित कोई वाक्य ठीक से पढ़ना चाहता हो। विशेष करके सुन्दरी युवतियों की विस्मित और उत्सुक दृष्टि मेरी ओर इस तरह केन्द्रित हो जाती थी जैसे मैं किसी नुमाइश में प्रदर्शित कोई अजीब और दुष्प्राप्य मूर्ति या चित्र होऊँ। केवल दीप्ति की ही बात नहीं है। लेखिकाओं की विशेष गोष्ठी में जब मैं चाय और जलपान की सामग्री लेकर पहुँचता था तब वहाँ उपस्थित प्रायः सभी महिलाएँ मेरी ओर पूरी नजर से देखने लगती थीं, जैसे चाय की सामग्री की अपेक्षा मेरे व्यक्तित्व का आकर्षण अधिक हो। यदि किसी महिला का ध्यान किसी कारण से मेरी ओर नहीं जाता था, तो उसकी बगल में बैठी युवती उसे टहोका मारती हुई इशारे से उसका ध्यान मेरी ओर आकर्षित करती थी।

इन कारणों से एक अजीब-सा सन्देह अपने सम्बन्ध में मेरे मन में उत्पन्न होने लगा। मैं सोचने लगा कि मैं एक साधारण रसोइया होने पर भी इन सम्पन्न अथवा तथाकथित 'अभिजात' घरानों की महिलाओं के लिए आश्चर्य और कुतूहल का केन्द्र क्यों बनता हूँ ? क्या विशेषता मुझमें है ? और धीरे-धीरे एक ऐसी नई अनुभूति मुझमें जागने लगी जिसके अस्तित्व को ही मैं पहले अपने भूख के और फुटपाथ के दिनों में भूला हुआ था। मुझे जैसे पहली बार यह अनुभव होने लगा कि मैं युवक हूँ और जिनकी उत्सुक आंखें मेरी ओर केन्द्रित हो रही हैं वे युवतियाँ हैं। मैं पुरुष हूँ और वे नारी हैं। यही मेरे प्रति उनके आकर्षण का रहस्य है और यही रहस्य अब उनके प्रति मेरे आकर्षण का भी कारण बन रहा है।

तब से युवतियों की उत्सुक दृष्टि मुझे बहुत ही प्रिय लगने लगी। पर उस सहज-सुखद अनुभूति के अतिरिक्त और किसी तरह की कोई भावना मेरे मन में कभी—किसी भी क्षण—नहीं जागी।

ज्योति बारी-बारी से दो दिन ससुराल जाकर रहती थी और दो दिन मायके आकर बिताती थी। सुन्दरी वह भी थी, पर थी बहुत घमण्डी। मुझसे विशेष असन्तुष्ट न रहने पर भी मेरे साथ रुखाई या उदासीनता से पेश आती थी। उसे और बड़े लड़के हरेन्द्र को छोड़कर शेष सभी भाई-बहनें मुझे बड़े प्रेम से 'दादा' कहकर पुकारा करते थे। मैं भी उन्हें 'दादू' या 'दीदी मोनी' (दीदीमणि या दीदीरानी) कहकर पुकारता था। प्रत्येक गोष्ठी के पहले दिन सुरेन्द्र या दीति मुझसे सलाह करके यह तय कर लेते थे कि कल गोष्ठी में सम्मिलित होनेवाले अतिथियों के लिए क्या 'मेनू' रहेगा। मैं प्रति बार 'मेनू' में कोई-न-कोई नई चीज शामिल करने का सुझाव देता रहता और 'दादू' और 'दीदी मोनी' मेरे सुझाव को बिना बहस के मान लेते। मैं कभी मछली का कोफ्ता तैयार करता, कभी रसगुल्लेवाले छेने की 'करी'; कभी मद्रासी दोशा या इडली 'मेनू' में सम्मिलित रहते तो कभी सिन्धी हल्वा; कभी अण्डे की पकौड़ी रहती तो कभी आटे की 'कलेजी'; कभी टमाटर का आमलेट बनाता तो कभी पिसी हरी मटर का कटलेट। कभी मछली की कचौड़ी रहती तो कभी गुच्छी का मुतंजन; कभी सेंवई रहती तो कभी छेने की खीर। गरज यह कि चाचा ने जितने भी प्रकार के और विविध प्रान्तों के व्यंजन तैयार करना मुझे सिखाया था उन सबका स्वाद मैं बारी-बारी से उन लोगों को चखाता रहता था।

पहले ही कह चुका हूँ कि मैं साहित्यिक गोष्ठियों में विशेष दिलचस्पी रखता था और बीच-बीच में अवकाश निकालकर विभिन्न लेखकों की रचनाएँ या भाषण-कर्ताओं के विचार अलग एक कोने में खड़ा सुनता रहता था। इस बात की कल्पना वहाँ उपस्थित व्यक्तियों में से कोई नहीं कर सकता था कि मैं भी थोड़ी-बहुत साहित्यिक रुचि और समझ रखता हूँ। कभी-कभी बीच-बीच में मेरे मन में भी कुछ बोलने और विचार-विनिमय में भाग लेने की तरंग उठने लगती थी, पर मैं उस मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति को बलपूर्वक दबाता रहता था।

पर एक दिन न जाने कौन-सी दुर्बुद्धि मेरे सिर पर सवार हुई कि आगे-पीछे की बात तनिक भी न सोचकर और परिणाम की जरा भी चिन्ता न कर मैं बर-

बस बोल ही पड़ा।

उस दिन रवीन्द्रनाथ का जन्म-दिवस मनाया जा रहा था और नवीन लेखकों और लेखिकाओं की सम्मिलित गोष्ठी चल रही थी। प्रारम्भ में दो कविताएँ पढ़ी गईं, उसके बाद निबन्ध पढ़े जाने लगे। कविताएँ और निबन्ध दोनों रवीन्द्र से सम्बन्धित थे। दीप्ति ने भी एक निबन्ध पढ़ा—रवीन्द्रनाथ की कहानियों पर। निबन्ध काफी सुलझा हुआ था और विवेचना बहुत सन्तुलित और विश्लेषणात्मक थी। मोपासाँ और चेखव की कहानियों से रवीन्द्र की कहानियों की तुलना करते हुए यह दिखाया गया था कि उनकी विशिष्टता किस बात पर है। किसी ने उपन्यासों पर निबन्ध पढ़ा, किसी ने काव्य पर और किसी ने नाटक पर। मुझे बीच-बीच में काम के लिए नीचे जाना पड़ता था, इसलिए मैं सभी निबन्धों को पूरा न सुन सका। अन्त में उन लोगों के भाषण हुए जिन्हें सम्भवतः लिखने में आलस्य का बोध होता था या जो लिखनेवालों की अपेक्षा अपनी बुद्धि का स्तर बहुत ऊँचा मानते थे।

दो भाषण मैंने अधूरे सुने। उनके बाद जो तीसरा भाषण हुआ उसे पूरा सुनने का अवकाश मैंने निकाल लिया था। वक्ता ने अपने भाषण में रवीन्द्र-प्रतिभा की महत्ता के सम्बन्ध में बहुत-सी घिसी-घिसाई और पिटी-पिटाई बातें दुहराईं। पर अन्त में उन्होंने अपनी निजी बुद्धि से जो बात कही. वह कुछ इस प्रकार थी : "रवीन्द्रनाथ ने वंगभूमि का गौरव बढ़ाया है और वंगमाता का मुख उज्ज्वल किया है।"

अन्तिम कथन सुनते ही मेरे सिर से लेकर पाँवों तक एक अजीब सनसनी-सी दौड़ गई और इतने दिन तक का मेरा सारा मौन और संयम एक आकस्मिक और अप्रत्याशित बाढ़ में जैसे पल में बह गया। जो युवक बोल रहा था वह जब अपनी बात पूरी कह चुका तब मैं दूसरे ही क्षण सभापति के एकदम निकट जाकर खड़ा हो गया और मैंने सहसा (बिना अध्यक्ष की अनुमति के) बोलना आरम्भ कर दिया, "सभापति महोदय एवं तरुण लेखक और लेखिकागण! आज के पुण्य पर्व के अवसर पर मैं भी दो शब्द बोलने की धृष्टता करना चाहता हूँ। यह मेरा बहुत बड़ा सौभाग्य है कि आज आप लोगों के बीच में अपने प्रियतम कवि के प्रति श्रद्धांजलि निवेदित करने का शुभ अवसर मुझे प्राप्त हुआ है। आप लोगों ने रवीन्द्र-प्रतिभा की विविध धाराओं पर प्रकाश डालते हुए उनके साहित्य और

व्यक्तित्व की महत्ता के सम्बन्ध में जो-जो बातें कहीं उनसे किसी का कोई मतभेद नहीं हो सकता। रवीन्द्र-जैसी महाविभूतियों का आविर्भाव संसार में प्रत्येक दशक में या प्रत्येक शताब्दी में नहीं होता। हजारों वर्षों के अन्तर से एक-आध ही बार ऐसे सिद्ध मनीषियों का जन्म होता है। इसलिए ऐसे विराट् प्रतिभाशाली महापुरुषों के साहित्य, व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन का विवेचन बड़ी सूक्ष्म छानबीन के साथ किया जाना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि हमारी विवेचना उनकी महत्ता को विकृत और खण्डित करके साहित्य-प्रेमी जनता की आँखों में भ्रम का जाल डाल दे। उनकी महानता प्रमाणित करते हुए यदि हम अपनी लघुता का रंग उस महानता पर चढ़ाने लगें तब हम स्वयं अपने ही उद्देश्य को उलट बैठेंगे। अभी एक सज्जन ने कहा कि 'रवीन्द्रनाथ ने वंगभूमि का गौरव बढ़ाया है और वंगमाता का मुख उज्ज्वल किया है।' आश्चर्य है कि इतने बड़े और विराट् व्यक्तित्व को एक अत्यन्त संकीर्ण ढाँचे के भीतर ठूँसने का प्रयत्न करने पर भी वक्ता महोदय यह विश्वास करते हैं कि वह रवीन्द्रनाथ का गुणगान कर रहे हैं। आप लोग क्या सचमुच यह मानते हैं कि रवीन्द्रनाथ ने केवल वंगभूमि का गौरव बढ़ाया? तब उनकी वह महत्ता कहाँ रही जिसका कायल आज सारा संसार है? रवीन्द्रनाथ की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने मानवीय विकास को किसी प्रान्त या देश की चहारदीवारी के भीतर सीमित कभी नहीं माना। वह विश्वजनीन मानवता की सामूहिक प्रगति पर विश्वास करते थे। प्रान्तीयता की बात तो दूर रही, उन्होंने राष्ट्रीय भावना तक की संकीर्णता का विरोध अपने प्राणों की पूरी शक्ति से किया था। रवीन्द्रनाथ यदि केवल बंगाली होते, विश्व-मानव नहीं, तो उनकी प्रतिभा का विस्तार बंगाल के दूसरे कवियों से आगे बढ़ ही न पाता। वह बराबर बंगालियों को यही उपदेश देते रहे कि अपने घर की चहारदीवारी तोड़कर विश्व के मुक्त प्रांगण में पाँव रखकर बृहत् मानवता के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करो। उन्होंने कहा था, 'हे स्नेहार्त वंगभूमि, अपनी सन्तान को घर के भीतर चिर-शिशु न बनाए रहो। पुण्य और पाप, सुख और दुख, उत्थान और पतन द्वारा उसे मनुष्य बनने दो। देश-देशान्तर में जिसका जो स्थान है उसे खोज लेने दो। पग-पग पर छोटे-छोटे निषेधों की डोर से उसे बँधा न रहने दो। अपने शीर्ण, शान्त और साधु पुत्रों को घर-घुसना न बनाकर विश्व के बीच में बिखेर दो। उन्हें केवल बंगाली न रहने दो, मनुष्य बनाकर छोड़ो।' जीवन-भर जो महाकवि यही

आवाज लगाता रहा कि प्रान्तीयता का मोह और अन्धसंस्कार झाड़-फटकारकर विश्व-मानवता को अपनाओ, उसे यदि आज—बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में, द्वितीय महायुद्ध के बादवाले काल में, अणु-युग में—भी हम केवल इस दृष्टि से महान् मानें कि उसने वंगभूमि का गौरव बढ़ाया और वंगमाता का मुख उज्ज्वल किया, तो इससे बड़ा अपमान उनका और क्या हो सकता है ! आज संसार-व्यापी राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उथल-पुथल के युग में प्रान्तीयता और संकीर्ण राष्ट्रीयता की सारी सीमाएँ टूटकर, महामानवता की बाढ़ में बूड़कर एकाकार हो रही हैं। आज न कोई बंगाली बंगाली रह गया है, न कोई भारतीय भारतीय। आज शेष रह गई है केवल मानव-जाति, जो सदियों के गलत, असंतुलित और भ्रमित विकास के कारण पारस्परिक और सामूहिक पीड़न का शिकार बनी हुई है। कटु यथार्थ के स्टीम रोलर द्वारा कुचला हुआ आज का साधारण मनुष्य न बंगाली है न पंजाबी, न अमेरिकी है न रूसी, न हब्शी है न गोरा, न भारतीय है न पाकिस्तानी। वह केवल मनुष्य है। वह इस छोटी-सी पृथ्वी का निवासी है जिसमें दिन-दिन संख्या में बढ़ते चले जानेवाले भूखे और गृहहीन लोग समा नहीं पा रहे हैं, जिसकी छाती के दूध का शोषण कुछ दैत्य-पंथी-सन्तानों द्वारा हो चुका है और हो रहा है; फलस्वरूप जिसके शेष असख्य बच्चे 'भूख ! भूख !' रटते हुए बिलबिला रहे हैं ? अन्तर्राष्ट्रीय आँकड़ों के निष्पक्ष विशेषज्ञों ने बताया है कि आज दुनिया के एक-तिहाई से अधिक लोग गृहहीन हैं और भूखों मर रहे हैं। अब पृथ्वी सिकुड़कर इतनी छोटी हो गई है कि एक-तिहाई लोगों को रहने के लिए स्थान नहीं दे पाती, भोजन की कौन कहे, तब केवल वंगमाता का गौरव बढ़ाने या मुख उज्ज्वल होने से क्या होगा। आज सभी सन्तानों का यह कर्तव्य है कि पृथ्वी माता का गौरव बढ़ावें, सम्मिलित रूप से इस बात के लिए प्रयत्न करें कि मानव-जीवन की सारी विषमताएँ दूर हो जायँ, एक भी व्यक्ति न गृहहीन रहे न भूखा, सब समान रूप से जीवन के मुक्त आनन्द का स्वाद ग्रहण करें। रवीन्द्रनाथ मानव-समाज को निरन्तर इसी कर्तव्य-पथ की ओर प्रेरित करते रहे। वह वंगभूमि या भारतभूमि को पृथ्वी के व्यापक जीवन के साथ संश्लिष्ट देखना चाहते थे। वह भारतवासियों को निरन्तर उस महालक्ष्य की ओर उन्मुख करना चाहते थे जहाँ 'घर की सँकरी चहारदीवारी अपने भीतर वसुधा को क्षुद्र खण्डों में विभाजित करके नहीं रखती।' वह चाहते थे कि विश्व-प्रांगण में सभी मनुष्य समान रूम से 'अनन्त

आकाश में सिर उठाकर उदार आलोक और उन्मुक्त आकाश में निर्द्वन्द्व विचरण करें।' उनकी इस उदात्त महामानवता को यदि हम आज भी केवल वंगभूमि तक ही सीमित रखना चाहें तो यह केवल उस स्वर्गीय आत्मा का अपमान न होगा, वरन् हमारे अपने अधःपतन की चरम स्थिति का भी परिचायक होगा।

"यह ठीक है कि केवल भारत जैसा देश ही रवीन्द्रनाथ को जन्म दे सकता है—वह देश जो संसार की युग-युग की समन्वित संस्कृति का प्रधान केन्द्र रहा है और आज भी है। फिर भी आज प्रान्त की तो बात ही क्या, कोई भी देश अपने-आपमें कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। आज सारी दुनिया सिमटकर केवल दो शिविरों में सीमित होकर रह गई है। समस्त राजनीतिक और आर्थिक शक्तियाँ इन्हीं दो परस्पर-विरोधी शिविरों में केन्द्रित होकर बट गई हैं और इन दो शिविरों के संचालन-सूत्र भी केवल कुछ मुट्ठी-भर अर्थपतियों या राजनीतिक नेताओं के हाथों में आ गए हैं जो संसार के समग्र राष्ट्रों को, विश्व की साधारण जनता को अपनी सनक के अनुसार कठपुतलियों की तरह नाच नचाते हुए 'मनमानी घर-जानी कर रहे हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इन दो शिविरों को भी एक शिविर में परिणत करके सारी मानवता को एक समान सूत्र में संयोजित किया जाय, जिसके लिए रवीन्द्रनाथ बराबर अपने जीवनकाल में आवाज लगाते रहे। यदि विश्व-साहित्य और विश्व-संस्कृति के सच्चे प्रेमी आज रवीन्द्रनाथ की उसी आवाज को और ऊँचा उठाने का सम्मिलित प्रयत्न नहीं करेंगे तो दो महा-शिविरों का पारस्परिक संघर्ष शीघ्र ही मानवता को विध्वंस और विनाश की अन्तिम स्थिति तक पहुँचाए बिना चैन न लेगा।"

मेरे लम्बे भाषण के बीच में किसी ने मुझे टोका नहीं। किसी ने यह नहीं कहा कि 'तुम क्या व्यर्थ की बकबक कर रहे हो, नीचे जाकर अपना काम करो।' सभी उपस्थित तरुण लेखक और लेखिकाएँ तब तक सन्नाटा खींचे रहे जब तक मेरा अन्तिम वाक्य समाप्त न हुआ। सब स्तब्ध और चकित दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए शायद यह सोचते रहे कि यह रसोइया किस अज्ञात और अँधेरी गुफा से बाहर निकलकर किस पागल दुनिया का क्या संदेश सुना रहा है। मैं स्वयं नहीं जान पा रहा था कि मैं क्या कह रहा हूँ। कहाँ, किनके बीच में, किस अवसर पर बोल रहा हूँ और क्यों। जब बोल चुका और मेरा भावावेश, जो मेरे नियन्त्रण के बाहर था, ठण्डा पड़ चुका, तब एक अपरिसीम संकोच की जड़ता ने जैसे मेरे मन और

मस्तिष्क को जकड़ लिया और मैं उसी कमरे के एक कोने में जाकर मुँह चुराता हुआ चुपचाप बैठ गया—यह सोचता हुआ कि 'अब तो बात फैल गई जाने सब कोई !' अपने-आप में मुझे लग रहा था जैसे भाषण देना भी कोई अपराध है !

मैं बैठा-बैठा कनखियों से देख रहा था कि कुछ लोग एक-दूसरे की ओर देखते हुए मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं, कुछ आपस में कानाफूसी कर रहे हैं, कुछ गम्भीर विचार में मग्न-से हो गए हैं और कुछ अत्यन्त उत्सुक दृष्टि से मेरी ओर देख रहे हैं। पर साफ-साफ सुनाई देनेवाली आवाज में कोई कुछ बोला नहीं।

सहसा मैंने देखा कि दीप्ति अपने स्थान से उठी और सीधे मेरे पास चली आई। उसकी आँखें एक अपूर्व उल्लास से चमक रही थीं। आते ही बोली, "दादा, चलिए, हम लोगों के बीच में बैठिए। यहाँ कोने में मुँह छिपाए क्यों बैठे हैं ?"

"नहीं दीदीमोनी, अब मुझे यहाँ बैठने का अवकाश नहीं है; नीचे रसोईघर में मुझे बहुत काम है," अपने कन्धे पर रखे अँगोछे से माथे का पसीना पोंछते हुए मैंने कहा और कहते ही मैं उठ खड़ा हुआ।

"अच्छा कुछ देर के लिए तो बैठो," अत्यन्त स्नेहपूर्ण आग्रह-भरे स्वर में, व्याकुल निवेदन-भरी आँखों से मेरी ओर देखते हुए 'दीदीमोनी' ने कहा।

"अभी नहीं, दीदीमोनी, फिर कभी," कहकर मैं चलने लगा। चलते-चलते मैंने एक बार सरसरी दृष्टि से समग्र उपस्थित जनता की ओर देखा। मैंने देखा कि सुरेन्द्र, नरेन्द्र और स्मिति की पुलकित आँखें मेरी ओर केन्द्रित थीं। केवल ज्योति एक अजीब रहस्य-भरी गम्भीर—बल्कि वक्र—दृष्टि से मुझे घूर रही थी। वैज्ञानिक हरेन्द्र उदासीन भाव से मन्द-मन्द मुस्करा रहा था। जब मैं दरवाजे पर पहुँचा तब मैंने देखा कि बाहर गलियारे में मालकिन, केष्टो तथा और भी दूसरे ऐसे लोग मेरा भाषण सुनने के लिए वहाँ पर इकट्ठा हो गये थे, जो साधारणतः उस घर में होनेवाली साहित्यिक गोष्ठियों में कोई दिलचस्पी नहीं लेते थे। मालकिन ने भी पुलक-प्रसारित दृष्टि से मेरा स्वागत किया। देखकर मैं कुछ आश्वस्त हुआ; मुझे उल्टे डाँट पड़ने की आशंका थी।

रात को सबको खाना खिलाने और स्वयं खा चुकने के बाद जब मैं अपने

(अर्थात् केष्टो के) कमरे में पहुँचा तब केष्टो के चेहरे पर एक विचित्र मुस्कान खेल रही थी। उससे मेरे प्रति प्रशंसा का भाव अवश्य ही व्यक्त हो रहा था, पर साथ ही यह भावना भी उसमें निहित दिखाई देती थी कि जिस व्यक्ति को उसने अपने कमरे का साथी बनाया है उसने अपना असली भेद उससे छिपाया है।

"कहो बन्धु, क्या हाल हैं? आज तो तुमने बड़ा रंग जमाया," उसने पलंग पर लेटे-लेटे मुझे देखते ही कहा।

"कौन-सा ऐसा नया रंग जमाया भाई," मैंने अनजान-सा बनकर कहा।

"अरे भाई, तुमने तो आज वह भाषण दिया कि बड़े-बड़े पढ़े-लिखों के छक्के छुड़ा दिए। रवि ठाकुर के सम्बन्ध में तुम्हारा ज्ञान इस हद तक बढ़ा हुआ है, इसका पता किसको था? 'गिन्नी' बहुत खुश हो रही थीं तुम्हारा भाषण सुनकर।"

"यह मेरा सौभाग्य है कि मालकिन मुझसे प्रसन्न थीं। पर कोई ऐसी विशेष प्रसन्नता की बात भी नहीं थी," कुछ बनते हुए मैंने कहा।

"नहीं, बहुत बड़ी बात थी। मुझे भी बड़ी खुशी हुई यह जानकर कि तुम इतने बड़े विद्वान् हो। सिर्फ मालकिन ही नहीं, और भी दूसरे लोग तुम्हारी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे—सुरेन, नरेन, दीप्ति, स्मिति सभी।"

"और ज्योति भी?" तनिक चुटकी लेते हुए मैंने पूछा।

"ज्योति से तो मेरी कोई बात नहीं हुई," अपने स्वर को तनिक गम्भीर रूप देता हुआ केष्टो बोला।

"तब तुमने कुछ भी नहीं जाना। घरवालों की नाड़ी ज्योति के हाथ में है, इतना मुझसे जान लो।"

"हो सकता है। पर एक बात बताओ, बन्धु। इस हद तक पढ़े-लिखे होने पर भी तुमने खाना बनाने की नौकरी क्यों स्वीकार की? और इतना अच्छा और विभिन्न प्रकार का खाना बनाना तुमने सीखा कहाँ।"

"परिस्थितियाँ सिखाती हैं, भाई," कहकर मैंने कृत्रिम आह-भरी एक लम्बी-सी साँस ली और अपना बिस्तर झाड़कर मैं भी केष्टो की ओर मुँह करके लेट गया। उसके प्रथम प्रश्न को मैं जान-बूझकर टाल गया।

दूसरे दिन केष्टो तीन-चार दिन की छुट्टी लेकर, किसी आवश्यक काम से घर चला गया। उसका घर राजघाट की तरफ था, जो कलकत्ता से बहुत दूर नहीं था। मैं प्रतिदिन की तरह अपनी 'ड्यूटी' बजाता रहा। सुबह सबको नाश्ता कराया, दोपहर को खाना खिलाया और प्रायः चार बजे सबको चाय पिलाई।

चाय पिलाने के प्रायः एक घण्टे बाद, जब मैं अपने सहकारियों को समझा रहा था कि रात के लिए क्या-क्या विशेष व्यंजन किस विधि से तैयार करने होंगे, तब बड़े बाबू के एक विशेष नौकर ने आकर सूचना दी कि बड़े बाबू ने मुझे बुलाया है। सुनते ही मेरे आशंकित मन ने मेरे कानों में कहा, 'मित्र, कहो, मैंने क्या कहा था ?'

मैं जब भादुड़ी महाशय के पास उनके ड्राइंग रूम में पहुँचा तब उनकी मुद्रा देखते ही भाँप गया कि मामला कुछ गोल है। उनके मुख पर क्रोध और खीझ के भाव स्पष्ट व्यक्त हो रहे थे। उनकी कुर्सी की दाईं ओर ज्योति खड़ी थी। वह बहुत ही गम्भीर और विद्वेषमूलक दृष्टि से मेरी ओर देख रही थी। बाईं ओर मालकिन खड़ी थीं। वह भी काफी गम्भीर दिखाई देती थीं। विद्वेष के बजाय उनके चेहरे से आशंका प्रकट होती थी। पीछे, अगल-बगल में और आस-पास हरेन्द्र, सुरेन्द्र, नरेन्द्र, दीप्ति, स्मिति तथा और भी दूसरे लोग खड़े थे। लगता था, मैं जैसे ड्राइंग रूम में नहीं बल्कि किसी विशेष अदालत में जा पहुँचा हूँ।

मैं भादुड़ी महाशय के सामने, काफी दूर हटकर खड़ा हो गया। क्षणभर के लिए सारे कमरे में एक अजीब, अशोभन-सा सन्नाटा छाया रहा। उसके बाद भादुड़ी महाशय ने धीरे-धीरे बोलते हुए साफ शब्दों में कहा, "सुना जाता है कि कल तुमने लड़कों की साहित्यिक गोष्ठी में भाषण दिया। क्या यह सच है ?"

"भाषण तो मैं नहीं कहूँगा," अत्यन्त शान्त भाव से मैंने कहा, "पर हाँ, अवसर के अनुकूल कुछ शब्द मैं भी बोला था ?"

"तो तुम स्वयं भी कोई लेखक हो क्या ?"

"लेखक तो मैं नहीं हूँ, पर हाँ, साहित्य का प्रेमी पाठक अवश्य रहा हूँ !"

"जब तुम इस हद तक पढ़े-लिखे हो तब एक रसोइया बनना तुमने क्यों स्वीकार किया ?"

"इसलिए कि मेरी 'पढ़ाई और लिखाई' को किसी ने कभी तनिक भी महत्त्व नहीं दिया और उस आधार पर मुझे कहीं कोई नौकरी प्राप्त न हो सकी।"

"तुमने ठीक से प्रयत्न नहीं किया होगा।"

"प्रयत्न तो मैंने बहुत किया था। स्वयं आपको इसका पता होना चाहिए।"

"मुझे कैसे पता होना चाहिए?" आश्चर्य से मेरी ओर देखते हुए भादुड़ी महाशय बोले।

"इस तरह कि प्रायः एक वर्ष पहले जब मैं नौकरी की तलाश में आपके पास आया था और आप से मैंने कहीं किसी दफ्तर में नौकरी दिला देने की प्रार्थना की थी तब आपने झिड़ककर कहा था कि आपके पास कोई नौकरी नहीं है और नौकरों द्वारा मुझे बलपूर्वक मोटर के सामने से हटवा दिया था। आपकी मोटर चली गई तब मैं बहुत दिन का भूखा-प्यासा और थका-हारा होने के कारण मूर्च्छित होकर गिर पड़ा था। जब मैं होश में आया तब मालकिन की आज्ञा से केष्टो मुझे भीतर ले गया था और मुझे पेट-भर खाना खिलाया गया था। उसके बाद मालकिन ने केष्टो को आदेश दिया था कि इस मकान के बाहर मैं जहाँ भी जाना चाहूँ मुझे छोड़ आए। मुझे भोजन की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी किसी घर में एक कोना अपने लिए प्राप्त करने की। कहीं रहने का कोई ठिकाना न होने से फुटपाथों और पार्कों की शरण मुझे लेनी पड़ रही थी और पुलिसवाले नाहक परेशान कर रहे थे। पर यह सब होते हुए भी जब मैं बड़ी आशा से आप लोगों के पास आया था तब आप लोगों ने बलपूर्वक मुझे बाहर खदेड़ दिया था।" यह कहते हुए मैंने मालकिन की ओर कनखियों से देखा। वह आश्चर्य से आँखें फाड़-फाड़कर मेरी ओर देख रही थीं। केवल वही नहीं, सभी विस्मित दृष्टि से मुझे देख रहे थे।

"कब आये थे तुम इसके पहले मेरे पास? मुझे तो कुछ भी याद नहीं है," भादुड़ी महाशय बोले और प्रश्न-भरी दृष्टि से देखने लगे।

"एक दुबला-पतला आदमी आया था पिछले साल," मालकिन ने कहा। "तुम तब मोटर में बैठकर कहीं जाने की तैयारी कर रहे थे। चले जाने पर वह आदमी मूर्च्छित हो गया था।" इसके बाद मेरी ओर देखकर मालकिन ने पूछा, "तुम क्या वही आदमी हो?"

"जी, हाँ," मैंने शान्त भाव से उत्तर दिया।

"पर यह कैसे हो सकता है? कहाँ तुम्हारा पहलवानों का-सा स्वास्थ्य और कहाँ वह 'रोगा मानुष'; तालपातार सेपाई (ताड़ के पत्ते का सिपाही)!"

"संसार परिवर्तनशील है। जो स्थिति कल थी वह आज नहीं है, जो आज है वह कल नहीं रहेगी।" मैंने आर्यसमाजी भाषा-शैली में कहा। मेरे लहजे में व्यंग्य का पुट काफी था।

"चाहे जो भी हो," भादुड़ी महाशय कुछ तीखे स्वर में बोले, "जब इस बार तुम नौकरी की तलाश में आये, तब तुमने क्यों यह बात छिपाई कि तुम पढ़े-लिखे हो ?"

"बड़े दुःख की बात है भादुड़ी मोशाय," तनिक भी विचलित न होते हुए मैंने कहा, "कि आपको इस तरह की बात पूछते हुए कुछ भी हिचक नहीं मालूम होती ! जब यह जानते हुए भी कि मैं पढ़ा-लिखा हूँ, आप एक बार मुझे दुत्कार चुके थे तब दुबारा मैं आपको यह क्यों बताता कि मेरा किताबी ज्ञान कहाँ तक है ? और फिर जब मेरा लक्ष्य केवल यह है कि मुझे पेट भरने योग्य अन्न और सोने भर को स्थान प्राप्त हो जाय और उपाय केवल नौकरी ही शेष रह गया है तब फिर मैं चाहे किसी दफ्तर का काम करूँ चाहे रसोई का, उसमें अन्तर क्या रह जाता है ?"

"अन्तर बहुत बड़ा रह जाता है !" भादुड़ी महाशय मेज पर मुट्ठी पटककर पहले से बहुत ऊँचे और कड़े स्वर में बोले, "तुम दूसरों को इतना बड़ा मूर्ख समझते हो कि तुम्हारी चालबाजी को कोई ताड़ ही नहीं सकता ? तुम प्रच्छन्न कम्युनिस्ट हो। मैं तुम्हारी नस-नस पहचान गया हूँ। कल तुमने अपने भाषण में जो-जो बातें कहीं वे सब मैंने सुन ली हैं। कम्युनिस्ट के सिवा और कोई आदमी इस तरह के तर्क उपस्थित नहीं कर सकता।"

मुझे दुःख भी हुआ और हँसी भी आई। अपनी मुद्रा में दोनों के बीच का भाव कायम रखते हुए मैंने कहा, "मैं प्रच्छन्न कम्युनिस्ट हूँ या प्रकट 'सम भूमिस्ट' यह अभी आपको प्रमाणित करना बाकी है। और फिर मैं न किसी गरीब नौकर की लगी-लगाई रोजी छीनना चाहता हूँ, न चोरी को अपना पेशा बनाने की इच्छा रखता हूँ, न किसी की बहू-बेटियों पर बुरी नजर रखता हूँ, न हजारों-लाखों आदमियों के शोषण द्वारा अपनी आर्थिक चर्बी बढ़ा-बढ़ाकर मोटा होना चाहता हूँ। इसके अलावा, कल मैंने अपने भाषण में जिस तरह की बातें कहीं, अगर उस तरह केवल एक कम्युनिष्ट ही सोच सकता है तो रवीन्द्रनाथ को भारत का सब से बड़ा कम्युनिस्ट मानना होगा···"

"बहुत बक-बक मत करो !" और अधिक जोर से चिल्लाते हुए भादुड़ी महाशय बोले। "तुम कितने बड़े धूर्त हो, यह मुझसे तनिक भी छिपा नहीं रह गया है। तुम अपनी असलियत को छिपाकर मेरे यहाँ का सारा भेद ले जाना चाहते हो। यहाँ नेता लोग अक्सर आते-जाते रहते हैं और हम लोग आपस में राजनीतिक विषयों पर गुप्त परामर्श करते रहते हैं। तुमने लुक-छिपकर उन सब बातों का पता लेते रहने के उद्देश्य से रसोइया का वेश धारण किया है।"

इस बार मुझे साफ हँसी आ गई। खुलकर हँसते हुए मैंने कहा, "आप लोग आपस में किस तरह की गुप्त बातें करते होंगे, इसका पता लगाने के लिए किसी भेदिया की आवश्यकता नहीं है। मैं आपके मकान से सौ मील दूर रहकर भी दावे के साथ यह बता सकता हूँ कि आप लोग क्या-क्या बातें करते होंगे, किस निष्कर्ष पर पहुँचते होंगे और क्या सोचते होंगे। आप लोगों की बुद्धि की दिशा और मनोवृत्तियों के उतार-चढ़ाव का 'ग्राफ' मेरे आगे दर्पण की तरह स्पष्ट है। इसलिए मैं फिर एक बार आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं किसी तरह का भेद लेने के इरादे से आपके यहाँ नहीं आया, केवल अपने जीने का कोई सहारा जुटा पाने की आशा से ही आया था···"

"तुम झूठे हो, चोट्टे हो, बदमाश हो !" यह कहते हुए भादुड़ी महाशय असह्य क्रोध से मुट्ठी बाँधते हुए उठ खड़े हुए। "मैं तुम्हें अभी पुलिस में दूँगा। तुमने समझ क्या रखा है अपने को ? गुण्डा, पाजी कहीं का !"

"आप मुझे शौक से पुलिस के हवाले कर सकते हैं," मैंने शान्त भाव से कहा, "पर मुझे गाली देने का कोई अधिकार आपको नहीं है।"

"खूब है, 'आलबत' है मुझे तुम्हें गाली देने का अधिकार ! सौ बार है ! तुम क्या कोई लाट साहब हो जो तुम्हें गाली न दी जाय ?"

"यह किस विधान में लिखा है कि गाली केवल लाट साहब को नहीं दी जानी चाहिए, बाकी सबको देनी चाहिए। यदि ऐसी ही बात है तो मैं भी आपको गाली दे सकता हूँ, क्योंकि आप आगे चलकर कभी भले ही लाट बन जायँ, पर अभी तो नहीं हैं !"

"मैं इसे मारूँगा," क्रोध से प्रायः उन्मत्त होकर भादुड़ी महाशय बोले और सचमुच मेरी ओर आगे बढ़ने लगे। यदि मालकिन ने उनका हाथ पकड़कर उन्हें शान्त न किया होता तो न जाने बात कहाँ तक आगे बढ़ जाती, मैं कह नहीं

सकता। क्योंकि इतना तो निश्चित था कि यदि वह हाथ चलाते तो मैं चुप न बैठा रहता।

मालकिन ने उन्हें समझाते हुए कहा, "उससे अधिक बोलना व्यर्थ है। उसका हिसाब चुकता करके उसे बिदा कर दो।" और उसके बाद तनिक कड़े स्वर में मुझसे बोलीं, "तुम नीचे अपने कमरे में चले जाओ। अभी तुम्हारा हिसाब-किताब सब साफ कर दिया जायगा। उसके बाद तुम्हारी जहाँ इच्छा हो चले जाना।"

मेरी दृष्टि सहसा दीप्ति पर पड़ी। उसका चेहरा एकदम मुरझा गया था। उसे देखकर, जाने क्यों, मेरा उत्तेजित मनोभाव ठण्डा पड़ गया और भावुकता उमड़ उठी। अत्यन्त विनम्र भाव से सभी उपस्थित व्यक्तियों की ओर हाथ जोड़ते हुए मैंने कहा, "मुझे बहुत दुःख है कि मेरे कारण आप सब लोगों को बहुत कष्ट हुआ। मैं सच कहता हूँ, मैं किसी चालाकी से या बुरी नीयत से या किसी का अपकार करने की भावना से यहाँ नहीं आया था। अपनी बेकारी से तंग आकर और भोजन और निवास का कोई प्रबन्ध न होते देखकर मैंने निश्चय कर लिया था कि जहाँ कहीं जैसी भी नौकरी मुझे मिल जाय उसे स्वीकार कर लूँगा। मैं अनुभव से जानता था कि अपनी शिक्षा के बल पर मैं कहीं कोई काम नहीं जुटा सकूँगा, इसलिए रसोइये के पद के लिए मैंने प्रार्थना की थी। मेरा अपराध केवल इतना ही है कि मैं एक पढ़ा-लिखा रसोइयाँ हूँ, इससे अधिक और कुछ नहीं। वह मैंने आज जाना कि किसी रसोइए का शिक्षित होना इतना बड़ा और अक्षम्य अपराध है। मैं यह अपराध स्वीकार करता हूँ और आप लोगों को जो पीड़ा अनजान में मैंने पहुँचाई उसके लिए क्षमा माँगता हूँ।" कहकर मैं सीधे नीचे चला गया।

नीचे केष्टो के कमरे में जाकर मैंने रसोई के कपड़े उतारकर कुरता, धोती और बंडी का वही सेट निकाला जिसे पहनकर मैं कुछ मास पूर्व करीम चाचा के यहाँ से आया था। मालकिन ने जो कपड़े मेरे लिए बनवाए थे उन्हें छूने की भी रुचि मुझे नहीं होती थी। कपड़े पहनकर मैं बाहर निकलने की तैयारी कर ही रहा था कि दीप्ति एक सादा लिफाफा हाथ में लिए आ पहुँची। आते ही बोली,

"दादा क्या तुम सचमुच जा रहे हो ?" उसकी पलकें कुछ भीगी-भीगी-सी लगती थीं।

"हाँ, दीदीमोनी, अब तो किसी भी हालत में यहाँ रहना नहीं हो सकता। अपनी आँखों से तुम सब-कुछ देख और सुन चुकी हो।"

"पर दादा," भर्राई हुई आवाज में दीप्ति बोली, "तुम यह क्यों नहीं मानते कि बाबा[1] को गलतफहमी हुई है और वास्तविक तथ्य जान लेने पर वह कभी नहीं चाहेंगे कि तुम यहाँ से जाओ।"

"पर जो बातें हो चुकी हैं उनके बाद अब कौन उन्हें 'वास्तविक तथ्य' समझाने जायगा ? और फिर, यह स्पष्ट है कि केवल तुम्हारे बाबा को ही गलतफहमी नहीं हुई है, बल्कि कुछ और भी व्यक्ति ऐसे हैं जो मेरे प्रति सन्देहशील हो उठे हैं। तुम्हारे बाबा के आगे निश्चय ही किसी ने मेरे कल के भाषण के सम्बन्ध में शिकायत की है, इतना तो तुम मानोगी ही।"

"हाँ, मैं जानती हूँ ! दीदी ने उनसे बहुत-सी बातें बढ़ा-चढ़ाकर कहीं हैं। पर मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि दोनों की गलतफहमी जल्दी ही दूर हो जायगी। बाबा का आज का गुस्सा जब ठण्डा पड़ जायगा तब मैं कल स्वयं सब बातें यथार्थ रूप में समझाकर उन्हें शान्त कर लूँगी। इसलिए कहती हूँ कि आज तुम कहीं न जाओ, यहीं रह जाओ। बोलो दादा, क्या अपनी बहन की इतनी-सी बात न मानोगे ?" उसकी आँखों में अत्यन्त कातर निवेदन झलक रहा था।

मैं क्षण-भर के लिए अनमना हो गया। मन जैसे डिगने लगा। पर तुरन्त सँभलकर मैंने कहा, "नहीं बोन,[2] अब यह किसी तरह भी सम्भव नहीं है। अपने इस दुखी दादा को क्षमा करो। ऐसा अनुचित आग्रह उससे न करो। मुझे दुख है कि तुम सब स्नेही भाई-बहनों को छोड़कर मुझे जाना पड़ रहा है। मैं बचपन से ही गृहहीन और आवारा रहा हूँ। तुम लोगों के यहाँ आने पर जीवन में पहली बार मैंने जाना कि पारिवारिक स्नेह और सुख क्या चीज है। पिछले कुछ ही महीनों के भीतर तुम लोगों के सहृदय स्नेह की डोर से मन इस कदर बँध गया था कि लगता था जैसे युगों से यह स्नेह-सम्बन्ध अटूट चला आता है। इसलिए आज जब वह छिन्न होने जा रहा है तब उसको पीड़ा कैसी होगी, यह तुमसे ज्यादा कोई नहीं समझ सकता। सगी बहन का प्यार क्या चीच है, यह तुम्हीं ने मुझे

१. पिताजी। २. बहन।

सिखाया। इसलिए इस सगे भाई की व्यथा का सही-सही अनुमान भी केवल तुम्हीं लगा सकती हो। पर उस पीड़ा के बावजूद अब मुझे जाना ही होगा बोन!"

क्षण-भर के लिए दीप्ति वेदना-विह्वल और भावमग्न दृष्टि से एकटक मेरी ओर देखती रही। लगता था जैसे वह बरबस आँसुओं को पी जाना चाहती है। पर दूसरे ही क्षण बाँध टूट पड़ा और चार आँसू उसकी दोनों आँखों से ढुलक ही पड़े। उसने आँसू पोंछे नहीं और उसी स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखती हुई अत्यन्त शान्त और धीर स्वर में बोली, "तब अच्छी बात है। जाना ही चाहते हो तो जाओ। मैं तुम्हें रोकूँगी नहीं, तुम्हारे पथ में विघ्नस्वरूप नहीं बनूँगी। केवल इतना ही आशीर्वाद तुमसे चाहती हूँ कि मैं भी जीवन में तुम्हारे ही समान अटूट आत्मविश्वास, तुम्हारी ही तरह का अडिग अन्तर्बल, तुम्हारी ही तरह का असीम धैर्य प्राप्त कर सकूँ और तुम्हारे ही समान कँटीले पथ की पथिक बन सकूँ।" कहकर उसने झुककर मुझे प्रणाम किया।

"मैं तुम्हें आशीर्वाद देने की योग्यता नहीं रखता, दीदी!" उसकी भावुकता के बहाव में बहते हुए मैंने कहा, "तुम मुझसे कई गुना अधिक शक्तिशालिनी हो। तुम नये युग की नई मानवता की नव-मंगलमयी बहन हो। तुम्हारे ही समान सुदृढ़ आत्म-विश्वासवाले विरले व्यक्तियों से प्रेरणा और बल पाकर ही मैं आज के युग के गन्दे और घिनौने कीचड़ से लथपथ, गलित स्वार्थपूर्ण जीवन के बीच में भी धैर्य धारण करके टिका हूँ और कभी निराश न होकर निरन्तर संघर्ष किये चला जा रहा हूँ। तुम घोर संकीर्ण-बुद्धि, भ्रष्टाचारी और शोषक समाज के वातावरण के बीच में पली होने पर भी केवल अपने ही अन्तर के पोषक-तत्त्वों के बल पर, बरफीली चट्टान के ऊपर सदा हरे रहनेवाले देवदार की तरह स्थिर हो। तुम बुरा मानोगी, नहीं तो मैं तुम्हारे चरणों की धूलि अपने सिर पर लेता। चारों ओर के सुस्पष्ट विरोधी वातावरण के बावजूद मुझ जैसे अकिंचन को गौरव देने में तुम्हें रंचमात्र हिचक नहीं मालूम हुई। इतनी बड़ी अन्तर्शक्ति तुम्हें जहाँ से प्राप्त हुई उस निगूढ़ रहस्यमय अक्षय शक्तिस्रोत को मेरा बार-बार प्रणाम है।"

"अब अधिक लज्जित न करो दादा। यह लो पिछले छः महीने के अपने वेतन का हिसाब।" कहते हुए उसने अपने हाथ का लिफाफा मेरी ओर बढ़ाया। क्षण-भर के लिए मैं अनमने भाव से कुछ सोचता ही रह गया; उस लिफाफे की ओर हाथ नहीं बढ़ाया। मैं कह नहीं सकता कि किस विचित्र मनोवैज्ञानिक कारण से

पिछले दो वर्षों से मैं एक निराले मानसिक रोग का शिकार अपने को पा रहा था। जब कभी दस-पाँच से अधिक की रकम मुझे कहीं से प्राप्त होती तब मेरे मन में एक भय की-सी भावना सामने आने लगती थी। उस रकम को छूने से भी मैं डरता था। और जब उसे जेब में डालने के लिए मुझे विवश किया जाता था तब वह रुपया मुझे जैसे किन्हीं सजीव कीड़ों की तरह काटने-सा लगता था और जब तक वह पूरे-का-पूरा खर्च न हो जाता तब तक चैन नहीं मिलता था। वही हाल इस बार भी हुआ। उसे स्वीकार करूँ या न करूँ, यह द्वन्द्व मेरे भीतर उठा। अन्त में यह सोचकर कि न लेने से एक नई अशोभन स्थिति उत्पन्न हो जायगी और दीप्ति को नया धक्का पहुँचेगा, मैंने चुपचाप, बिना किसी बहस के, हाथ बढ़ाकर वह लिफाफा ले लिया।

"अपना पता मुझे बताते जाओ, कभी जरूरत पड़ सकती है," सहसा दीप्ति बोल उठी।

उत्तर में मैं कहना चाहता था कि 'मेरा यदि कोई निश्चित ठिकाना होता तो मैं तुम्हारे बाप के यहाँ नौकरी करने के लिए आता ही क्यों!' पर दीप्ति के मन को अधिक ठेस पहुँचाना मैं नहीं चाहता था इसलिए मैंने सहज शान्त भाव से कहा, "अभी मेरा कोई निश्चित पता नहीं है, दीदी। यदि किसी दिन कहीं कोई ठिकाना लग गया तो निश्चित ही तुम्हें सूचित करूँगा।"

वह कुछ देर तक मेरी ओर देखती ही रह गई—आश्चर्य से या पीड़ा से, मैं ठीक से कह नहीं सकता, सम्भवतः दोनों के मिश्रण से। उसके बाद सहसा झुककर मेरे दोनों पाँवों को छूती हुई बोली, "जहाँ भी रहो, अपनी इस बहन को न भूलना।" और फिर बिजली के-से वेग से बाहर निकल गई।

मैं कुछ देर तक उसी स्थिति में निश्चल खड़ा-खड़ा क्या सोचता रहा, मुझे याद नहीं आता। उसके बाद बाहर आकर, कैष्टो का कमरा बन्द करके, चाबी एक विश्वस्त नौकर को सौंपकर, फिर एक बार 'फ्री वर्ल्ड' में 'मुक्त' विचरने के लिए निकल पड़ा।

पार्क की बगलवाली सड़क से होता हुआ मैं अनमने भाव से चौराहे पर

पहुँचा। वहाँ से कहाँ चलना चाहिए इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चय किये बिना ही जिस ओर पाँव अपने-आप बढ़ते चले गए उस ओर चलता चला गया। किसी कारण से प्यास बहुत तेज मालूम हो रही थी। एक जगह एक शर्बत की विभिन्न प्रकार की रंगीन बोतलों से सजी दुकान दिखाई दी। वहीं रुककर मैंने एक गिलास बरफ का पानी माँगा। जब वह बरफ कूट रहा था तब दुकान के साइन बोर्ड पर मेरी नजर गई। साइन बोर्ड के नीचे कलकतिया प्रथा के अनुसार सड़क का भी नाम लिखा था: वेलेसली स्ट्रीट। यह नाम पढ़ते ही लगा कि मेरा परिचित कोई आदमी इसी सड़क के आस-पास कहीं रहता है। वह कौन आदमी है, उसका नाम क्या है और वह क्या करता है, यह सब कुछ भी मुझे याद नहीं आता था। जब दुकानवाले ने पानी का गिलास मेरे हाथ में दिया और मैंने दो-तीन घूँट पानी पिया तब सहसा बिजली के-से प्रकाश में मुझे अस्पताल के साथी की याद आई। उसका नाम याद करने में कुछ समय लगा। "प्यारे तुम्हारा नाम बड़ा प्यारा है!" नटखट अँगरेज छोकरी ने हँसते हुए कहा था। ठीक! ठीक! यही नाम था उसका—प्यारे। "सचमुच बड़ा प्यारा नाम है!" मैंने मन-ही-मन मुस्कराते हुए कहा। बड़े गाढ़े समय में उसका नाम याद आया, यह सोचकर मैं पुलकित हो उठा। कहीं उस नाम को फिर भूल न जाऊँ, इसलिए बार-बार उसे याद करने लगा, जैसे मुझ डूबते को तिनके का सहारा एकमात्र वही नाम हो। उसने कहा था कि एक बार जरूर मिलना। ठीक है, मैं अवश्य जाऊँगा उसके यहाँ। एक गिलास पानी और पीकर, पैसे देकर मैं आगे बढ़ा।

प्यारे ने अपने घर का नम्बर नहीं बताया था, न गली का नाम ही, पर उस स्थान के आस-पास का जो नक्शा बताया था, उसी को ध्यान में रखकर मैं अनेक गलियों के भीतर बहुत देर तक भटकता रहा। अन्त में जब निराश होकर लौट चलने की बात सोच ही रहा था तब सहसा सामने से सफेद कपड़े से बँधा एक गट्ठर सिर पर लिये एक आदमी आता हुआ दिखाई दिया।

"यहाँ कहीं प्यारे धोबी भी रहता है!" उस आदमी से मैंने पूछा।

"अभी हम दोनों आदमी 'बस' से साथ ही उतरे थे। पीछे से आता ही होगा।"

"मकान कहाँ है उसका?"

"यही तो उसका मकान है, जहाँ आप खड़े हैं।"

वह एकतल्ला कच्चा मकान था। किसी हँसोड़ दैत्य के बड़े-बड़े लम्बे-लम्बे दाँतों की तरह बाहर को निकली हुई बाँस की खपच्चियों के ऊपर बहुत मामूली किस्म के खपरे छाये हुए थे, जिनमें बहुत से टूटे हुए थे। मैं बाहर ही खड़ा प्यारे की प्रतीक्षा करने लगा। कुछ ही देर बाद सिर पर कपड़ों का एक गट्ठर लिये प्यारे भी आता दिखाई दिया। जब वह कुछ निकट आया तब मैंने कहा, "कहो प्यारे, क्या हाल है?"

वह ठहर गया और बड़े गौर से मुझे देखता हुआ बोला, "अच्छा हाल है, बाबूजी।" उसके स्वर में कुछ उदासीनता भरी थी। स्पष्ट ही वह मुझे पहचान नहीं पाया था।

"नहीं पहचाना मुझे?" मैंने पूछा।

"बाबूजी, कुछ ठीक खियाल नहीं पड़ता।"

"अस्पताल में तुम्हारी ही बगल में मेरा पलंग था। पुलिसवाला आया था मुझे खदेड़ने के लिए···नर्स और डाक्टर मुझसे बहुत बिगड़ गए थे···"

"अरे बाबूजी, आप हैं?" और पल में उसका चेहरा खिल उठा। लगता था जैसे प्रसन्नता उसकी आँखों में समा न पाती हो। "आप तो बिलकुल बदल गए हैं। मैं तो पहचान ही न पाया। अच्छी तरह से तो हैं? इतने दिन तक कहाँ रहे? क्या करते हैं आजकल? कोई काम मिला?"

एक साथ वह अनेक प्रश्न कर गया। मैंने केवल अन्तिम प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा, "मैं इस समय बेकार हूँ।"

"तब आइए, भीतर चलकर बैठिए। आप से बहुत-सी बातें करनी हैं। बीच-बीच में आपकी याद मुझे अक्सर आ जाया करती थी। अभी परसों मैं बेला की अम्मा से आप ही का जिकर कर रहा था।"

मैंने तनिक उदासीनता के साथ कहा, "चलो भीतर।"

मकान के एक छोर से दूसरे छोर तक दो लम्बी-सी सीढ़िया बनी थीं। उन पर चढ़कर प्यारे ने दरवाजा खटखटाया। किवाड़ों की जगह प्रायः एक-एक फुट चौड़े कई तख्तों को परस्पर कीलों से जोड़ दिया गया था और बीच-बीच में कब्जे लगा दिए गए थे, जिनसे उन तख्तों को इच्छानुसार मोड़ा या फैलाया जा सकता था।

दरवाजा खड़खड़ आवाज करता हुआ खुला और सामने बेला खड़ी दिखाई

दी। वही चमकता हुआ साँवला रंग, कजरारी आँखें, कपाल के नीचे तक पत्तियों के रूप में बड़ी सफाई से सँवारे गए बाल, कपाल के केन्द्र में अंगारे की तरह दहकती हुई चमक-बिन्दी, कानों के नीचे लटकता हुआ लाल फूलनुमाँ लोलक, आँखों के सफेद नीले और रतनारे डोरों के बीच में दो छोटी-छोटी काली मछलियों की तरह डोलती हुई पुतलियों की चंचल चितवन। मुझे देखते ही केवल उसके चेहरे में ही मुस्कान नहीं फूटी, बल्कि मुझे लगा जैसे उसकी फूलदार किनारीवाली साड़ी भी मुस्करा उठीं। मैं उसे देखकर कुछ सहम-सा गया, जाने क्यों।

भीतर एक कोने में एक बहुत पुराना तख्त पड़ा था, जिसका एक पाया आधा टूट चुका था। पास ही मूँज की एक खटिया पड़ी थी, जिस पर कुछ बिछा नहीं था। गट्ठर को उतारकर प्यारे ने तख्त पर रखा, मुझे भी उसी तख्त पर बैठने के लिए उसने कहा। जब मैं बैठ गया तब वह भी समाने मूँज की खटिया पर बैठ गया। बेला भीतर के दरवाजे के पास खड़ी हो गई। वह एकटक मेरी ओर देख रही थी, जिसके कारण मैं बड़े संकोच का अनुभव कर रहा था।

"बाबूजी कुछ चाय-वाय पियेंगे?" बड़े प्रेम से प्यारे ने पूछा।

"तुम पीओ तो मैं भी पी सकता हूँ।"

"मैं तो जरूर ही पिऊँगा एक प्याला। दिन-भर मेहनत के बाद अब जाकर फुरसत मिली है। सारा बदन थककर चूर हो गया है। थकावट मिटाने के लिए एक प्याला चाय मेरे लिए बहुत जरूरी है। जाओ बेला, बुलाकी को भेजो। मण्टू की दुकान से दो प्याला चाय ले आयेगा।"

बेला भीतर गई और थोड़ी ही देर बाद लौटकर फिर उसी दरवाजे के पास आकर खड़ी हो गई। उसकी आँखें मेरी ही ओर लगी थीं।

"बुलाकी से कहा?" प्यारे ने पूछा।

"हाँ, आ रहे हैं", बेला बोली।

कुछ ही देर बाद एक तगड़ा-सा जवान आया और सीधे बाहर चला गया। "यह मेरा लड़का है—बुलाकी," गर्व के साथ उसका परिचय देते हुए प्यारे ने कहा।

प्रायः पाँच मिनट के भीतर ही बुलाकी दो हाथों में चाय के दो प्याले लिये हुए आ पहुँचा। एक प्याला उसने मेरे हाथ में दिया और दूसरा प्यारे के हाथ में। उसके बाद वह फिर भीतर चला गया।

दो घूँट चाय ले चुकने के बाद प्यारे बोला, "बहुत दिनों से मेरे मन में एक बात घूम रही है। मैं अस्पताल में ही उसके बारे में आपसे बातें करना चाहता था। अगर आप एक-आध दिन वहाँ और रह गए होते तो मैं आप को बताता···।"

मैं प्रश्न-भरी दृष्टि से मौन भाव से उसकी ओर देखता रहा।

"बात यह है बाबू जी," उसने अपनी बात का सिलसिला जारी रखते हुए कुछ गम्भीर स्वर में कहा, "आजकल कपड़े धोने के पेशे में कुछ दम नहीं रह गया है। जगह-जगह 'लान-दरियाँ, खुल गई हैं, जिनका असर धोबियों पर बुरी तरह पड़ा है। 'लान-दरी' वाले पैसा ज्यादा लेते हैं और कपड़ा अच्छा नहीं धोते, फिर भी लोग इन्हीं को कपड़ा देना पसन्द करते हैं, धोबियों को नहीं देना चाहते। फैशन के पीछे आज की दुनिया दीवानी है, बाबूजी। 'लान-दरी' वाले कास्टिक सोडा से कपड़े धोकर उनमें सफाई और चमक जरूर ला देते हैं, पर कास्टिक का असर हल्के तेजाब की तरह होता है। तीसरी ही धुलाई में नये कपड़े को काटकर तार-तार कर देता है। हम लोग इतने बरसों तक ईमानदारी से काम करते रहे हैं। धूप में कपड़े सुखाकर इनमें पानी के छीटे मारते रहने से वह चमक और वह सफाई आ जाती है जो कास्टिक का बाप पैदा नहीं कर सकता। इस तरह कपड़े की जिन्दगी भी बढ़ जाती है। मेहनत का पैसा खाया है बाबूजी, हम लोगों ने, कुछ हराम का नहीं खाया। अब 'लान-दरियों' की देखादेखी धोबियों में भी बेईमानी आ गई है। अब वे भी कास्टिक का इस्तेमाल करने लगे हैं। जब दुनिया असली काम नहीं चाहती, दिखावा चाहती है, तब कौन बेमतलब की मेहनत करे।" प्यारे इतनी बातें कह गया, पर काम की एक भी बात उसने नहीं बताई, जिसे वह अस्पताल में ही मुझे बताना चाहता था।

"बुलाकी, कपड़े उठा ले आओ," भीतर की ओर मुँह करके प्यारे ने कहा। "अभी अँगीठी तैयार नहीं हुई क्या? सब कपड़ों की इस्तिरी आज ही हो जानी चाहिए। और एक चिलम तमाखू तैयार करके जल्दी दे जाना।"

मुझे निराशा होने लगी। इतना मैं जानता था कि कुछ काम की बात उसके मन में जरूर है, पर वह बताते-बताते बहक गया था। मेरी उत्सुकता धैर्य की रेखा को पार करने जा रही थी। प्यारे कुछ अनमना-सा हो चला था और भीतर की ओर देखता हुआ न जाने क्या सोच रहा था। इधर बेला दरवाजे से हटती नहीं

थी और मेरे मुख की ओर इतनी देर से देखते रहने पर भी उसकी आँखें जैसे थकती नहीं थीं। उसकी वह मौन दृष्टि जैसे मेरे शरीर को छू रही थी। मैं एक अजीब-से संकोच का अनुभव कर रहा था। किसी नारी की अथक दृष्टि इस तरह मुझ पर पहले कभी नहीं पड़ी थी। मुझे उसकी ओर सीधा देखने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी। बीच-बीच में मैं केवल कनखियों से उसकी ओर देख पाता था।

बेला की मौन और मुग्ध दृष्टि के स्पर्श का अनुभव करता हुआ और प्यारे की अनमनी मुद्रा देखकर मैं सहसा उठ खड़ा हुआ। "अच्छा प्यारे, इस समय जाता हूँ फिर कभी मौका हुआ तो मिलूँगा।" यह कहकर मैं जाना ही चाहता था कि इतने में बुलाकी एक धुली हुई नरियल के ऊपर सुलगी हुई चिलम रखकर ले आया। मुझे करीम चाचा के हुक्के की याद आई और जी ललचाने लगा। इसलिए मैं जाते-जाते बरबस ठहर गया। नरियल हाथ में लेते ही प्यारे की अन्यमनस्कता भंग हो गई। "अरे बाबूजी, अभी तो आपसे काम की बात की ही नहीं। तनिक बैठिए। इतनी जल्दी क्या है?" कहकर उसने छोटी-सी निगाली से नरियल को धीरे-धीरे गुड़गुड़ाना आरम्भ किया। मैं धीरे से बैठ गया।

"हाँ, तो बात चल रही थी 'लान-दरियों' की," हलके ढंग से खाँसते हुए प्यारे बोला। "आजकल हाल यह है कि जिस किसी भी बाबू को कहीं कोई काम नहीं मिलता वह चट से एक 'लान-दरी' खोलकर बैठ जाता है। 'लान-दरी' खोलने में रुपया लगाना नहीं पड़ता। एक छोटी-सी दुकान किराये पर ले लो, साइनबोरड टाँग दो, मैले कपड़े बटोरो, सस्ते दर पर किसी धोबी से धुलवा लो और मँहगे दर से गाहक से पैसा वसूलो। 'लान-दरी' वाले धोबियों का रोजगार चौपट करने पर तुले हैं, पर साथ ही धोबियों के बिना उनका काम नहीं चलता। वे धोबियों से ही थोक भाव पर कपड़े धुलवाते हैं और उन्हीं को खतम भी करना चाहते हैं। धोबियों को जब फुटकर गाहक नहीं मिलते तब वे लाचार होकर 'लान-दरियों' का ही काम ले लेते हैं। कुछ बड़ी 'लान-दरियों' को छोड़कर जिनके पास कपड़ा धोने की मशीनें हैं, बाकी सब धोबियों की मेहनत की कमाई खा रही हैं। और मशीनवाली 'लान-दरियाँ' भी धोबियों से ही चलती हैं। वे धोबियों को नौकर रखकर उन्हें खरीद लेती हैं और उनके पुस्तैनी पेशे को हमेशा के लिए खतम करना चाहती हैं। इसीलिए मेरे मन में एक बात आई है। मैं सोचता हूँ कि मैं खुद क्यों न एक 'लान-दरी' खोल लूँ। इसमें मुझे और कोई परेशानी नहीं

है, सिर्फ एक होशियार आदमी दुकान पर बैठनेवाला चाहिए, जो लिखना-पढ़ना और कपड़ों का और पैसों का ठीक-ठीक हिसाब-किताब रखना जानता हो। मैं अस्पताल ही में आप से कहना चाहता था, पर हिम्मत नहीं पड़ती थी; मैं सोचता था कि आपको इस तरह का काम पसन्द आयगा या नहीं। अगर आप राजी हों तो कल ही से 'लान-दरी' खोल दूँ।"

"मुझे खूब पसन्द है इस तरह का काम," अत्यन्त उत्साहित होकर मैंने कहा। "तुम जब से कहो मैं इस काम पर जुट सकता हूँ।"

"तब ठीक है, कल ही से यह काम शुरू कर दिया जाय।" प्यारे के मुख पर प्रसन्नता समा नहीं पाती थी। नरियल दो-तीन बार कसकर गुड़गुड़ाकर, मुँह से इंजन की तरह धुआँ निकालते हुए उसने फिर कहा, "बात यह है बाबूजी, मैं इतने दिन तक चुप न बैठा रहता। लिखना-पढ़ना जाननेवाले बहुत से आदमी आज की बेकारी के जमाने में मुझे मिल सकते थे। पर मैंने 'परन' कर लिया था कि जब तक अपने मन का कोई ऐसा आदमी न मिले, जो सच्चा और ईमानदार भी हो और साथ ही होशियार भी हो तब तक मैं किसी को इस काम पर न रखूँगा—'लान-दरी' ही नहीं खोलूँगा। अस्पताल में आपको देखने पर मुझे यकीन हो गया था कि आप ठीक वैसे ही आदमी हैं जैसा मुझे चाहिए। मैंने, जाने क्यों, सोचा था कि आप जल्दी ही एक बार मुझसे आकर मिलेंगे। जो भी हो, अब आप आ गए हैं, इसलिए अब मेरा बहुत दिन का सोचा काम बन जायगा, इसका पूरा भरोसा मुझे हो गया है!"

इसके बाद प्यारे कुछ देर तक चुपचाप नरियल गुड़गुड़ाता रहा। अब धुआँ मुँह से बहुत कम निकल रहा था। स्पष्ट ही बिना तवे का तमाखू जलकर प्रायः समाप्त हो गया था। "बिटिया, इसे बुलाकी को दे आओ, एक नई चिलम भर-कर देने को कहो," यह कहकर उसने बेला की ओर चिलम बढ़ा दी। बेला उसे लेकर भीतर चली गई।

"हाँ, तो बाबूजी अब आप बताइए कि आप कितना रुपया माहवार लेंगे? जब तक काम जमता नहीं तब तक तो मैं आपको ज्यादा दे न सकूँगा; बात पहले ही सच्ची कह देनी अच्छी होती है। फिर भी···"

"देखो प्यारे," बीच ही में उसकी बात काटता हुआ मैं बोल उठा, "बात साफ यह है कि न मुझे तुमसे तनखाह ठहरानी है, न कोई दूसरा सौदा करना

है। मुझे सिर्फ एक कोने में रात में पड़े रहने के लिए थोड़ी-सी जगह और दो जून दो-दो सूखी रोटियाँ चाहिए। बस, इससे ज्यादा और मैं कुछ नहीं चाहता। तुम ईमानदारी से जितना भी ठीक समझकर दे दोगे, मैं ले लूँगा।"

प्यारे की ठुड्डी से लेकर कपाल के ऊपर तक प्रसन्नता की रेखाएँ खिंच गईं। "तब मैं अभी भौजी, बुलाकी और उसकी अम्माँ को बताता हूँ," उसने कहा और उसी क्षण उठकर भीतर चला गया।

मैं बाहर के कमरे में अकेला, चुपचाप बैठा रहा। भीतर से तीन-चार व्यक्तियों के आपस में बातें करने की आवाज आ रही थी। बीच-बीच में कभी प्यारे का, कभी बुलाकी का और कभी किसी औरत का बोलना सुनाई देता था। कोई भी बात साफ नहीं सुनाई पड़ती थी, केवल कुछ फुटकर शब्द समझ में आते थे।

जब प्यारे लौटकर आया तब उसके हाथ में वही नरियल था। उसके चेहरे पर तनिक गम्भीरता छाई हुई थी। धीरे-धीरे निगाली से धुआँ खींचता हुआ और आधी दृष्टि से मेरी ओर देखता हुआ बोला, "देखिए बाबूजी, सब बातें पहले ही से साफ हो जानी चाहिए। इसलिए मैं आपको बता देना चाहता हूँ कि आप यहीं सोएँगे, हमारे ही यहाँ खाना खाएँगे और ऊपर से बीस रुपया माहवार आपको मिलेगा। इससे ज्यादा अभी हम न दे सकेंगे।"

मैंने उसका गम्भीर भाव देखकर मन-ही-मन मुस्कराते हुए कहा, "इससे ज्यादा मुझे कुछ चाहिए भी नहीं।"

"तब ठीक है। कब से आप काम शुरू करेंगे?"

"जब से तुम कहो।"

"कल ही से शुरू कर दीजिए। इसी कमरे में दुकान रहेगी। यहीं आप दिन में बैठेंगे और यहीं रात में सोएँगे।"

"ठीक है, मैं आज ही रात से यहाँ सोना शुरू कर दूँगा।"

जब लांड्री खोलने का विचार पक्का हो गया तब मैं पूरी लगन से प्रारम्भिक तैयारियों में जुट पड़ा। सबसे पहले लांड्री का नामकरण आवश्यक था। बहुत सोचने के बाद मैंने उसका नाम रखा 'शुभ्रा'। प्यारे ने कहा कि बिना 'लान्दरी'

शब्द जोड़े नाम अधूरा ही रह जायगा। उसका तर्क यह था कि 'गाहकों' के आगे यह बात पहली ही नजर में साफ हो जानी चाहिए कि 'शुभ्रा' किसी बजाज की दुकान नहीं बल्कि धोबी की दुकान है। मेरे विरोधी तर्क उसे नहीं जँचे, इसलिए अन्त में उसी की बात मानकर मैं एक पेन्टर से अँग्रेजी, बँगला और हिन्दी तीनों लिपियों में एक मेहराबनुमा—अर्द्धगोलाकार—साइनबोर्ड के ऊपर 'शुभ्रा लांड्री' लिखवा लाया। मेहराब के बीचोंबीच बड़े-बड़े बँगला अक्षर अंकित थे; नीचे बाईं ओर हिन्दी थी और दाईं ओर अँग्रेजी। उस गली के आस-पास बंगाली अधिक रहते थे, इसलिए बँगला अक्षरों को प्रमुखता दी गई।

उसके बाद 'शुभ्रा लांड्री' के नाम से, नम्बर सहित 'कैशमेमो' छप गए। प्यारे ने थोड़ा-थोड़ा करके जो रकम बहुत दिन से बचा रखी थी उसका एक बहुत बड़ा भाग फर्निचर वगैरह प्रारम्भिक सामग्रियाँ खरीदने में लगा देना पड़ा। सेकेण्ड हैण्ड फर्निचर की एक दुकान से कपड़ा रखने की तीन आलमारियाँ, मेरे बैठने के लिए एक कुरसी और एक मेज और ग्राहकों के बैठने के लिए दो साधारण कुरसियाँ खरीदी गईं। पुराने तख्त को उत्तर की ओर एक कोने में लगा दिया गया। दरवाजों की अगल-बगल तीन भाषाओं में विस्तार से लांड्री के दर और नियम के बोर्ड टाँग दिए गए। कुछ हैंडबिल भी छपवाकर आस-पास के मुहल्लों में बँटवा दिए गए।

लांड्री के 'उद्घाटन समारोह' के पहले दिन 'शो' के लिए धुले हुए और इस्त्री किये हुए सब कपड़े आलमारियों में सजाकर रख दिए गए। जिस दिन मैं बाकायदा दुकान खोलकर बैठा उस दिन उस रास्ते से होकर चलते हुए कई राहगीर हम लोगों का विज्ञापन और 'साइनबोर्ड' पढ़ते रहे। पर रात तक केवल २० कपड़े प्राप्त हो सके, जिनमें से पन्द्रह एक ही आदमी ने दिए थे। पहले दिन के लिए उतना ही काफी मानकर हम सब लोग सन्तुष्ट रहे।

तीन-चार दिन तक धुलने के लिए स्वीकृत कपड़ों की औसत पन्द्रह के करीब रही। उसके बाद धीरे-धीरे संख्या बढ़ने लगी। एक महीने के भीतर ही प्रतिदिन की औसत सौ से अधिक पहुँच गई। आगे चलकर उस संख्या में भी नियमित वृद्धि होती चली गई। प्यारे धुलाई-सम्बन्धी अपनी पुश्तैनी कला का पूरा प्रयोग करके ग्राहकों पर प्रभाव डालने के लिए बहुत उत्सुक और सचेष्ट दिखाई देता था।

मैं सुबह सात ही बजे से दुकान खोलकर बैठ जाता था और रात काफी देर

तक बैठा रहता था। उसके बाद दुकान बन्द करके दो रोटी खाकर, पानी पीकर वहीं पुराने तख्त पर सोने के विचार से लेट जाता था। प्यारे ने एक दरी, एक चादर और एक तकिया दे दिया था। दरी बिछाकर, तकिया सिरहाने लगाकर और खटमलों और मच्छरों के आक्रमण से अपनी रक्षा का व्यर्थ प्रयत्न करता हुआ मैं लेट जाता। कमरे में सील बहुत थी, फर्श का सीमेन्ट आधा उड़ चुका था और शेष आधा जगह-जगह फटा हुआ था और उखड़ने की तैयारी कर रहा था। फर्श के नीचे स्थान-स्थान पर असंख्य छोटी-छोटी गुफाओं में चींटों और चींटियों के उपनिवेश बसे हुए थे। दोनों ही बड़े विकट हिंसक और आक्रामक जातियों के थे और तख्त के ऊपर चढ़कर मुझे काटने लगते थे। उनके काटते ही मेरा शरीर बिजली का धक्का लगने की तरह उचक-उचक उठता था। शीशे की बहुत ही पतली नोकदार छोटी-छोटी सुइयाँ यदि आधा इञ्च शरीर में गोद दी जायँ तो उनसे जिस प्रकार की पीड़ा की सम्भावना है ठीक उसी तरह की अनुभूति चींटों, चींटियों, खटमलों और मच्छरों के काटने से मुझे होती थी। बारी-बारी से इस तरह की असंख्य सुइयाँ मेरे शरीर में रात-भर चुभती रहती थीं। सैकड़ों बड़े-बड़े तिलचट्टे धुले कपड़ों और उन्हें लपेटने के लिए रखे गए कागजों पर चौबीसों घण्टे—विशेषतया रात के समय—संचरण करते रहते थे, जिससे खसर-खसर और चिटर-चिटर का-सा शब्द निरन्तर कर्ण-कुहरों में प्रविष्ट होता रहता था। रात के एकान्त में वह शब्द सुनकर एक अजीब-सी सुरसुरी मेरी सारी नसों में दौड़ने लगती थी। कई बार फर्श और दीवार के निर्द्वन्द्व विचरनेवाले बड़े-बड़े गोजरों को चिमटे से पकड़-पकड़कर मुझे बाहर फेंकना पड़ता था। गोजर तो गोजर, कई बिच्छू भी वहाँ निःशंक विचरते थे। उनका डंक काटकर मैं उनका भी वैसा ही सत्कार करता था जैसा गोजरों का। दीवारों के कोने में जगह-जगह मकड़ी के जाले लगे हुए थे। एक बार साफ करने पर दूसरे दिन फिर नये जाले दिखाई देते थे। बड़े-बड़े मकड़ों से लेकर छोटी-छोटी मकड़ियों तक, सभी उस कमरे में निश्चिन्त और निर्भय विचरण करते रहते थे। मकड़ों और मकड़ियों को अक्सर अपने-अपने जाले में निराहार ही सूखकर प्राण दे देने पड़ते थे, क्योंकि कमरे की और गली की सारी गन्दगी के बावजूद मक्खियाँ वहाँ नहीं के बराबर थीं। वे मकड़े और मकड़ियाँ पुरानी संस्कृति के प्रेमी उन व्यक्तिवादी कलाकारों की तरह थे जो पराक्रमहीन होने के कारण अपने निर्माण के जाले में स्वयं ही

उलझकर प्राण देना—अर्थात् 'आन' पर मर-मिटना—पसन्द करते हैं, पर अपने रवैये को बदलकर परिस्थिति के अनुसार नये और यथार्थवादी उपायों को काम में लाना नहीं चाहते। चींटियों के दल उन अर्थपतियों की तरह थे जो किसी अंध-संस्कारवश केवल संचय के लिए संचय किये चले जाते हैं और जब कोई दूसरा दल जीवन-धारण की एकान्त आवश्यकता से प्रेरित होकर उनकी आवश्यकता के अतिरिक्त निरर्थक संचय का हिस्सेदार बनने का प्रयत्न करता है तब उस पर बुरी तरह से टूट पड़ते हैं। चींटे उन राजनीतिक नेताओं की तरह थे जो बिना कुछ परिश्रम किए उन संचयशील चींटियों पर अपने ऊपरी दिखावे का रोब जमाकर उनके संचय में से कुछ-न-कुछ झटकते रहते थे। मच्छर और खटमल चलते-फिरते और उड़ते 'ब्लड-बैंकों' की तरह थे, जो मनुष्य के शरीर का रक्त कण-मात्र भी बहाये बिना भीतर-ही-भीतर से इस सफाई से शोषण कर ले जाते थे कि अनुभव के बिना उसे समझना कठिन है।

सभी उपनिवेश अपने-अपने क्षेत्र में मुक्त विचरा करते थे। 'फ्रीवर्ल्ड' का ऐसा सुन्दर निदर्शन बहुत कम देखने में आता है। चींटियों में काली और गोरी दोनों जातियाँ विद्यमान थीं। गोरे—जो रक्त-शोषण के कारण कुछ लाल दिखाई देते थे—अधिक चतुर, अधिक संगठित और अधिक हिंसक थे। उनके डंक की जहरीली शक्ति बहुत तीव्र थी। बेचारी काली चींटियों के दल हिंसक गोरों के सुदृढ़ और सुनियमित संगठन, प्रचण्ड हिंसक शक्ति और संचय-सम्बन्धी विविध कलाओं के ज्ञान से चकित थे। वे भरसक गोरों से संघर्ष में नहीं आना चाहते थे और अहिंसात्मक उपायों से अपनी रक्षा करते रहते थे। पर गोरे दल बरबस उनसे छेड़खानी करना पसन्द करते थे और कभी-कभी तो दोनों जातियों के बीच सामूहिक युद्ध छिड़ जाता था, जिसमें गोरों के पास अधिक प्रभावशाली और तीखे अस्त्र होने से जीत उन्हीं की होती थी। 'हृदय-परिवर्तनवादी' काले अपनी निरीहता के कारण मारे जाते थे। दीमकों का व्यापक विनाश-कार्य अजानित रूप से अलग चलता रहता था।

मैंने चींटियों और खटमलों के निराकरण के उद्देश्य से अनेक प्रयत्न किए, पर तनिक भी सफलता न मिली। चींटियों के भूगर्भस्थ निवासों के गुप्त मार्गों को खोद-खोदकर, उनके भीतर स्पिरिट डालकर, कपड़े के टुकड़े या कागज जलाकर उन्हें भस्म कर डालना चाहा, पर अणु-बम या सामूहिक हत्या के दूसरे आग्नेयास्त्रों

से अपनी रक्षा करने के लिए उन्होंने पहले ही से अपने आश्चर्यजनक कला-कौशल द्वारा ऐसे गुप्ततम रक्षा-गृहों का निर्माण कर रखा था कि उनकी उस सुरक्षा-स्थिति को विनष्ट कर सकना किसी भी रूप में सम्भव नहीं था। खटमलों से मुक्ति पाने के लिए मैंने कई बार पुराने तख्त को बाहर धूप में रखा, उनके छिद्र-छिद्र में खौलता हुआ पानी डाला, डी॰ डी॰ टी॰ का प्रयोग किया, पर कोई लाभ न हुआ। इस उपाय से कुछ अधिक परिपक्व और मोटे-मोटे खटमल जो रक्त-शोषण की चरम स्थिति को पहुँचे होते थे, अवश्य मर जाते थे, पर छोटे-छोटे रक्त-बीज फिर भी शेष रह जाते थे और एक ही दिन बाद वे रक्त-बीज फिर मेरे रक्त से मोटे होकर, निःशंक विचरने लगते थे।

दुकान में कोई खिड़की नहीं थी और न कोई ऐसी व्यवस्था थी जिससे रात में दुकान के किवाड़ों को बन्द किये बिना भी दुकान की रक्षा होने के साथ-साथ मुझे हवा भी मिलती जाती। इसलिए रात में किवाड़ बन्द करके मैं लेटता तो हवा के बिना एक अजीब-सी घुटन से मेरी छाती जकड़ने लगती।

प्रारम्भ में कुछ दिन तक मैं कभी हँसता हुआ और कभी उदासीनता के साथ उस सारी अस्वाभाविक परिस्थिति का सामना करता रहा। पर खटमलों और मच्छरों के निरन्तर काटने से शारीरिक कष्ट के साथ ही निद्रा भंग होते रहने के कारण मन्द विष का-सा प्रभाव मुझ पर पड़ने लगा। और वह मन्द विष मेरे भीतर कटु रस घोलता चला गया। फलस्वरूप मैं रात-रात भर उनींदी अवस्थामें यह सोचता रहता कि मानवता के विकास की यह कैसी विडम्बना है! बीसवीं शती के इस उत्तरार्द्ध काल में भी, इसी कलकत्ता शहर के लाखों आदमी इन अस्वाभाविक और अमानुषिक परिस्थितियों में जीवन बिताने को बाध्य हैं! कभी-कभी मैं सोचता कि आज के तथाकथित 'फ्री वर्ल्ड' में मनुष्य ने मनुष्य को मनुष्य न रहने देने की कसम खा रखी है। स्वयं अपने सम्बन्ध में मुझे सन्देह होने लगता कि मैं मनुष्य नहीं हूँ, बल्कि उन खटमलों, मच्छरों, गोजरों, बिच्छुओं, मकड़ियों, तिलचट्टों और दीमकों की तरह ही मैं भी एक कीट हूँ (बड़ाकीट), जो चारों ओर से मुझे घेरे हुए हैं। पर दुर्भाग्य से उनके 'फ्री वर्ल्ड' में भी मैं 'अन-फिट' बैठता हूँ और वे सब मुझे अपना सबसे बड़ा शत्रु समझकर मुझ पर अलग-अलग और सम्मिलित रूप में भी, आक्रमण करते रहते हैं। रात-रातभर उन कीटों द्वारा काटा जाता हुआ और यन्त्रणा से छटपटाता हुआ मैं सोचता कि

आज की मनुष्यता कीटों द्वारा पराजित और परास्त है। कमरे के भीतर वास्तविक कीट और कमरे के बाहर मानव-रूपी कीट आज मनुष्यता का रक्त शोषण करके उसे दीमकों की तरह चाटकर खोखला बनाने पर तुले हैं।

सील से भरे उस बन्द कमरे के भीतर मुक्त आकाश की शुद्ध वायु तो प्रवेश कर ही नहीं पाती थी, पर बाहर की तंग गली की गन्दी नालियों की दुर्गन्ध न जाने किन छिद्रों से होकर बेखटके भीतर घुस आती थी। मेरी ही तरह की परिस्थितियों, अगल-बगल और आमने-सामने के छोटे-छोटे कच्चे मकानों में रहने वाले जो लोग भीतर की सड़ी गरमी से बचने के लिए बाहर गली में खटिया लगाकर, या जमीन ही पर मैला कपड़ा बिछाकर सोते थे, वे अपने सिरहाने और पैताने बहनेवाली, दुनिया-भर की गन्दगी को अपने साथ बहा लानेवाली नालियों की उत्कट बदबू के आदी हो चुके थे, इसलिए वे निश्चिन्त होकर वहाँ सो जाते थे। पर मैं जल्दी से उनके अभ्यास की स्थिति को नहीं पहुँच पाता था।

धीरे-धीरे मुझे भी आदत-सी पड़ती चली गई और प्रारम्भ में मेरी जो आँखें रात-भर उनींदी रहा करती थीं वे अन्तिम दो-तीन घण्टों में कुछ आराम कर सकने की आदी हो आईं।

अधिकतर निम्न-मध्य वर्ग के लोग ही हमारी लांड्री में कपड़ा देने के लिए आते थे। 'बाबू' श्रेणी के जो लोग बिना परिवार के रहते थे और केवल दो जोड़े कपड़े अपने पास रखते थे वे कुरता, धोती और गञ्जी (सूती बनियाइन) का एक 'सेट' एक बार में धुलने के लिए दे जाते थे—न इससे अधिक न इससे कम। और जो लोग परिवार सहित रहते थे वे लम्बी अवधि के बाद आते थे और बहुत ही गन्दे कपड़े दे जाते थे। वह गन्दगी क्या होती थी बिना देखे उसकी कल्पना कर सकना सम्भव नहीं है। फल यह होता था कि जब उनमें महीनों से जमे मैल को छुड़ाने के लिए उन्हें कास्टिक सोडा के घोल में भिगोने के उद्देश्य से छोड़ दिया जाता तब धुलने के बाद देखने में आता कि किसी का बीच का हिस्सा ही गलकर साफ हो गया है। कोई गंजी चारों ओर से छलनी बन गई है, किसी कुरते का गला ही कट गया है और किसी धोती की किनारी का रंग ही गायब हो गया

है। इन सब कारणों से ग्राहकों से जो झाँव-झाँव करनी पड़ती वह गलीवालों के लिए एक अच्छे-खासे तमाशे का दृश्य बन जाता।

पर सभी ग्राहक ऐसे नहीं होते थे। ऐसे ग्राहक भी आते थे जो अपने कपड़ों को बड़े जतन से रखते थे, अधिक मैला नहीं होने देते थे, समय पर धुलने को दे जाया करते थे और समय पर ही वापस ले जाते थे। हमारी लांड्री के दर अपेक्षाकृत सस्ते होने के कारण अच्छी गलियों में स्थित दूसरी लांड्रियों के बहुत से ग्राहक भी हमारे यहाँ कपड़े देने लगे थे, जिनमें गरीब ऐंग्लो-इण्डियनों की संख्या काफी थी।

यदि केवल दुकान पर कपड़ा दे जानेवाले ग्राहकों पर ही निर्भर किया जाता तो लांड्री को कुछ विशेष लाभ न हो पाता। पर प्यारे अपने पुराने ग्राहकों के घर जा-जाकर कपड़े ले आता था। घाटा तो उसे किसी भी हालत में हो ही नहीं सकता था, क्योंकि मजदूरी उन लोगों की अपनी थी। मुझ पर जितना खर्च होता था केवल उतना ही प्यारे का 'अतिरिक्त व्यय' था। बाकी खर्चा वही था जो उसे अपने व्यवसाय में साधारण परिस्थिति में भी करना पड़ता था—अर्थात् साबुन, सोडा, मसाला, इस्त्री के लिए कोयला आदि।

मेरे लिए लांड्री में काम अधिक नहीं था और अवकाश का समय यथेष्ट रहता था। एक दिन यों ही एक अजीब-सी धुन मुझे सवार हो गई और मैं बाजार से कुछ सादा कागज खरीद लाया और मैंने अपने जीवन के अनुभवों को लिखना शुरू कर दिया। जब कभी अवकाश मिलता, मैं लिखने बैठ जाता।

धीरे-धीरे मैं उस परिवार का सदस्य-सा बन गया। घर की दो प्रधान स्त्रियाँ—बेला की अम्माँ और प्यारे की भाभी—भी मुझे अपने घर का ही आदमी समझने लगीं और मेरे साथ किसी प्रकार के तकल्लुफ का व्यवहार नहीं रखती थीं।

दिन में बेला को छोड़कर घर के प्रायः सभी लोग घाट चले जाया करते थे। उन लोगों को कपड़ा धोने के लिए सलकिया जाना पड़ता था, जो हवड़ा के पास था। बेला भले ही कभी शौकिया उन लोगों के साथ चली जाती, पर अधिकतर वह घर ही पर रह जाती थी। माँ-बाप, भाई-भाभी और ताई की वह बहुत

ही मुँहलगी लड़की थी। वह किसी सम्भव बात की इच्छा करे और उसकी पूर्ति न हो, ऐसा नहीं हो सकता था। वह कुछ विचित्र स्वभाव की, भावुक किस्म की लड़की थी। सुबह से लेकर शाम तक वह घर के किसी भी काम में हाथ नहीं बटाती थी। यदि वह माँगने पर किसी को एक गिलास पानी पिला देती तो घर के लोग इतनी-सी बात का बहुत अहसान मानते। कभी वह चुपचाप अपनी खटिया में लेटी रहती, कभी अकेली बैठी-बैठी कोई फिल्मी गाना गाती, कभी मेरे पास आकर चुपचाप एक किनारे खड़ी हो जाती। जब घर पर दूसरे लोग भी होते तब उसका मेरे पास खड़े होना मुझे यदि कुछ विशेष अच्छा न लगता तो कुछ बहुत बुरा भी न लगता। पर दिन में जब घर के सब लोग घाट गये होते और केवल बेला और मैं घर पर रह जाते तब मेरी स्थिति कुछ दूसरी हो जाती। यदि बेला ऐसी स्थिति में चुपचाप भीतर लेटी होती या भीतर बैठकर कोई काम करती होती तो मुझे कोई आपत्ति न होती। पर वह अधिकतर ऐसे समय मेरे पास आती थी जब घर पर हम दो प्राणियों के सिवा तीसरा कोई न रहता हो। ऐसे समय वह कभी तो एक अजीब, मोहमग्न-सी दृष्टि से मेरी ओर चुपचाप देखती रहती, कभी, अकारण ही अत्यन्त मुखर हो उठती और कभी कोई फिल्मी गाना गाती हुई कुछ क्षण के लिए भीतर चली जाती और फिर उसी तरह गाती हुई लौट आती।

एक दिन जब मैं दोपहर को दूकान पर बैठा हुआ धुलने को आये हुए कपड़ों पर पक्की स्याही से नम्बर लिख रहा था, तब सहसा बेला ने आकर मेरा ध्यान भंग करते हुए कहा, "कहिए मिस्टर वाशरमैन, क्या कर रहे हैं?"

मैंने सिर उठाकर उसकी ओर देखा, वह एक अनोखे व्यंग्य की मुद्रा से मेरी ओर देखती हुई मन्द-मन्द मुस्करा रही थी। उसकी साड़ी का पल्ला सिर पर से नीचे खिसक गया था और वह दोनों हाथ पीछे को किए दीवार के सहारे खड़ी थी।

"कपड़ों में नम्बर लिख रहा हूँ," शान्त भाव से मैंने कहा।

"अच्छा यह बताइए कि आपको 'वाशरमैन' कहा जाय या क्लर्क, किरानी या मुंशी? यह सवाल रोज मेरे मन में उठता है और रोज ही मैं पूछना भूल जाती हूँ।" उसकी आँखों की चंचल पुतलियों में शरारत भरी थी।

मैं कुछ अप्रतिभ अवश्य हुआ, पर सहज भाव से बोला, "मैं 'वाशरमैन' भी हूँ, क्लर्क भी, किरानी भी और मुंशी भी। इसलिए तुम्हारी जब जो इच्छा हो पुकारा करो।"

"अच्छा तब सुनिए, मुंशीजी ! आप तो लिखने में ऐसे मशगूल हैं कि किसी की बात सुनने की फुरसत तक आपको नहीं रहती । तनिक ध्यान से सुनिए और यह बताइए कि आपने कभी किसी से खुश होकर बातें की हैं या नहीं। या बराबर सभी के सामने इसी तरह मुँह लटकाए और गाल फुलाए रहे ?"

"मैं तुम्हारी बात का कुछ मतलब समझा नहीं," एक बार उसकी ओर देखकर फिर उसी तरह नम्बर लिखने में व्यस्त होकर मैंने कहा ।

"अरे जनाब, आप हमारी बात का मतलब क्या समझेंगे !" विचित्र किस्म के व्यंग्य के 'मूड' में थी वह ।

मैं मंद-मंद मुस्कराता रहा और कपड़ों पर नम्बर चढ़ाता रहा ।

बेला के इस तरह के रहस्यपूर्ण व्यवहार ने मुझे बड़ी विचित्र परिस्थिति में डाल दिया। वह प्रतिदिन इसी तरह आकर मेरे काम में विघ्न डालती रहती थी, उसके अन्तर्द्वन्द्व को मैं समझ रहा था, पर उसे दूर करने का कोई साधन मेरे पास नहीं था ।

फल यह हुआ कि कुछ दिन प्यारे के यहाँ काम करने के बाद एक दिन मैंने बात को बढ़ते देखकर निश्चय कर लिया कि रात ही में वहाँ से चल दूँगा ।

प्यारे को अस्पष्ट सांकेतिक शब्दों में स्थिति समझाकर मैं उसी रात डेरा-डंडा उखाड़कर बाहर निकल पड़ा ।

रात में किसी एक पार्क के एक अँधेरे कोने में जाकर लेट गया । बहुत देर तक मैं तरह-तरह की बातें सोचता हुआ करवटें बदलता रहा और पासवाले गिरजे की घड़ी में घंटों का बजना सुनता रहा, कब आँखें लगीं, पता नहीं ।

जब आँख खुली तब सूरज काफी चढ़ चुका था । क्षण-भर के लिए कुछ समझ ही न पड़ता था कि मैं कहाँ और क्योंकर पहुँचा हूँ । उसके बाद वहाँ से उठा और पार्क के बाहर निकला और बालीगंज की ओर धीरे-धीरे कदम बढ़ाता हुआ निरुद्देश्य भाव से चलता चला गया । तड़के सबेरे चाय पीने की बुरी आदत इब्राहीम ने डाल दी थी । बाईं ओर चाय की एक दुकान देखकर जी ललचा उठा ।

जेब गरम देखकर मन कुछ गुदगुदाया और मैं सीधे चाय की दुकान के भीतर घुस गया । दुकान छोटी थी । गाहकों के बैठने के लिए कुरसियों की जगहों पर बेंच लगे हुए थे । बेंचों के ही बराबर लम्बे और उनसे कुछ ही चौड़े सफेद पत्थरवाली मेजों पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं । मैं एक खाली बेंच पर बैठ

गया । कुछ भूख भी लग रही थी । मन की हताश स्थिति में भूख असमय में भी लग जाती है, ऐसा अनुभव मुझे कई बार हुआ है । मैंने दो टोस्ट और एक कप चाय के लिए आर्डर दे दिया । जब दोनों चीजें आईं तब धीरे-धीरे अनमने भाव से टोस्ट कुतरने लगा । दोनों टोस्टों के समाप्त होने तक चाय ठंडी हो गई । उसे दो घूँटों में गटककर मैंने फिर एक प्याला गरम चाय के लिए आर्डर दिया ।

दुकान के मालिक गोल मुँह और घुँघराले बालवाले एक कृष्णवर्ण और मध्यवयस्क बंगाली सज्जन थे । चाय पीकर, नोट देकर जब बाकी पैसे मुझे वापस मिल गए तब मैंने उनसे पूछा कि क्या मैं भीतर जाकर हाथ-मुँह धो सकता हूँ । उन्होंने प्रसन्नता से आज्ञा दे दी । एक नल बाहर भी लगा था जिसमें एक लड़का कप और प्लेटें धो रहा था । मैंने उससे पूछा कि भीतर भी नल है या नहीं । उसने सिर हिलाकर बताया कि है । भीतर केवल नल ही नहीं था, प्रातःक्रिया सम्बन्धी और भी बातों की पूरी सुविधा थी, हालाँकि सारा वातावरण बहुत गन्दा था । मैं हर तरह से निवृत्त होकर, हाथ-मुँह धोकर बाहर निकला । बाहर आकर अनिश्चित पैरों पर भरोसा करके मैं चलता चला गया ।

तरह-तरह के अस्पष्ट विचारों में डूबा हुआ जब मैं बहुत दूर चला गया तब मुझे बोध हुआ कि मैं बालीगंज के आस-पास कहीं पहुँच गया हूँ । इच्छा हुई कि झील के किनारे आराम किया जाय । झील की खोज में चलता हुआ मैं एक अपेक्षाकृत एकान्त सड़क में पहुँच गया । सामने कुछ ही दूर पर बाईं ओर एक न बहुत बड़ा न बहुत छोटा सुन्दर-सा मकान दिखाई दिया, जिसकी बनावट बहुत ही कलात्मक और किसी प्राचीन बौद्ध-विहार की तरह लगती थी । मेरी अनमनी आँखें कुछ देर तक उसी मकान की ओर टँकी-सी रह गईं ।

इतने में मेरी बगल से एक पीले रंग की 'कार' गुजरी और ठीक उसी मकान के आगे बरसाती पर ठहर गई । सफेद रंग की सादी-सी साड़ी और सादे ही चप्पल पहने हुए एक प्रायः तीस वर्षीया महिला उस कार से उतरी । उसकी आँखें पतले-से शीशे के एक सुनहरे फ्रेमदार चश्मे से ढकी थीं । चश्मे के शीशों में एक हल्की-सी नीली-काली झाँई नजर आती थी । उस महिला के चेहरे का रंग साँवला होने पर भी उजला था; नाक छोटी और सिरे पर कुछ गोलाई लिये थी । वह गठन से ही दुबली-पतली मालूम होती थी । शारीरिक सुन्दरता का तो कोई प्रश्न ही उसके सम्बन्ध में नहीं उठता था, बल्कि कोई भी व्यक्ति प्रथम दृष्टि में उसे असुन्दर ही

बताता। पर उसकी चाल में बड़ी फुरती थी और सहज प्रसन्न आँखों में एक ऐसी स्निग्ध चमक थी जो एक बार किन्हीं अनुभवी आँखों की नजर के दायरे के अन्दर आ जाने पर फिर आसानी से भुलाई नहीं जा सकती थी। उसे देखते ही उसी क्षण बिना कुछ सोचे-विचारे मुझे लगा कि उसके मकान का दरवाजा मेरे सहज स्वागत की प्रतीक्षा कर रहा है। हताश मनुष्य के मन पर कभी-कभी किसी विचित्र पागलपन का भूत सवार हो जाता है, जिसका कोई भी कारण स्वाभाविक मनः-स्थिति में वह खोज नहीं पाता। ऐसी परिस्थिति में पिछले अनुभवों की कोई शिक्षा वह नहीं मानना चाहता।

मैं बिना लेशमात्र झिझक के सीधे उसी मकान की ओर मुड़ा। जो 'कार' उस महिला को उतार गई थी वह वापस चली गई। बरसाती से होकर, तीन सीढ़ियाँ ऊपर चढ़कर मैं दरवाजे के सामने खड़ा हो गया। दरवाजा भीतर से बन्द था। मैंने बाहर से खटखटाना शुरू कर दिया।

"कौन है?" भीतर से महिला-कण्ठ से आवाज आई।

"जरा खोलिए," सहज भाव से मैंने कहा।

दूसरे ही क्षण दरवाजा खुला और एक जवान स्त्री, जो नौकरानी-सी लगती थी, मेरे आगे खड़ी हो गई।

"बाबू हैं?" मैंने पूछा।

"कौन बाबू?"

"मकान-मालिक।"

"यहाँ कोई मकान-मालिक नहीं रहता।"

"किरायेदार ही सही। उन्हीं को बुला दो।"

"यहाँ कोई किरायेदार भी नहीं रहता," दुष्टतापूर्ण मुस्कान के साथ उसने कहा।

"पर कोई-न-कोई तो यहाँ जरूर रहता है।"

"जरूर रहता है।"

"कौन?"

"कोई रहता है, तुमसे मतलब? तुम किससे मिलना चाहते हो, पहले यह बताओ।"

"जो भी आदमी इस मकान में रहता हो मैं उसीसे मिलना चाहता हूँ।"

"मैं भी तो इसी मकान में रहती हूँ और मैं आदमी भी हूँ···" और वही दुष्टता-भरी मुस्कान उसके स्वस्थ और साँवले चेहरे पर और बड़ी-बड़ी आँखों में पहले से अधिक तीखी झलक के साथ चमकने लगी।

पर मैं भी सहज में हतप्रभ होनेवाला आदमी नहीं था। मैंने कहा, "तब ठीक है। तो सुनिए, मैं नौकरी के लिए आया हूँ। क्या आप मुझे यहाँ कोई नौकरी दिला सकती हैं ?"

मेरी बात सुनकर वह हँसते-हँसते दीवार के सहारे जैसे लोट-पोट हो गई। इतने में भीतर से एक दूसरे महिला-कण्ठ से आवाज आई, "क्या बात है, सुमन ?" और आवाज के साथ-साथ वही महिला आ पहुँची जिसे मैंने 'कार' से उतरते देखा था।

मुझे देखते ही वह क्षण-भर के लिए जैसे ठिठककर खड़ी रह गई। फिर बड़े ही सहज स्निग्ध और प्रसन्न भाव से अत्यन्त कोमल स्वर में बोली, "कहिए ?"

उसकी सुन्दर आँखें जैसे बिना कुछ बोले, बिना कुछ जाने, मेरा स्वागत कर रही थीं। 'पलक-पाँवड़े' बिछानेवाली जो बात अक्सर कवि लोग कहा करते हैं कुछ उसी किस्म की अनुभूति मुझे हुई।

"अरे बापरे !" दम फुलानेवाली हँसी के दौरान में ही पीछे से जवान लड़की बोल उठी, "मुझसे कहता है, 'आप मुझे यहाँ कोई नौकरी दिला सकती हैं' !"

"सुमन, पागल हो गई क्या ?" उसकी ओर मुड़कर मीठी डाँट बताते हुए महिला ने कहा, "जा भीतर, अपना काम कर।" उसके बाद फिर मेरी ओर मुख करके उसी स्निग्ध मुस्कान के साथ उसने धीरे से पूछा, "कहिए, आप किससे मिलना चाहते हैं ?"

अबकी मैं सचमुच कुछ हतप्रभ-सा हो गया था। तनिक संकोच के साथ मैंने कहा, "देखिए, मैं इसलिए आया था कि इस मकान में जो भी सज्जन रहते हों उनसे मिलकर प्रार्थना करूँ कि अपने यहाँ किसी भी काम पर मुझे नौकर रख लें।"

"किस तरह का काम आप करना चाहेंगे ?" उसी विनम्र किन्तु सहज अधिकार-भरे स्वर में महिला ने पूछा।

"जो भी काम मिल जाय—चौका-बरतन करना, झाड़ू लगाना, रसोई बनाना···"

"आप क्या सचमुच रसोई बनाना जानते हैं ?" इस बार उस महिला के मुख पर भी विनोद का भाव फूटता हुआ-सा दिखाई दिया। स्पष्ट ही वह मेरी बात को गम्भीर रूप में ग्रहण नहीं कर रही थी।

"जी हाँ," मैंने शान्त भाव से उत्तर दिया।

"इसके पहले भी आपने कहीं···पर हम लोग क्यों न भीतर बैठकर बातें करें। आइए···एक मिनट ठहरिए, मैं बगलवाले कमरे का दरवाजा भीतर से खोलती हूँ।"

कहकर वह भीतर चली गई। मैं एक अजीब-सी रहस्यपूर्ण स्थिति में अपने को पाता हुआ चुपचाप बाहर खड़ा रहा। दूसरे ही क्षण बगलवाले कमरे का दरवाजा खुला। "आइए, भीतर चले आइए," महिला ने भीतर से कहा।

भीतर प्रवेश करने पर मैंने देखा, कमरा बहुत बड़ा न होने पर भी ड्राइंग रूम की तरह सजा हुआ था। चारों ओर चार सोफे करीने से सजाकर रखे गए थे और उनके इर्द-गिर्द बेंत की गद्देदार कुरसियाँ तरतीब से रखी गई थीं। अगल-बगल में छोटे-छोटे पेग-टेबल रखे हुए थे। बीच में एक न बहुत बड़ी न बहुत छोटी मेज पर पीतल के एक कामदार गमले में कुछ रंग-बिरंगे ताजा फूल सजाकर रख दिए गए थे। दीवारों से सटे हुए 'टीक' की पालिशदार लकड़ी के रैक सजे हुए थे, जो ऊँचे कम थे और चौड़े अधिक। उनमें अँगरेजी, हिन्दी और बँगला की पुस्तकें जैसे ठूँस-ठूँसकर सजाई गई थीं। पर उस ठुँसाव में भी न जाने क्या विशेषता थी जो अपना कलात्मक प्रभाव मन पर छोड़ती थी। रैकों से कुछ ऊपर चारों ओर विविध कलाकारों के चित्र टँगे हुए थे। अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल, यामिनी राय, खास्तगीर, चुगताई, रविशंकर रावल, रोरिक, अमृता शेरगिल आदि के चित्र अपनी-अपनी विशिष्टता के कारण दूर ही से पहचाने जा सकते थे। रवीद्रनाथ द्वारा अंकित एक चित्र सामने ही मुझे दिखाई दिया। एक चित्र पर मेरी आँखें कुछ क्षण के लिए टिकी रह गई, जिसमें फसल कटने का दृश्य रंगों के सन्तुलित उभार द्वारा बड़ी ही कुशल व्यंजनात्मक शैली में आँका गया था।

"कैसा लगा आपको यह चित्र ?" एक रहस्य-भरी मुस्कान उसके मुख पर खेल रही थी।

"बहुत ही सुन्दर," असावधानी के क्षण में मेरे मुँह से निकल गया।

"विराजिए !" अपने सामनेवाली कुरसी की ओर हाथ बढ़ाते हुए उसने कहा। मैं तो उसके बोलने के ढंग से जैसे पानी-पानी हो गया। मेरे बैठने पर वह

स्वयं भी सामनेवाली कुरसी पर बैठ गई।

"अब बताइए, आप किस तरह का खाना बना लेते हैं?"

"मैं आपका प्रश्न ठीक से समझा नहीं, माफ कीजिएगा।"

"मेरा आशय यह है कि आपने निरामिष भोजन बनाने में विशेषज्ञता प्राप्त की है या सामिष में?"

"विशेषज्ञता की बात तो मैं नहीं जानता, पर खाना मैं दोनों ही तरह का बना लेता हूँ। क्या मैं यह पूछने की धृष्टता कर सकता हूँ कि आप लोग इन दो में से किस प्रकार का भोजन अधिक पसन्द करते हैं?"

"मैं विशुद्ध निरामिष भोजन करती हूँ।"

मैंने जान-बूझकर 'आप लोग' कहा था, पर उसने भी जान-बूझकर ही 'मैं' कहकर उत्तर दिया, 'हम लोग' नहीं कहा। इतना तो मेरे आगे अब स्पष्ट ही हो गया था कि 'मकान-मालिक' चाहे जो भी हो, पर 'मालकिन' वही है। फिर भी मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि नौकरी की खोज में आये हुए एक नये आदमी से नियुक्ति के सम्बन्ध में बातें करने के पूर्व वह घर के किसी पुरुष की राय लेना तनिक भी आवश्यक नहीं समझ रही थी। साथ ही यह बात भी मुझे कुछ कम रहस्यपूर्ण नहीं लग रही थी कि नौकरी के सम्बन्ध में मेरी माँग के सीमित दायरे से परिचित होने पर भी—अर्थात् यह जानने पर भी कि केवल रसोई बनाने से लेकर चौका-बरतन करने तक की योग्यता मुझमें है—वह भीतर-ही-भीतर मेरी बात पर विश्वास ही नहीं कर रही थी और मेरी एकान्त आवश्यकता की स्थिति को गम्भीरता से जैसे ग्रहण ही नहीं कर पाती थी। केवल इतना ही नहीं, प्रारम्भ ही से मेरे साथ वह बड़ी ही विनम्रता और शिष्टता का व्यवहार कायम रखे हुए थी और अब तो 'विराजिए!' तक कहने लगी थी। चौका-बरतन का काम करने के लिए इच्छुक किसी व्यक्ति की हैसियत से वह परिचित न हो, यह सम्भव नहीं था और उस हैसियत के आदमी से 'विराजिए!' कहने की प्रथा आज के युग के 'सभ्य समाज' में कहीं भी प्रचलित नहीं है, यह भी वह निश्चय ही जानती होगी। इन सब कारणों से उसका मेरे प्रति उस तरह का व्यवहार स्वभावतः मुझे बहुत ही विचित्र लग रहा था। उस तरह की साधारण नौकरी के लिए आये हुए व्यक्ति से दरवाजे पर ही खड़े-खड़े बातें की जा सकती हैं। उसे या तो वहीं से दुरदुराया जा सकता है या—उसकी नौकरी स्वीकार होने पर—उसे सीधे चौके में भेजा जा

सकता है। उसे ड्राइङ्ग रूम में ले जाकर बिठाने की क्या जरूरत थी ? और फिर ऐसे आदमी से यह पूछना कि 'चित्र आप को कैसा लगा ?' यह प्रश्न भी कुछ कम रहस्यमय नहीं था। रसोइए की हैसियत के आदमी से उच्च कोटि की कला की परख की आशा नहीं की जा सकती, पर उसने मुझसे आशा की थी। मेरे सम्बन्ध में उसकी इस विशिष्ट धारणा का क्या कारण हो सकता है ? मैंने सोचा, न मेरे कपड़ों में ही विशेषता थी न पहनावे के ढंग में। कलकत्ता में साधारण नौकर या रसोइयाँ भी धोती-कुरता पहनता ही है। मेरे कपड़े काफी मैले थे और उनमें जगह-जगह सिकुड़नें पड़ी हुई थीं। तब वह क्या कारण था जिससे वह महिला मेरी नौकरी-सम्बन्धी प्रार्थना को गम्भीर भाव से नहीं ले रही थी ?

मैंने कहा, "आप मुझे यदि पहले ही यह बात बता देने की कृपा करेंगी कि आप किस तरह की चीजें पसन्द करती हैं, किस तरह के मसाले किस अनुपात में आप को रुचते हैं, नमक-मिर्च आप कम खाती हैं या ज्यादा, तो मैं आशा करता हूँ कि मेरे काम से आप को विशेष निराशा न होगी।"

"अच्छी बात है। तब चलिए हम लोग भीतर ही चलें। आज आप हम लोगों का तैयार किया हुआ भोजन चख लें। उससे आपको मेरी रुचि का पता लग जायगा। कल से आप स्वयं बनाकर खिलाइएगा। कुछ चीजें बन चुकी हैं और कुछ आप के सामने ही तैयार हो जायँगी। चलिए।"

मैं उठा और उसका अनुसरण करता हुआ भीतर गया। जब हम लोग रसोई के कमरे में पहुँचे तब मैंने देखा कि वहाँ वही नौकरानी, जो मेरी बातें सुनकर हँसी थी, बिजली की एक अँगीठी में कोई चीज तैयार कर रही थी। मुझे देखकर वह फिर मुस्कराने लगी, पर महिला ने आँखें तरेरकर उसका उत्साह ठण्डा कर दिया। एक नौकर अलुमिनियम की एक बड़ी-सी थाली में आटा गूँथ रहा था। एक कोने में रेफ्रिजरेटर रखा हुआ था। दूसरे कोने में बिजली की एक दूसरी अँगीठी दिखाई दी। कमरा साफ-सुथरा लगता था और सभी चीजें करीने से सजाकर रखी गई थीं। महिला ने नौकर से एक छोटी-सी कड़ाही माँगी। फिर दूसरी अँगीठी का स्विच दबाकर उस पर कढ़ाई चढ़ा दी। नौकर से उसने कहा कि दही-बड़े का सब सामान एक छोटे से बेंच के ऊपर सजाकर रख दे। वह एक बड़ी-सी कूँड़ी में फेंटा हुआ पतला दही; एक कूँड़ी में जीरा मिला हुआ पानी, एक थाली में पीठी, एक कटोरी में पिसा मसाला, एक में नमक, एक में पिसी हुई लाल मिर्च और एक

बन्द डिब्बे में घी लाकर रख गया। एक बड़े सफेद करछुल से घी निकालकर महिला ने कढ़ाई में छोड़ा और फिर पकौड़ी के आकार के छोटे-छोटे बड़े हाथ से पाथ-पाथकर कढ़ाई में छोड़ती चली गई। पक जाने पर छलनीनुमा करछी से उन्हें उतारकर जीरेवाले पानी में डालती गई। इस तरह दो-तीन घान बड़े उतारकर उसने अँगीठी का 'स्विच आफ' कर दिया। फिर जीरे के जल में डूबे हुए बड़ों को फेंटे हुए पतले दही में डालकर करछुल से तनिक नीचे को दबाकर उसने ऊपर से अपनी पतली-पतली उँगलियों से मसाला, नमक और मिर्च छोड़ दिया। यह सब काम दस मिनट के अन्दर हो गया। उसके बाद उसने फिर अँगीठी का बटन दबाया। पास ही एक अलमारी रखी थी जो चारों ओर तार की जाली से ढकी थी। उसे खोलकर वहाँ से कुछ पापड़ निकाले, जो साबूदाने के-से लगते थे। कढ़ाई में अब भी कुछ घी पड़ा था। उसके ऊपर कुछ और घी छोड़कर वह उसी में पापड़ों को तलने लगी।

जब पापड़ भी तले जा चुके तब उसने नौकर से कहा, "मानसिंह, जल्दी करो।" फिर नौकरानी से बोली, "सुमन, जल्दी से फुलके उतार लो और दो थालियों में खाना लगाकर भेज दो।"

मैं खड़ा-खड़ा बेवकूफों की तरह सारा दृश्य देख रहा था।

"अरे, आप अभी तक खड़े हैं! कुरसी रखी हुई है, बैठ क्यों नहीं जाते?" वह अभी तक अपने काम में इस कदर व्यस्त और तन्मय थी कि मैं खड़ा हूँ या बैठा इस ओर उसका ध्यान ही नहीं गया था।

मैंने कहा, बैठकर मैं देख न पाता कि किस तरकीब से आप ये चीजें तैयार कर रही हैं।"

"अच्छा तो चलिए, अब हम लोग भोजन के कमरे में जाकर बैठें।"

"चलिए।"

रसोई की बगल में ही भोजन का कमरा था। एक लम्बे से टेबल पर ताजा धुला सफेद कपड़ा बिछा था। दोनों ओर कुरसियाँ लगी थीं। टेबल के बीच में ड्राइंग रूम की तरह ही चित्रकारी से युक्त पीतल के एक गमले में ताजा फूलों का एक गुलदस्ता सजा हुआ था। चार किनारों में ताजा धुले और तहाये हुए चार झाड़न रखे थे। एक ओर चौघड़ानुमा एक फ्रेम के भीतर चार छोटी-छोटी शीशियाँ नमक, मिर्च और मसाले से भरी रखी थीं, दूसरी ओर टमाटर के 'सास'

की एक लाल बोतल थी।

"विराजिए !" अपने सामनेवाली कुरसी की ओर हाथ बढ़ाते हुए उसने उसी पूर्व-परिचित मुस्कान के साथ कहा, जिसमें स्निग्धता के साथ व्यंग्य का पुट किस हद तक मिश्रित था, मैं ठीक से बता नहीं सकता।

मैं ससंकोच मुस्कराता हुआ बैठ गया। वह भी टेबल की दूसरी ओर, ठीक मेरे सामने बैठ गई।

"देखिए, आपसे मेरी एक प्रार्थना है," मैंने विनम्र मुस्कान के साथ कहा।

"कहिए !" उसके स्वर में उत्सुकता भरी थी।

"यह कि आप मुझे इस तरह लज्जित न करें तो बड़ी कृपा हो।"

"किस तरह ?" कुछ आश्चर्य का-सा भाव उसकी आँखों में झलक रहा था, फिर चाहे वह आश्चर्य कृत्रिम ही क्यों न रहा हो।

"आपने मुझे कल से रसोई का काम करने की अनुमति दे दी है, इसके लिए मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। पर बार-बार मुझसे 'विराजिए' कहकर, मेरे साथ आवश्यकता से बहुत अधिक शिष्टता से पेश आकर आप मुझे बहुत लज्जित कर रही हैं। जब मैं आपका एक नौकर हूँ तब मेरे साथ आपका वही व्यवहार होना चाहिए जैसा दूसरे नौकरों के साथ आप करती हैं।"

"ओह, यह बात है !" कुछ गम्भीर मुद्रा बनाते हुए उसने कहा। "ठीक है, पर क्या आपमें और दूसरे नौकरों में सचमुच कोई अन्तर नहीं है ?"

उसका चश्मा बाहर से आनेवाले प्रकाश से चमक रहा था, इसलिए उसकी आँखों की ठीक-ठीक भाव-व्यंजना उस समय मेरे आगे स्पष्ट नहीं हो पाई।

मैंने सहज भाव से उत्तर देते हुए कहा, "जी नहीं, मुझमें और दूसरे नौकरों में कोई अन्तर नहीं है।"

"पर माफ कीजिएगा, मेरे यहाँ का कोई नौकर आपकी तरह शुद्ध सांस्कृतिक और पण्डिताऊ भाषा नहीं बोलता और न किसी कलात्मक चित्र को ध्यान-मग्न दृष्टि से देखकर उसकी सुन्दरता की ही दाद देता है।"

मैं अपनी मूर्खता के जाल में स्वयं ही उलझ गया था। मैं अपने जान प्रारम्भ ही से इस प्रयत्न में था कि एक साधारण नौकर के स्तर के अतिरिक्त मेरे व्यक्तित्व का कोई भी दूसरा स्तर प्रकाश में न आने पावे। पर उस असाधारण बुद्धिमती नारी की पैनी दृष्टि के आगे मेरा सारा आवरण पहली ही मुलाकात से जैसे अपने-

आप उघड़ने लगा था।

अपनी झेंप को बरबस दबाने का प्रयत्न करते हुए मैंने कहा, "यदि आपको आज के समाज की भीतरी स्थिति का ठीक-ठीक पता होता तो आपको इस बात से तनिक भी आश्चर्य न होता कि चौका-बरतन या रसोई के काम के लिए भी आज पढ़े-लिखे व्यक्तियों में होड़ शुरू हो गई है। इसके अलावा यह न भूलें कि धीरे-धीरे वह दिन निकट आता चला जा रहा है जब हर नौकर सांस्कृतिक भाषा बोलने लगेगा।"

"पर मैंने यह कब अस्वीकार किया है कि आज स्थिति ऐसी नहीं है ? मुझे इस बात से तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ कि आपके समान सुसंस्कृत व्यक्ति को भी साधारण घरेलू नौकरी ढूँढ़नी पड़ रही है। रही व्यवहार में अन्तर की बात। सो आपके साथ दूसरे नौकरों की अपेक्षा थोड़ा-बहुत अन्तर हर हालत में रहेगा, फिर आप चाहे कितना ही निषेध क्यों न करें। चलिए, बातें बहुत हो चुकीं, अब भोजन पर जुटा जाय।" नौकर दो थालियों में खाना लगाकर ले आया था।

एक बड़ी थाली नौकर ने मेरे आगे बढ़ा दी और एक छोटी-सी थाली महिला की ओर। मेरी थाली में कई व्यंजन भरे पड़े थे, पर महिला की थाली आधी से अधिक खाली थी। उसकी थाली में केवल दो छोटे-छोटे रूखे फुलके, एक छोटी-सी पथरी में दही, एक सूखी तरकारी लौकी की और एक छोटी-सी कटोरी में दाल थी। मेरे लिए उतनी सब चीजों के अलावा कटहल की विशेष मसालेदार तरकारी, बैंगन की कलौंजी, दहीबड़े, रसगुल्ले, सन्देश, समोसे, मीठा भात, दो-तीन किस्म के अचार-मुरब्बा आदि बहुत-सी चीजें बड़े ढंग से अलग-अलग कटोरियों में सजाकर रख दी गई थीं।

मैंने आश्चर्य से पूछा, "थालियों में यह अन्तर कैसा ? मालूम होता है गलती से थालियाँ बदल गई हैं।"

वह बड़ी ही शालीनता से मुस्कराई और धीरे से बोली, "जहाँ तक थालियों का प्रश्न है, उसमें तनिक भी गलती नहीं हुई है; गलती केवल यह हुई है कि मेरी थाली में एक चीज ज्यादा आ गई है। दाल मैं नहीं खाती। केवल लौकी की तरकारी और दही, ये दो चीजें मेरे लिए बहुत हैं।"

"यह क्यों ?"

"मुझे प्रायः 'लिवर' की शिकायत रहती है, इसलिए पिछले दो बरसों में मैं

रूखी रोटी और दही इन्हीं दो चीजों पर रहती हूँ। कभी-कभी लौकी या परवर की तरकारी ले लेती हूँ—बस।"

"पर जो इतने सब व्यंजन पहले ही से तैयार करके रखे गए हैं वे निश्चय ही मेरे लिए नहीं तैयार किये गए होंगे, क्योंकि मेरे अचानक यहाँ आ पहुँचने की प्रत्याशा आपने नहीं की होगी। तब···"

"इतनी चीजें यहाँ रोज ही तैयार की जाती हैं, इस आशा में कि शायद कोई मेहमान अचानक आप ही की तरह आ पहुँचे।"

"मैं देखता हूँ कि मेरी कोई आवश्यकता आपके यहाँ नहीं है।"

"क्यों ?"

"इसलिए कि जब आप कुछ खाती ही नहीं, तब आपको रसोइया रखने की जरूरत ही क्या है ?"

"मैं नहीं खाती तो क्या हुआ !" रोटी का एक छोटा-सा टुकड़ा तोड़ती हुई वह बोली। "मेरे यहाँ अक्सर मेहमान तो आते ही रहते हैं।"

"पर आज तो आप अकेली हैं," उसकी देखा-देखी एक कौर मुँह में डालते हुए मैंने कहा।

"अकेली कहाँ हूँ, आप जो हैं !"

"मैं कोई अतिथि थोड़े ही हूँ, मैं तो···"

"जो कोई भी व्यक्ति, बिना किसी निश्चित तिथि का विचार किये अचानक आ जाय वही तो अतिथि है।"

"अच्छा, मैंने हार मान ली आपसे। मैं अपने को अतिथि ही माने लेता हूँ। पर मैं जानना यह चाहता था कि इस मकान में आपके और नौकरों के अलावा क्या सचमुच और कोई व्यक्ति नहीं रहता ?"

"जी नहीं।"

"तो यह कहिए कि आप ही यहाँ की सर्वेसर्वा हैं ?"

"यह कौन नई गाली है ?" उसके होठों में दुष्टता झलक रही थी।

"नई नहीं, यह काफी पुरानी है। बल्कि अब 'ऑब्सोलीट' होने जा रही है। बहरहाल मैं यह पूछना चाहता था कि क्या यह सारा मकान, यहाँ की सारी व्यवस्था अकेले आप के ही अधिकार में है ?"

"जी बात तो कुछ ऐसी ही है। क्यों ?"

"नहीं, मैं यों ही कुतूहलवश पूछ रहा था।"

मुझे भूख लगी थी, इसलिए मैंने डटकर खाना खाया। पर उसने दो से तीसरा फुलका नहीं लिया।

"मुझे आश्चर्य है कि आप जी कैसे रही हैं? आप के प्राण कहाँ टिके हुए हैं? आप तो पुराने जमाने की तापसियों की तरह केवल हवा और पानी पर जीती हैं। उन्हीं की तरह आपका शरीर भी बहुत कृश है।"

"तो मुझे नये जमाने की तापसी क्यों नहीं मान लेते आप!" कहती हुई वह बहुत ही क्षीण तथापि बहुत ही मीठे स्वर में खिलखिला उठी।

"वह तो स्पष्ट है।"

मैं जब डटकर खा चुका और पानी पीकर हाथ धोने की बात सोच ही रहा था कि पापड़ और छेने की खीर ये दो चीजें दो प्लेटों में मेरे आगे रख दी गईं।

"अब तो पेट भर गया है, अब तनिक गुंजाइश नहीं है," मैंने कहा।

"वाह, यह कैसे हो सकता है! आप को तो हर चीज चखनी होगी। तभी तो आप यह जान सकेंगे कि इस घर में कौन चीज किस ढंग से बनाई और पसन्द की जाती है। कल ही से मैं आपको नियुक्त कर रही हूँ, इसलिए आज ही अधिक-से-अधिक चीजों के बारे में हम लोगों की रुचि ठीक-से जान लेना आपके लिए आवश्यक है।"

"आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, पर मेरा विनम्र अनुरोध है कि इनमें से एक चीज आप भी अवश्य चख लीजिए। छेने की खीर तो आप के 'लिवर' के लिए हानिकारक सिद्ध न होगी।"

"अच्छी बात है, आप का साथ देने के लिए थोड़ी-सी खीर मैं भी चख लूँगी।"

एक प्लेट खीर और मँगाई गई और हम दोनों साथ-साथ खाने लगे। जब खा चुके तब हाथ धोकर बाहर ड्राइंग रूम में चले गए। सुमन एक तश्तरी में पान और मशाले ले आई। मैंने पान नहीं खाया, पर थोड़-सी सौंफ और बड़ी तरकीब से भुना हुआ नमकीन धनिया मुँह में डालकर धीरे से चबाने लगा। उसने भी थोड़ा-सा धनिया मुँह में डाल लिया। उसके बाद कुछ देर तक हम दोनों गम्भीर भाव से एक-दूसरे का मुँह ताकते रहे। दोनों जैसे अनजाने में एक-दूसरे के मन की रहस्यमयता का परदा हटाकर भीतर की असलियत मालूम करने लगे।

पर एकान्त क्षण की वह मौन गम्भीरता मुझे अशोभन लगने लगी और एक विचित्र-से संकोच में डालने लगी। इसलिए उस वातावरण का भारीपन दूर करने के लिए मैंने कहा, "आया था नौकरी के लिए और आदर पाया विशेष अतिथि की तरह। यह मेरे जीवन का बिलकुल नया ही अनुभव है।"

"अब वह समय बहुत निकट आ रहा है जब सब नौकर इसी तरह आदर पाते रहेंगे," मेरी कही हुई बात को अपने ढंग से दुहराते हुए उसने कहा।

मुझे हँसी आ गई। पर दूसरे क्षण मैं फिर गम्भीर हो गया। बोला, "सच-मुच मेरे लिए यह एक विचित्र अनुभव है।"

"पर आप यह क्यों नहीं मानते कि मेरे लिए भी आपके समान नौकर पाना एक नया अनुभव है?"

मैं बड़े ध्यान से उसकी ओर देखता हुआ इस बात पर गौर कर रहा था कि उसके मुख की स्निग्ध मुस्कान में एक क्षण के लिए भी अन्तर नहीं आ रहा था—चाहे वह तीखा व्यंग्य कसती हो चाहे मीठी चुटकी लेती हो।

सहसा वह उठी। "मैं अभी आती हूँ," कहकर भीतर चली गई। मैं अकेला बैठा हुआ कभी दीवार पर टँगे हुए चित्रों की ओर देखने लगा, कभी शीशे की अलमारीनुमा रैकों के भीतर सजाई गई पुस्तकों की ओर। पर मन मेरा अनमना हो चला था। निरन्तर कई दिन के कठोर परिश्रम के बाद पूर्ण अवकाश पाने पर जो एक अलस सुखानुभूति, एक मीठी-मीठी, गुलाबी उदासी कभी-कभी मन में छाने लगती है, ठीक वैसा ही अनुभव मुझे हो रहा था। लगता था जैसे मेरे भीतर बरसों से बन्द पड़ी खिड़की जिसके कब्जों में जंग लग गई थी और जो किसी भी हालत में खुलती ही नहीं थी—जिसके फिर-से खुलने की कोई सम्भावना ही नहीं रह गई थी—आज अचानक किसी के जादू-भरे हाथों की लम्बी-लम्बी और पतली-पतली उँगलियों के स्पर्श से सहसा अप्रत्याशित रूप से खुल गई थी। उस खुली खिड़की से होकर मुक्त आकाश का जो पागल प्रकाश भीतर प्रवेश कर गया था उसने युगों से घिरे हुए घनीभूत अँधेरे को पल में जैसे किसी माया-मन्त्र से दूर कर दिया था। एक निराली रंगीनी, एक स्नेहाकुल पुलक से मेरा मन और प्राण जैसे लबालब भर गए थे। बाहर-भीतर सब-कुछ मुझे नया, सुखद और मोहक लग रहा था।

जहाँ पर मैं बैठा था उसके दाईं ओर दो दीवारों के बीच में एक सितार रखा

हुआ था। बिना कुछ सोचे-विचारे मैंने उसे उठा लिया। उसी की एक खूँटी पर मिजराब लटक रही थी। उसे निकालकर, उँगली में पहनकर मैं सातों तारों के स्वरों की परख करने लगा। जो जो तार कुछ ढीले मालूम हुए उन्हें मैंने आवश्यकतानुसार कसा। जब सातों स्वर उपयुक्त अनुपात में बजने लगे तब मैंने एक राग दिरदिराना शुरू कर दिया। बहुत दिनों के छूटे हुए अभ्यास के कारण पहले गति कुछ धीमी रही, उसके बाद ज्यों-ज्यों मन के और सितार के तार मिलते चले गए त्यों त्यों मेरी तन्मयता के साथ ही राग भी जमता चला गया और गति भी बढ़ती चली गई। धीरे-धीरे मन और हाथ की उँगलियाँ ऐसी जमीं कि मेरी सम्पूर्ण चेतना ही जैसे उस स्वर-लहरी में विलीन हो गई। मुझे न अपनी स्थिति की कोई सुध रही न अपने चारों ओर के वातावरण की।

कितनी देर तक बजाता रहा, कह नहीं सकता। एक घण्टा भी हो सकता है, आध घण्टा भी और पन्द्रह मिनट भी। जब चेतना बाहर को लौटी तब मैंने देखा, सामने भीतर के दरवाजे के पास ही एक कुरसी के सहारे वह मोहमुग्ध दृष्टि से, एकान्त तन्मयता से मेरी ओर देख रही थी। उसे देखते ही मैं अत्यन्त लज्जित और संकुचित-सा हो गया, जैसे मैंने कोई बहुत बड़ा अपराध किया हो। हड़बड़ाकर सितार को अपनी जगह पर रखता हुआ बोला, "क्षमा कीजिएगा, सितार को यहाँ पड़ा देखकर रह न सका···।"

"बहुत सुन्दर बजाते हैं आप," पुलकित अन्तर के सहज उच्छ्वास को बाहर निकालती हुई-सी वह बहुत ही धीमे स्वर में बोली। जब वह बोल रही थी तब उसकी मुग्ध दृष्टि की उल्लासजनित चमक की प्रतिच्छाया जैसे मेरे मुँह पर, मेरे अन्तर पर पड़ रही थी।

"न—हीं, मैं बजाना कहाँ जानता हूँ! यों ही अकेले में उकताकर तारों को झनझना रहा था। आप भी खूब बनाना जानती हैं!" उसके भावोच्छ्वास को हँसी में टालने के उद्देश्य से मैंने कहा।

"बनाना कौन जानता है—आप या मैं—इस बात का फैसला धीरे-धीरे अपने-आप हुआ चला जा रहा है।"

"पर आप खड़ी क्यों हैं, विराजिए न!"

वह धीरे से बैठ गई, पर मेरी ओर से उसकी विस्मित आँखें जैसे एक पल के लिए भी हटना नहीं चाहती थीं। साथ ही लगता था कि वह कुछ अनमनी-सी हो

उठी है और किसी चिन्ता में डूब गई है।

"क्या सोच रही हैं आप ?" उसका मौन भंग करने के उद्देश्य से मैंने कहा।

"सोच रही हूँ कि आप इतने बड़े गुणी होते हुए भी चौका-बरतन करने या रसोई बनाने का काम खोजने आए थे! इसमें क्या रहस्य छिपा हो सकता है?"

"रहस्य आप कहती हैं ?" कहते हुए मैं सहसा अत्यन्त गम्भीर हो गया। "आश्चर्य है कि आप मेरे भोजन, वस्त्र और डेरे से सम्बन्धित स्वाभाविक आवश्यकता को अस्वाभाविक समझती हैं और मेरी परिस्थितियों की विवशता को रहस्यमय मानती हैं! मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं कोई तमाशा या नाटक रचने के खयाल से आपके पास नौकरी की खोज में नहीं आया था। मैंने जो चौका-बरतन या रसोई का काम चाहा था उसमें भी मेरे मन में तनिक भी बनने की भावना नहीं थी। मेरी वर्तमान स्थिति में मुझे जीने के लिए कोई-न-कोई काम अवश्य चाहिए। मैं अनुभव से जानता था कि और कोई दूसरा काम मुझे सहज में मिल नहीं सकता, इसलिए मैंने उन दो या उन दोनों के बीच के कामों में से किसी एक की प्रार्थना आपसे की थी। चूँकि अब आपके आगे मेरी असलियत बहुत-कुछ अपने-आप उघड़ गई है, इसलिए अब यह स्पष्ट स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है कि मैं कोई विशेष गुणी न होने पर भी पढ़ना-लिखना जानता हूँ और पढ़ने-लिखने से सम्बन्धित कोई भी काम कर सकता हूँ। पर पहले तो इस तरह के कामों का ही आज बहुत बड़ा अभाव है और जहाँ-कहीं ऐसे कामों की गुंजाइश है भी वहाँ आज के भ्रष्टाचारी युग में अयोग्य व्यक्ति तिकड़मबाजी से अपने को पूर्णतः योग्य सिद्ध करके घुस जाते हैं। योग्य व्यक्ति उस ठेलमठेल में पीछे को ढकेल दिए जाते हैं और दुनियावालों की नजर में चोर, गुण्डे, बेईमान और बदमाश सिद्ध होकर दर-दर ठोकरें खाते फिरते हैं, गली-दर-गली भटकते रह जाते हैं और एक जेल से दूसरे जेल में आश्रय खोजते रहने के सिवा उनके लिए कोई दूसरा चारा नहीं रह जाता। उन्हीं युग-प्रताड़ित आवारों में से मैं भी एक हूँ। बस केवल इतनी ही मेरी रहस्यमयता है।"

वह एकान्त ध्यान से मेरी बातें सुन रही थी और उसके मुख का विस्मय-विमुग्ध भाव एक मौन और गम्भीर पीड़ा में बदल गया था।

"मुझे क्षमा कीजिएगा, मैंने अनजाने आप के मन के एक गहरे घाव को छूकर आप को चोट पहुँचाई।" उसके स्वर से पीड़ा साफ टपक रही थी।

"नहीं, आपका तनिक भी दोष नहीं है। पर मुझे एक बार आपके आगे अपनी स्थिति स्पष्ट करनी ही थी, इसलिए यह अच्छा ही हुआ कि आवेश में मैं इतनी बातें कह गया।"

"यह आप का घर है," उसने शान्त और गम्भीर भाव से कहा। "आप बिना किसी भी संकोच के बराबर यहाँ रहें। मेरी ओर से आपकी सेवा में भरसक कभी कोई त्रुटि नहीं रहेगी, इसका विश्वास मैं आपको दिलाती हूँ। इससे अधिक मैं और क्या कर सकती हूँ!"

अन्तिम वाक्य उसने इस ढंग से कहा जैसे वह स्वयं भी बहुत ही विवश और दयनीय परिस्थितियों में रहती हो।

अपना कुतूहल न रोक सकने के कारण मैं पूछ ही बैठा, "यह मकान आपका अपना है या आप किराए पर रहती हैं?

वह मन्द-मन्द मुस्कराई। फिर धीरे से बोली, "मकान अपना ही है और उसकी पूरी अधिकारिणी अकेली मैं ही हूँ। इसलिए आप किसी भी बात की चिन्ता या आशंका या संकोच तनिक भी न करें। आप आज बहुत ही अच्छे दिन आए हैं, इसलिए आपका आना मैं हर तरह से शुभ मानती हूँ।"

" 'अच्छा दिन' किस रूप में?"

"संयोग से आज मेरा जन्मदिन है।"

"ओह, तब तो बड़ी खुशी की बात है, मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए," मैंने आन्तरिक प्रसन्नता से कहा। "आज आपका कौन-सा वर्ष पूरा हुआ?"

"अट्ठाईसवाँ।"

"पर, माफ कीजिएगा, एक प्रश्न और करने की धृष्टता करना चाहता हूँ। कुतूहल नहीं रोक पा रहा हूँ।"

"क्या?"

"आप अकेली कैसे हैं? आपके प···आपके आत्मीय स्वजन यहाँ कोई भी नहीं दिखाई देते?"

"मैं अकेली ही हूँ। वैसे आत्मीयजन हैं बहुत से, पर सब अपने-अपने स्थानों में व्यवस्थित हैं।"

"पर··पर··"मुझे साहस नहीं होता था। जो बात मैं पूछना चाहता उसे किन शब्दों में घुमा-फिराकर पूछा जाय, मेरी समझ में नहीं आता था।

"कहिए, क्या पूछना चाहते हैं, निःसंकोच पूछिए," मेरा साहस बढ़ाते हुए उसने कहा।

"मैं पूछना यह चाहता था कि आप अपने जीवन के अट्ठाईस वर्ष पूरे कर चुकी हैं, पर अभी तक अकेली ही हैं, यह कैसे ?"

"मैं अविवाहित हूँ," उसी मन्द मुस्कान के साथ वह बोली।

"एकदम ?" निपट मूर्खतावश मेरे मुख से वह अर्थहीन शब्द निकल पड़ा।

वह खिलखिला उठी। सचमुच बहुत ही मीठा और मन को गुदगुदानेवाला था उसका खिलखिलाना। "अविवाहित होने में 'एकदम' या 'दो दम' की क्या बात है ?" उसी तरह खिलखिलाते हुए उसने कहा।

मैं अपने मूर्खतापूर्ण प्रश्न से अत्यन्त लज्जित होता हुआ भी मुस्करा पड़ा।

"पर आश्चर्य ही है यह," कुछ सँभलकर मैं बोला।

"क्या ?"

"यही कि अभी तक आप अविवाहित हैं।"

"कुछ विशेष आश्चर्य की बात भी नहीं है। आज इसी कलकत्ता में ऐसी बहुत-सी नारियाँ आपको मिल सकती हैं जो मेरी अवस्था पार कर चुकने पर भी अविवाहित हैं !"

"मैं मानता हूँ। पर अधिकतर यही देखा जाता है कि परिस्थितियों की विवशता—आर्थिक असुविधा—के कारण युवतियाँ अविवाहित रह जाती हैं। पहले यह देखा जाता था कि एक विशेष अवस्था पार होने पर और दहेज जुटाने में पिता की असमर्थता देखकर लड़कियाँ बदन में मिट्टी का तेल डालकर आत्म-हत्या कर लेती थीं। आज भी इस तरह की छिटपुट घटनाओं के समाचार सुनने में आते हैं, पर अधिक नहीं। अब लड़कियाँ पहले से अधिक समझदार हो चली हैं और पारिवारिक और आर्थिक परिस्थितियाँ विवाह के अनुकूल न होने पर आत्म-हत्या नहीं करतीं, बल्कि निर्भीक होकर सुस्पष्ट घोषणा कर देती हैं कि वे विवाह ही नहीं करेंगी। पर आर्थिक परिस्थिति अच्छी होने और हर तरह की सुविधाएँ रहते हुए भी कोई युवती अट्ठाईस वर्ष तक अविवाहित रह जाय, यह दृष्टान्त निराला है।"

"इस दृष्टान्त से आपको यह समझ लेना चाहिए कि कुछ स्त्रियाँ आज ऐसी भी हैं जो उन समझदार युवतियों से भी अधिक समझदार हो चली हैं। वे आर्थिक

विवशता के कारण नहीं बल्कि आर्थिक सुविधा के कारण ही विवाह करना पसन्द नहीं करतीं।"

"उनकी समझदारी से मेरा कोई विरोध नहीं है, फिर भी आपकी बात मेरी मोटी बुद्धि में ठीक से जमी नहीं।"

"तो सुनिए, फिर से समझाती हूँ। मान लीजिए मेरी स्थिति आर्थिक दृष्टि से बहुत गिरी होती। उस हालत में क्या कोई युवक मुझ जैसी घोर असुन्दर लड़की से विवाह करने के लिए तैयार होता?"

"इस देश की जैसी गिरी हालत है, उसे देखते हुए लगता तो यही है कि बहुत कम युवक एक निर्धन लड़की से विवाह करने को राजी होते। आपके गुणों का पारखी कोई विरला ही मिल पाता···।"

"मुझमें कुछ ऐसे विशेष गुण भी नहीं हैं, इसलिए एक भी न मिलता, यह मैं जानती हूँ। पर आज मेरी सम्पन्न और स्वतन्त्र स्थिति देखकर कई युवक मुझसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अपनी उत्सुकता जता चुके हैं और बहुत से आज भी तैयार हैं। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि मुझ जैसी असुन्दर और गुण-हीन नारी से जो विवाह करने को राजी होगा वह मुझसे नहीं बल्कि मेरी सम्पत्ति से विवाह करना चाहेगा। इसलिए मैं अभी तक अनब्याही और अकेली हूँ।"

उसका तर्क वास्तव में मुझे बहुत ही गहरी विवेचना से पूर्ण लगा और उसके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ गई। मैं विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखता रह गया।

"कहिए, कुछ जँची कि नहीं आपको मेरी बात?" उस ढीठ नारी ने प्रश्न किया।

"ऐसी जँची कि कुछ पूछिए मत।"

"तब ठीक है। आपके कुतूहल का निवारण हो गया, अब आप आराम कीजिए। कमरे में चलकर आराम करना चाहें तो इसका भी प्रबन्ध नौकर कर देगा और अगर यहीं बैठकर कुछ पढ़ना चाहें तो पुस्तकें रखी हैं। मैं भीतर जाकर शाम की चाय के लिए तैयारी करती हूँ। जन्मदिन की खुशी में मैंने कुछ लोगों को चाय के लिए बुला रखा है।"

"अगर ऐसी बात है तो आप मुझसे आराम करने को क्यों कहती हैं?" मैंने बहुत गम्भीर होकर कहा। "मैं आपके यहाँ आराम के लिए तो आया नहीं, नौकरी करने आया हूँ, यह बात आप बार-बार क्यों भूल जाती हैं? चलिए, मैं

भी आपका हाथ बटाऊँगा। बल्कि मैं ही अकेला सब-कुछ कर लूँगा, आप मुझे बता भर दीजिए कि क्या-क्या चीजें तैयार करनी होंगी। आपने तो मेरे काम की परीक्षा लिये बिना ही यह मान लिया है कि मैं एकदम निकम्मा आदमी हूँ।"

"अगर आपकी यही इच्छा है तो चलिए।"

मैं उसके साथ भीतर गया। जो-जो चीजें तैयार करनी थीं उनकी विस्तृत सूची मैंने माँगी। उसके बाद उन सब चीजों के लिए आवश्यक सामग्री माँगी और फिर महिला से कहा कि जहाँ मैं गलती करूँ वहाँ मुझे बताती जायँ। पर उसके बताने की कोई विशेष आवश्यकता न पड़ी और मैं कुछ तो उसके बताए नुसखे के अनुसार और कुछ अपनी जानकारी और कल्पना के अनुसार एक-एक करके चीजें तैयार करता चला गया। देखकर और किसी-किसी चीज को होमियोपैथिक गोली के परिमाण में चखकर उसे जितनी प्रसन्नता हुई उतना ही आश्चर्य भी। बोली, "आप तो सचमुच इस काम में बहुत निपुण हैं! मैं तो समझती थी कि आपने पाककला विवशता से सीखी होगी और आप अभी इसमें 'एमेच्यर' होंगे। पर आप तो पेशेवर रसोइयों से भी बाजी मार ले गए। मैंने सोचा कि आपको सिखाना और समझाना पड़ेगा, पर अब तो मैं आपसे सीखूँगी!"

करीम चाचा के यहाँ सीखने में जो कसर रह गई थी वह मिस्टर भादुड़ी और मिस साइमन के यहाँ पूरी हो चुकी थी, इसलिए मेरी पाककला उसे जो पसन्द आई उससे मुझे तनिक भी आश्चर्य न हुआ। चार बजे के पहले ही मैंने सब चीजें तैयार कर लीं। मैंने पौने चार बजे के करीब चाय के लिए पानी चढ़ा दिया।

ठीक चार बजे निमन्त्रित व्यक्ति एक-एक, दो-दो करके पहुँच गए। उनमें तीन-चार व्यक्ति अधेड़ अवस्था के थे। शेष सब या तो युवक थे या युवतियाँ। अतिथियों से मिलकर, उनकी बधाइयाँ और उपहारों के लिए उन्हें धन्यवाद देकर महिला फिर भीतर रसोई के कमरे में चली आई—सामान सजाने में मेरी सहायता करने के लिए। उसके आने के दो-ही-तीन मिनट बाद एक बहुत ही स्वस्थ और सतेज युवती तेज कदम रखती हुई और बाहर से ही "लीला बहन! लीला बहन!" पुकारती हुई आई। उसका पुकारना सुनकर मुझे पहली बार पता चला कि मेरी मालकिन का नाम लीला है। भीतर मुझे देखकर वह क्षण-भर के लिए ठिठककर खड़ी रह गई और विस्मय-भरी आँखों से मेरी ओर देखती रह गई।

"ओह कान्ति, तुम आ गई हो! मुझे आशा नहीं थी कि तुम आ पाओगी।

आओ ! आओ !" कहकर 'लीला बहन' ने अपनी दो पतली-पतली बाँहों से उसे कसकर प्यार किया। जब आलिंगन-पाश कुछ ढीला हुआ तब उसने पूछा, "कब आईं तुम ?"

"आज ही पहुँची। उम्मीद नहीं थी कि पहुँच पाऊँगी। कल सुबह रमेश की तबीयत खराब हो गई। हल्का-सा बुखार और सिरदर्द। दोपहर को वह काफी स्वस्थ दिखाई दिया। अन्तिम समय में हम लोगों ने निश्चय किया कि चलना चाहिए। और बताओ तुम्हारा क्या हाल है।"

"सावन सूखे न भादों हरे वाला किस्सा अभी तक नियमित रूप से चरितार्थ होता चला जा रहा है। तुम अपना हाल बताओ।"

"ठीक है, पर अक्सर भागलपुर में जी ऊब जाता है और तुम लोगों की याद आती रहती है।"

उसके बाद युवती ने तिरछी दृष्टि से मेरी ओर संकेत करते हुए इशारे से ही लीला से सम्भवतः यह प्रश्न किया कि यह नया आदमी कौन है। लीला एक बार मेरी ओर देखकर मुस्कराई फिर बोली, "आज ही नए कुक को नियुक्त किया है। अब चलो चाय के कमरे में बैठा जाय। सब समान तैयार है।"

हम लोगों को चाय सजाने का आदेश देकर वह अपनी संगिनी के साथ बाहर निकल गई। हम चारों—मैं, सुमन, मानसिंह और नौजवान नौकर शम्भू—थोड़ा-थोड़ा करके चाय के कमरे में सामान सजाते रहे। कुल मिलाकर चौदह अतिथि थे। युवतियाँ प्रायः सभी स्वस्थ, ढीठ, बेतकल्लुफ और 'कल्चर्ड' लगीं। मुझे देखते ही सभी अतिथियों की आँखों में, न जाने क्यों, विस्मय का भाव झलक उठता था और सभी गौर से मेरा 'निरीक्षण' करने लगते थे।

मैंने जो भोज्य-पदार्थ तैयार किये थे उनकी सुस्पष्ट प्रशंसा तो किसी ने नहीं की, पर चूँकि सभी लोग सभी चीजों को बड़े प्रेम से खा रहे थे, इसलिए मैं समझ गया कि उन लोगों को चीजें पसन्द आई हैं।

चाय पी चुकने के बाद सब लोग ड्राइंग रूम में चले गए। मैं भी भीतर के दरवाजे के पास एक कोने में खड़ा हो गया। वहाँ लीला ने पहले ही से संगीत का सब साज—तबला, हारमोनियम, वायलिन, सरोद, सितार, वंशी आदि—सजा-कर फर्श के बीच में कालीन के ऊपर रख दिया था। एक अधेड़ सज्जन के प्रस्ताव पर छः या सात युवक-युवतियों का एक दल—जिसमें स्वयं लीला भी सम्मिलित

थी—नीचे फर्श पर उतर आया। प्रत्येक ने एक-एक बाजा—सम्भवतः पूर्व समझौते के अनुसार—ले लिया। लीला ने सितार लिया। कुछ समय तक वे लोग परस्पर स्वर मिलाते रहे। उसके बाद 'कन्सर्ट' आरम्भ कर दिया गया।

कन्सर्ट चलतू ढंग से ठीक ही था—ताल और स्वर में विशेष गलतियाँ नहीं थीं, पर किसी ताजगी और नयापन का परिचय नहीं मिला। एक नियम-बद्ध रागिनी के भीतर अपनी अन्तर-प्रेरणा द्वारा नई-नई वेदनाओं को जगानेवाली मौलिक स्वर-लहरियों को उठाकर बाँधने की प्रतिभा का सर्वथा अभाव दिखाई दिया। संगीत के किसी माध्यमिक स्कूल में सीखे गए व्याकरण के सीमित दायरे से ऊपर उठ सकने की किसी में न तो प्रवृत्ति ही पाई गई, न समर्थता।

मैं डर गया था कि कहीं लीला इतने आदमियों के बीच मुझसे सितार बजाने का आग्रह न कर बैठे। पर उसने ऐसा कुछ नहीं किया और मेरी जान-में-जान आई।

कन्सर्ट के बाद फिर 'सोलो' शुरू हुआ। एक-एक व्यक्ति ने बारी-बारी से अलग-अलग और अकेले गाया। लीला ने क्रम से दो गीत गाए—एक हिन्दी में और दूसरा गुजराती में। गला उसका कुछ बुरा नहीं था। एक लड़की ने एक मारवाड़ी लोकगीत को नए 'सांस्कृतिक संगीत' (जिसे मैं शास्त्रीय संगीत से भिन्न मानता हूँ) की तर्ज में बाँधकर गाया। वह गाना मुझे काफी पसन्द आया। एक बंगाली लड़की ने बँगला गीत गाया। तीन युवकों में से एक ने हिन्दी, दूसरे ने गुजराती और तीसरे ने बँगला गीत गाया। कुल मिलाकर अच्छा कार्यक्रम रहा।

कार्यक्रम समाप्त होने पर कान्ति ने लीला से प्रस्ताव किया कि वह उसके साथ ही उसके घर तक चले, फिर वहाँ से साथ ही सिनेमा देखने चला जाय, पर लीला ने उसकी बात टाल दी।

जब सब लोग चले गए तब लीला ने मुझसे कहा, "चलिए, हम लोग भी बाहर निकलें। यहाँ बैठे-बैठे क्या कीजिएगा!"

"रात के लिए खाना क्या आज नहीं बनेगा?" मैंने सहज भाव से पूछा।

"सुमन और शम्भू मिलकर बना लेंगे। आप क्या कीजिएगा? चलिए तैयार

हो जाइए। मैं भी तैयार होकर अभी आती हूँ," कहकर वह भीतर चली गई।

मैंने मन-ही-मन सोचा कि यह अच्छी नौकरी पर मैं नियुक्त हुआ हूँ, जिसमें मालकिन की तरफ से यह आग्रह रहता है कि मैं कोई काम ही न करूँ! बड़ी ही विचित्र स्थिति में मैं अपने को पा रहा था।

थोड़ी देर बाद लीला सज-सँवरकर आई। उसके सारे सजाव-सिंगार में सादगी और सुरुचि का परिचय मिलता था। "चलिए मोटर तैयार है," उसने कहा।

मैं पुतले की तरह उठ खड़ा हुआ। बाहर बरसाती में मोटर खड़ी थी। मैंने सोचा था कि मुझे ड्राइवर के साथ बैठना होगा और वहीं मुझे आराम भी था। पर लीला ने इस बात के लिए हठ किया कि मैं भी उसी के साथ पीछे ही बैठूँ। मेरे कपड़े बहुत गन्दे हो चले थे। कुरता और धोती का दूसरा जोड़ा मेरे पास नहीं था। स्वयं मुझको कुरते की गन्ध असहनीय मालूम हो रही थी, इसलिए जब उसने साथ ही बैठने के लिए दुराग्रह किया तब मेरे संकोच की सीमा न रही। लाचार होकर मुझे पीछे ही बैठना पड़ा। एक कोने में सिकुड़कर, सिमटकर, भीगी बिल्ली की तरह दुबका-दुबका बैठा रहा।

जब मोटर चल पड़ी तब लीला ने पूछा, "कैसा रहा आज का कार्यक्रम? आपको पसन्द आया या नहीं?"

"अच्छा रहा," उदासीन स्वर में मैंने कहा।

"आपके बोलने के ढंग से पता चलता है कि आपको कुछ विशेष जँचा नहीं।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं है," उसी उदासीनता से मैंने कहा।

"ठीक से बैठिए न! आप इस तरह सिकुड़े बैठे हैं जैसे मैं कोई अछूत होऊँ।"

"आप क्या सचमुच छूत-अछूत का भेद मानती हैं?" मैंने अपनी दबी हुई खीझ को बाहर निकालते हुए कहा।

"मैं तो कई हरिजन आश्रमों में रह चुकी हूँ और सेवा-कार्य कर चुकी हूँ। छूत का 'कांप्लेक्स' मुझे नहीं आपको सता रहा है, कुछ ऐसा लगता है मुझे।"

मैंने एक लम्बी साँस खींची। "आप ठीक कहती हैं," मैंने कहा। "मैं सब जगह इस तरह दुरदुराया और दुतकारा गया हूँ कि सम्भवतः अपने को अछूत समझने की भावना मेरे भीतर मेरे अनजान में घर कर गई है। यही कारण है कि

मैं सिकुड़ा बैठा हूँ। यह जानकर मुझे कुछ बल मिला कि आप हरिजन आश्रमों में काम कर चुकी हैं। किन-किन आश्रमों या संस्थाओं में काम कर चुकी हैं आप ?"

"बापू के साथ मैं साल-भर रही हूँ। विनोबाजी के साथ भूमि-दान सम्बन्धी आन्दोलन के सिलसिले में सैकड़ों मील की पैदल यात्रा कर चुकी हूँ। मैं दो वर्ष शान्ति-निकेतन में भी रही जब गुरुदेव जीवित थे। तब मैं तेरह-चौदह साल की रही हूँगी। वहाँ मैंने चित्रकला और संगीत की शिक्षा पाई। इस प्रकार कई संस्थाओं और आश्रमों से मेरा सम्बन्ध रह चुका है। आजकल स्वयं तीन-चार संस्थाओं का संचालन कर रही हूँ, जिनमें एक है 'सांस्कृतिक कला केन्द्र'।"

"बड़ी खुशी हुई यह जानकर," मैंने शिष्टाचार के रूप में कहा।

"और आप ? आप भी निश्चय ही किसी-न-किसी आश्रम में रहे होंगे, मेरा मन कहता है।"

"आपका मन कुछ गलत नहीं कहता। मैं भी निश्चय ही कुछ आश्रमों में रहा हूँ। पर वे आश्रम कुछ ऐसे विचित्र हैं कि यदि उनका वर्णन करूँ तो आपका आश्रमों से सम्बन्धित सारा ज्ञान ही एकदम उलट जायगा। इसलिए अभी उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं बताऊँगा। फिर कभी देखी जायगी। हाँ, तो यह सांस्कृतिक कला-केन्द्र क्या चीज है, क्या आप उसके सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालने की कृपा करेंगी ?"

"यह मारवाड़ी, गुजराती और बंगाली समाज के कुछ संस्कृति-प्रेमी युवकों और युवतियों की संस्था है। प्राचीन और नवीन सांस्कृतिक कलाओं का सुन्दर समन्वय और विकास इसका उद्देश्य है। चित्रकला, संगीत और नृत्य सम्बन्धी नए-नए प्रयोग हम लोग करते रहते हैं। भाव-नृत्य में हमारी संस्था की लड़कियों ने बड़ी तरक्की कर ली है। अभी कुछ ही समय पहले हमने हिन्दी और बँगला के कुछ प्रसिद्ध कवियों की कुछ कविताओं के आधार पर भाव-नृत्यों का नियमित प्रदर्शन एक बहुत बड़े सिनेमा हाल में किया था। लोगों ने उसे बहुत पसन्द किया था। हम लोगों की बहुत-सी दिक्कतें हैं। कोई अच्छा 'गाइड' या पथ-प्रदर्शक नहीं मिल रहा है। हम लोग अपने ही प्रयत्नों से जितना कर पाते हैं करते हैं। अब आप आ गए हैं, इसलिए मुझे बड़ा सहारा मिल रहा है। मुझे रसोइए की कोई जरूरत नहीं है। जिस काम की जरूरत है उसकी पूरी योग्यता आप में है,

यह मैं देख चुकी हूँ। इसलिए···"

"आपको गलतफहमी हुई है," म्लान मुस्कान के साथ मैंने कहा, "मैं रसोई के ही काम का हूँ, दूसरे किसी काम का नहीं।"

"यह ठीक है कि आप रसोई अच्छी बना लेते हैं, पर सितार बजाने में आप जितने निपुण हैं उतना रसोई बनाने में नहीं," दुष्टता-भरी मुस्कान के साथ लीला ने कहा।

"खैर, आपकी गलतफहमी अपने-आप जल्दी ही र हो जायगी, इसलिए इस सम्बन्ध में मैं निश्चिन्त हूँ। मेरी इस बात का यह अर्थ नहीं कि मैं कला-प्रेमी नहीं हूँ। पर कला के सम्बन्ध में मेरी जो धारणाएँ हैं उनसे आपकी धारणाओं के साथ कोई मेल नहीं बैठ सकता, यह मैं जानता हूँ।"

"मेल क्यों नहीं बैठ सकता? आपकी धारणाएँ आकाश के किसी रहस्यमय कोण से तो आई न होंगी।" उसके स्वर से खीझ का कुछ आभास प्रकट हो रहा था।

"अगर ऐसा होता तो सम्भवतः कला-सम्बन्धी मेरे विचार आपके विचारों से मेल खा जाते। पर मैंने कला को जीवन की कठोर यथार्थता के बीच से, विकट संघर्षों के भीतर से पाया है। और आपने पाया है जीवन-संघर्ष के अभाव से, अवकाश-जनित बौद्धिक विकास से। इसलिए हम दोनों की धारणाओं में मूल-गत अन्तर स्वाभाविक है। आप नाराज न हों। ठण्डे मस्तिष्क से मेरी बात पर विचार करें।"

आखिर बातों-ही-बातों में मेरे मुँह से यह बात निकल ही पड़ी जिसे मैं अभी कुछ समय तक के लिए दबाए रखना चाहता था।

"तब आप क्या यह कहना चाहते हैं कि हम लोगों की कला-सम्बन्धी साधना का कोई महत्त्व नहीं है? वह निरर्थक है?" इस बार खीझ के साथ ही निराशा का भी थोड़ा-सा पुट उसकी आवाज में निहित था।

"नहीं, मैं उसे एकदम निरर्थक और महत्त्वहीन तो नहीं मानता," मैंने अपने स्वर में कुछ और अधिक गम्भीरता घोलते हुए कहा, "पर इतना अवश्य कहूँगा कि अगर जीवन की कठोर वास्तविकता के साथ उसका सम्बन्ध जुड़ा होता तो वह आकाशी संस्कृति की हवाई उड़ान और फैशन की अस्थायी रंगीनी से मुक्त होकर जीवन के समुचित सामूहिक विकास में बहुत सहायक हो सकती थी।"

"आपकी बात को सीधे ढंग से, सरल बुद्धि से समझ पाना सम्भव नहीं है। कला का विकास जीवन के माध्यम से ही होता है, इस बात से किसी का मतभेद नहीं हो सकता। पर साथ ही यह बात आप क्यों भूल जाते हैं कि उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी तो है! लोक-कल्याण उसका गौण उद्देश्य हो सकता है, पर अलौकिक आनन्द की अनुभूति ही उसका प्रधान उद्देश्य है। लोक-कल्याण भौतिक सत्य है और अलौकिक आनन्द आत्मिक सत्य; भौतिक सत्य से आत्मिक सत्य बड़ा है, इतना तो आप मानेंगे ही।"

मैं कला-सम्बन्धी तर्क को ऐसे गम्भीर शास्त्रीय स्तर पर ले जाना नहीं चाहता था, पर बात बिना मेरी इच्छा के बढ़ गई थी। मैंने कहा, "अलौकिक आनन्द की अनुभूति शून्य से नहीं आती। लोक-जीवन ही उसका आधार है। आत्मिक सत्य भौतिक सत्य से निश्चय ही बड़ा है, पर बिना भौतिक सत्य की पूर्ण उपलब्धि के उसकी उपलब्धि हो ही नहीं सकती। भौतिक सत्य ही उसका मूल आधार है। चेतना शरीर से महत्त्वपूर्ण है, यह मैं मानता हूँ, पर शरीर के बिना चेतना-सम्बन्धी अनुभूति ही नहीं हो सकती, इतना आप भी मानेंगी। शरीर के भीतर मस्तिष्क है और मस्तिष्क के कोषों में ही प्रकट में लौकिक और अलौकिक अनुभूतियों की चेतना निहित है। शरीर की समाप्ति के साथ ही चेतना भी समाप्त हो जाती है। हो सकता है कि वह किसी सूक्ष्म रूप में फिर भी विद्यमान रहती हो, पर उसकी अनुभूति का आधार तो नष्ट हो ही जाता है। अलौकिक आनन्द और आत्मिक सत्य की अनुभूति के लिए शारीरिक ढाँचे की आवश्यकता अनिवार्य रूप से पड़ती है। इसलिए शारीरिक ढाँचा अर्थात् भौतिक सत्य के निखार और उन्नयन में जो कला सहायक नहीं होती वह निराधार होने के कारण कभी वास्तविक अर्थ में अलौकिक आनन्द का रस ग्रहण नहीं कर सकती। लोकोत्तर आनन्द का सच्चा अधिकारी केवल वही व्यक्ति हो सकता है जो लोक-जीवन में डूबकर लोक-कल्याण-सम्बन्धी अपने कर्तव्यों का पालन पूर्णतया कर चुका हो। आत्मिक अमृत का सच्चा अधिकारी वही हो सकता है जो सामूहिक भौतिक जीवन पर छाए हुए महा-मरण—रोग, शोक और दुःख-दारिद्रय—के निवारण में युग-चेतनाओं के हाथ बँटा चुका हो। यदि कला को लोक-जीवन से छिन्न करके केवल लोकातीत आनन्द की प्राप्ति का ही साधन माना जाय तो नीरो को सबसे बड़ा कलाकार मानना होगा। जब रोम में आग लगी हुई थी तब वह अपनी ऊँची अटारी पर से सामूहिक

अग्निकला का आनन्दप्रद दृश्य देखता हुआ वीणा बजाने में तन्मय था और 'लोकोत्तर आनन्द' की प्राप्ति कर रहा था।"

"नई ऐतिहासिक खोज के प्रकाश में यह बात गलत सिद्ध हो चुकी है। नीरो···।"

मैंने बरबस हँसी दबाते हुए कहा, "ठीक है, पर दृष्टान्त-रूप में उसका महत्त्व अभी तक नष्ट नहीं हुआ है।"

"तब क्या हम लोग, आपकी रायमें, नीरो की परम्परा का पालन कर रहे हैं?"

इस बार मैं रह न सका, खुलकर हँस पड़ा। बोला, "आप नाराज हो गईं, इसलिए अब इस गम्भीर चर्चा को यहीं पर समाप्त कर देना अच्छा होगा। मेरा उद्देश्य कतई आप लोगों पर इस तरह का आरोप लगाने का नहीं था। मुझे दुःख है कि मैं अपनी बात आपको ठीक से समझा न सका। पर हम लोग जा कहाँ रहे हैं?"

मोटर भवानीपुर के केन्द्र में आ पहुँची थी।

"बस, कुछ ही दूर आगे चलकर कपड़े की एक दुकान के पास हम लोग उतर जायँगे। कुछ जरूरी चीजें खरीदनी हैं।"

ड्राइवर को निश्चय ही पहले से पता रहा होगा कि कहाँ जाना है। उसने कपड़े की एक बड़ी दुकान के आगे 'कार' खड़ी कर दी। लीला उतरी। मुझसे उसने 'कार' ही पर बैठे रहने के लिए कहा।

प्रायः पन्द्रह या बीस मिनट बाद वह लौटी। उसके पीछे एक आदमी कागज में लपेटे हुए दो बड़े-बड़े बण्डल लेकर आया। बण्डलों को 'कार' पर रखकर वह चला गया। लीला 'कार' पर बैठ गई। ड्राइवर से उसने एक दूसरी दुकान पर चलने को कहा। कुछ ही देर के बाद मोटर कपड़ा सिलने की एक दुकान के आगे खड़ी हो गई। छोटा बण्डल उठाकर लीला ने मुझसे भी अपने साथ चलने के लिए कहा। जब हम लोग दुकान के भीतर गए तो उसने एक आदमी से मेरे कुरते की नाप लेने के लिए कहा। उस आदमी ने नाप ली। उसके बाद उस आदमी ने बण्डल खोलकर कपड़ा नापा और फिर कपड़ा उसे सौंपकर हम दोनों लौट चले।

'कार' लौट चली और हम लोग कुछ ही देर बाद लीला के मकान पर पहुँच

गए। जब हम लोग इतमीनान से ड्राइंग रूम में बैठ गए तब लीला ने दूसरा बण्डल मँगवाकर खोला। उसमें छः जोड़ा मरदानी धोती, एक दर्जन 'गंजियाँ' (बनिआइन), आधा दर्जन 'रेडी-मेड' कुरते, अण्डरवियर, तौलिए, रूमाल आदि चीजें थीं।

"ये आपके लिए हैं", उसने कहा। "जब तक कुरते नहीं सिल जाते तब तक रेडी-मेड कुरतों से ही काम चलाइए।"

इस सम्बन्ध में तकल्लुफ बेकार था। मुझे कपड़ों की सख्त जरूरत थी। मेरे बदन के कपड़े बहुत गन्दे हो गए थे। सभी कपड़ों में से एक-एक चीज उठाकर मैं गुसलखाने चला गया। वहाँ फौवारे के नीचे अच्छी तरह नहाकर कपड़े बदल-कर जब लौटा तब लीला ड्राइंग रूम में ही बैठी हुई कोई पुस्तक पढ़ रही थी। अँधेरा होने लगा था। मैंने बत्ती जला दी। "धन्यवाद !" कहकर वह मुझे देख-कर मुस्कराई और पुस्तक उसने नीचे रख दी।

"अँधेरे में आपको पढ़ना अच्छा लग रहा था और बत्ती जलने पर आपने पुस्तक बन्द कर दी, यह कैसी बात है ?" मैंने कहा।

"चलिए, छत पर चलकर बैठें। यहाँ कुछ अच्छा नहीं लग रहा है।"

"पर मुझे तो अभी रसोई में काम करना होगा।"

आज आप को छुट्टी दी जाती है," दुष्टता-भरी मुस्कान मुख पर झलकाते हुए उसने कहा।

"तब ठीक है, चलिए।"

हम दोनों छत पर जा पहुँचे। पश्चिम क्षितिज के ऊपर तृतीया के वक्र चन्द्रमा की बगल में शुभ्र और उज्ज्वल शुक्र तारा चमक रहा था, जैसे किसी नववधू की बाली के नीचे मोती लटक रहा हो। मैं कुछ देर तक गौर से उसी ओर देखता रहा।

पीछे से लीला बोली, "वाह, कैसा अच्छा लग रहा है !"

"बहुत ही सुन्दर," आँखों को तनिक भी न हटाते हुए मैंने कहा, "केवल सुन्दर ही नहीं, यह शुभ भी है।"

"शुभ किस तरह ?" पीछे से लीला ने पूछा।

"इस अर्थ में कि दोनों वृष राशि में साथ-साथ हैं। वृष राशि में स्थित चन्द्रमा उच्च का माना जाता है और शुक्र का वह अपना ही घर है। दोनों समानधर्म और जलग्रह हैं..."

"तो इसका फल क्या होगा, ज्योतिषीजी ?"

"जल···केवल जल···गंगा-यमुना में आँसू जल ! मोती के-से आँसू !"

"क्या बक रहे हैं आप !"

मैं ठहाका मारकर हँस पड़ा । मुड़कर लीला की ओर देखा । सचमुच उसकी आँख के नीचे एक आँसू टलमला रहा था । वक्र चन्द्रमा की तरह आँख और उसके किनारे शुक्र की तरह आँसू ! मैंने सहज मजाक में, 'अलौकिक आनन्द' के क्षणिक 'मूड' में, कलात्मक पागलपन की-सी मनःस्थिति में, बिना किसी मतलब के एक बात कह दी थी । मैं ज्योतिष क्या ज्योतिष की दुम से भी परिचित नहीं था और उस पर भी फलित ज्योतिष को तो मैं कभी गम्भीर रूप से ले ही नहीं सकता था । दिन और रात की सन्धि के उस चरम क्षण में अचानक पश्चिम आकाश में एक सुन्दर दृश्य देखकर यों ही बरगला रहा था और उस पागलपन के-से सुझाव का यह फल हुआ कि अकारण ही लीला की बाईं आँख के कोने में एक बूँद आँसू चमक उठा ! यह एकदम विचित्र और अनोखी बात मुझे लगी ।

"क्या हुआ ? आपने तो सचमुच आँसू निकाल दिया !" मैंने घबराकर कहा ।

"कुछ भी नहीं हुआ," आँचल से आँसू पोंछते हुए उसने धीरे-से कहा और फिर तत्काल मुस्करा उठी ।

"यही है कलात्मक सौन्दर्यजनित 'अलौकिक आनन्द' ! " मैंने बहुत ही हल्के-से व्यंग्य को परिहास में घोलते हुए कहा । "यह अकारण ही हँसाता है, अकारण ही रुलाता है और अकारण ही एक क्षण में उत्पन्न होकर अकारण ही दूसरे क्षण गायब भी हो जाता है । खैर, यह तो हुई कविता की बात । अब सच-सच बताइए कि आपकी आँखों में आँसू कैसे निकल आया ।"

"मैं स्वयं नहीं जानती," लीला ने कहा, "आपने ज्यों-ही कहा 'गंगा-यमुना में आँसू-जल' त्यों-ही मेरी आँखें गीली हो आईं और बाईं आँख में आँसू उमड़ आया । जब कभी मैं पंतजी का यह गीत, खासकर 'गंगा-यमुना में आँसू-जल' यह पंक्ति सुनती हूँ तब जाने क्यों, मेरे भीतर से भावों का उच्छ्वास पूरे जोरों से उमड़ने लगता है और मेरी आँखों से उसी समय आँसू निकल आते हैं ।"

"तब तो आज से मैं रोज यही गाना गाऊँगा । आँसुओं का निकलना अच्छा है । हम लोग—इस युग के स्त्री-पुरुष—सब ऐसे जड़ और निश्चेष्ट हो गए हैं कि कठोर-से-कठोर परिस्थितियों में भी रो नहीं पाते—केवल पत्थर के आँसू निकालकर

ही रह जाते हैं। इसलिए अगर किसी उपाय से भावोच्छ्वास उमड़कर आँखों से आँसू निकल आवें तो इससे मन के निखार में सहायता मिलती है।"

"ठीक है। आप अवश्य रुलाइए। मैं बहुत खुश हूँगी। मैं यहीं मँगाती हूँ सितार और तबला। आप सितार बजाते हुए गाइए, मैं तबला बजाऊँगी। शम्भू!"

शम्भू शायद छत के ठीक नीचेवाले कमरे में था। उसने ऊँचे स्वर से कहा, "जी!"

"नीचे से तबला और सितार लेते आओ।"

"अच्छा!"

शम्भू के आने तक हम लोग एक किनारे पर रखी हुई आराम कुरसियों पर चुपचाप बैठे रहे। शम्भू सितार लाया और दूसरा नौकर तबला ले आया। उसके बाद लीला ने एक कालीन मँगाया। बीच में कालीन बिछाकर हम दोनों इतमीनान से बैठ गए। लीला ने तबला लिया और मैंने सितार।

सितार में मिजराब से मृदु-मृदु झंकार भरते हुए मैंने स्वर मिलाना आरम्भ कर दिया। लीला भी उसी हिसाब से तबले में थाप मारने लगी। स्वर-संयोग के बाद मैंने सहसा गाना आरम्भ कर दिया :

भारत माता ग्रामवासिनी!

पहली पंक्ति गाते ही मेरी सम्पूर्ण आत्मा सहज ही उसी स्वर, ताल और लय में निमज्जित होकर जैसे रसमय हो गई। मैं पूर्णतः भावमग्न होकर गाता चला गया :

खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला-सा आँचल,
गंगा यमुना में आँसू जल—

सहसा लीला अपने-आपको न रोक सकने के कारण जैसे उसी भाव-प्रवाह में बहती हुई उन्हीं पंक्तियों की पूर्ति में पूरी तन्मयता के साथ पुलक-प्रकम्पित स्वर में गा उठी :

मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी!

और फिर दूसरे ही क्षण हम दोनों ने मिलकर कोरस में गाया :

भारत माता ग्रामवासिनी!

उसके बाद एक पंक्ति मैं गाता था और उसकी पूर्ति वह करती थी। इस

तरह बिना किसी पूर्व योजना के हम लोग 'ड्यूएट' में गाते चले गए।

मैंने गाया :

दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,

लीला ने पूर्ति की :

अधरों में चिर नीरव रोदन,

फिर मैंने गाया :

युग-युग के तम से विषण्ण मन,

लीला ने पूर्ति की :

वह अपने घर में प्रवासिनी !

उसके बाद हम दोनों सम्मिलित स्वर में गा उठे :

भारत माता ग्रामवासिनी !

इसी क्रम से एकान्त भाव-विभोरता के साथ हम लोगों ने गाया :

तीस कोटि सन्तान नग्न तन,
अर्द्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नत-मस्तक
तरुतल निवासिनी !
भारत माता ग्रामवासिनी !

कितनी देर तक हम दोनों तद्गत भाव से वह गीत दुहरा-दुहराकर गाते रहे, मैं कह नहीं सकता। जब तक हम गाते रहे तब तक मुझे न अपने अस्तित्व की रंचमात्र भी सुधि थी, न लीला के अस्तित्व की। सम्भवतः लीला का भी वही हाल रहा होगा। ऐसा लग रहा था जैसे किसी ने मुझे काल-स्रोत के आदिम उत्स में लाकर मुक्त-प्रवाह में छोड़ दिया और मैं उस स्रोत के साथ-साथ युग-युगव्यापी धारा में बहता हुआ, द्रौपदी के चीर की तरह फैले हुए भारत माता के धूल-भरे मैले आँचल का छोर पकड़कर उसके सहारे-सहारे वर्तमान काल में पहुँचकर, भविष्य की ओर अबाध गति से बढ़ता चला जा रहा हूँ।

जब किसी एक अनिर्दिष्ट क्षण में हम दोनों सहसा एक ही साथ रुके तब मुझे ऐसा बोध हुआ जैसे किसी ने हमें अनन्त-प्रसारित मरुभूमि में रात के जनहीन सन्नाटे के बीच में छोड़ दिया है, जहाँ ऊपर, नीचे, चारों ओर केवल शून्य-ही-शून्य

है और काल-धारा अचानक मरु के भीतर लुप्त हो गई है। थोड़ी देर बाद चित्त जब कुछ स्थिर हुआ तब लीला की ओर दृष्टि पड़ने पर मैंने देखा, उसकी दोनों आँखों की पुलकित पलकों के भीतर से गंगा-जमुनी धारा बही चली जा रही है। मैं देखकर भी अनदेखा-सा करके चुप रहा। लीला आँसुओं के ही भीतर से अत्यन्त स्निग्ध भाव से मन्द-मन्द मुस्कराती हुई धीरे-धीरे अपने शुभ्र आँचल से आँसू पोंछने लगी।

जब वह भी मेरी ही तरह अपेक्षाकृत स्थिर हो गई तब मैं धीरे से बोला, "सचमुच एक अद्भुत, मोहक जादू भरा है तुम लोगों की इस संगीत-कला में! वैसे मैं ठीक से कह नहीं सकता कि यह जादू कवि की कविता में निहित है, या उसके भीतर के तथ्यों में या उसके गीत-तत्त्व में। शायद इन तीनों के सम्मिलित प्रभाव से उसकी उत्पत्ति हुई है। कारण चाहे कुछ भी हो, है वह विचित्र।"

लीला गम्भीर भाव-वेदना-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखती हुई चुप रही। अपने अन्तर की सारी भाव-प्रवणता को हम लोग उस एक ही गीत में उँडेल चुके थे, इसलिए फिर कोई दूसरा गीत गाने की प्रवृत्ति नहीं होती थी। मिजराब को उँगली से उतारकर, सितार को रखकर मैं उठ खड़ा हुआ और सामने की ओर छत की चहारदीवारी के पास खड़ा हो गया। मुँडेर पर दोनों कुहने टेककर पच्छिम में डूबते हुए चन्द्रमा और शुक्र के जोड़े की ओर मैं एकटक देखने लगा। गीत की प्रतिक्रिया विचित्र-विचित्र भाव-तरंगों के घात-प्रतिघात के रूप में मेरे भीतर चल रही थी। कुछ ही क्षण बाद लीला भी चुपचाप मेरी बगल में आकर खड़ी हो गई।

उसके अस्तित्व का अनुभव करते हुए, उसकी ओर बिना देखे ही मैंने कहा, "मैं क्या सोच रहा हूँ, जानती हैं? मैं सोच रहा हूँ कि कितने युगों से भारत माता का आँचल अभी तक मैला-ही-मैला है। यह चिर-विधवा, चिर-अनाथा आज भी मिट्टी की उसी उदासिनी प्रतिमा के रूप से हमारे आगे पछाड़ खाई हुई, जीवित शव के रूप में पड़ी हुई है, जिस रूप में वह बुद्ध के जमाने में पड़ी रही होगी। आज भी गंगा-यमुना उसके चिर-पीड़ित अन्तर के आँसू-जल को उसी रूप में प्रवाहित किए जा रहे हैं, जिस रूप में बुद्ध के युग में करते रहे होंगे। बुद्ध के युग से लेकर आज तक बीच में थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ उसका दैन्य-जड़ित और चिर-शोषित रूप वैसा ही बना हुआ है। आज स्वतन्त्रता के बाद भी उसकी

सन्तान मूढ़, अशिक्षित, निर्धन और निःसंबल बनी हुई है। आज भी वह नत-मस्तक और तरुतल-निवासनी है। घूरे के दिन भी फिरते हैं, पर इसके दिन हजारों वर्ष बाद भी नहीं फिर पाए। कब तक? कब तक यह चिर-अभागिनी इस तरह धूल में लोटती रहेगी?" अन्तिम वाक्य के साथ ही मैंने लीला की ओर देखा। उसके मुँह से बरबस एक दीर्घ-निःश्वास निकल आया।

"पर बुद्ध के युग को आप दैन्य-जड़ित क्यों मानते हैं?" लीला ने प्रश्न किया।

"बुद्ध के महावैराग्य के इस सुस्पष्ट कारण का अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है कि उनके युग में सम्पूर्ण आर्यावर्त का जन-जीवन अत्यन्त दयनीय दुर्दशा से ग्रस्त रहा होगा," मैंने कहा। "सामूहिक जीवन में रोग-शोक और दुःख-दैन्य का आतंकजनक और व्यापक प्रकोप सर्वत्र छाया हुआ होगा। अपने गहन अनुभूतिशील अन्तर में बुद्ध ने अत्यन्त मार्मिक तीखेपन के साथ उस सामूहिक पीड़ा का अनुभव किया और उस पीड़ा से शंकित और भीत प्राणों को सांत्वना की वाणी सुनाते हुए उन्होंने जीवन को ही मूलतः अस्वीकार करने का उपदेश दिया। फलस्वरूप दल-के-दल लोग पारिवारिक और सामाजिक बन्धनों को सदा के लिए छिन्न करके, परम्परागत वैदिक धर्म की जड़ों को उखाड़कर भिक्षु-संघ में सम्मिलित होने के लिए उतावले हो उठे। यदि बुद्ध के युग का जीवन असाधारण रूप से शोचनीय न रहा होता तो हजारों वर्षों की लौकिक और वैदिक परम्परा को उतनी आसानी से सामूहिक रूप से ठुकराने का साहस स्वभाव से ही रूढ़िवादी जनता को कभी न होता—फिर बुद्ध क्या, चाहे स्वयं सृष्टिकर्ता भी अवतरित होकर उसे ठुकराने का उपदेश क्यों न देते। मेरी बात का यह अर्थ कदापि नहीं है कि मैं वैदिक धर्म को बुद्ध द्वारा प्रचारित धर्म की अपेक्षा महान् मानता हूँ। प्रश्न यह नहीं है कि उन दो धर्मों में से कौन धर्म श्रेष्ठ था। प्रश्न यह है कि बुद्ध ने जो महाक्रान्ति मचाई और उस क्रान्ति के प्रचार में जो अपूर्वकल्पित और अभूतपूर्व सफलता पाई, उसका मूल कारण तत्कालीन जीवन की अत्यन्त हीन परिस्थितियाँ ही थीं। और वे हीन परिस्थितियाँ बुद्ध के समय के पूर्व से ही संचित होती चली आई होंगी। बुद्ध के समय में तो वे चरम स्थिति को विस्फोटात्मक बिन्दु तक पहुँच चुकी होंगी। तभी उनके क्रान्तिकारी विचार युग-चेतना में व्यापक महाविस्फोट उत्पन्न करने में समर्थ हुए। समय के अन्तर से बौद्ध धर्म इस भूमि-भाग से लुप्त

अवश्य हो गया पर अपना जीवन-विद्वेषी और विरागात्मक प्रभाव वह धर्म के सभी बदलते हुए रूपों के भीतर से इस देश की जनता की संस्कारगत चेतना में छोड़ गया। यही कारण है कि भारत-माता 'युग-युग के तम से विषण्णमन' होकर आज भी मिट्टी की चिर-उदासिनी प्रतिमा के रूप में हमारे सामने आती है।"

लीला बड़े गौर से मेरे बौद्धिक उद्‌गारों को सुन रही थी। पर चूँकि वह भी स्पष्ट ही एक बौद्धिक नारी थी, इसलिए वह निश्चेष्ट भाव से मेरे विवादास्पद विचारों को चुपचाप सुनती चली जाती, ऐसा सम्भव नहीं था। इसलिए मेरी वाग्धारा जब बीच में कुछ रुकी, तब वह रह न सकी और उसने प्रतिप्रश्न करने के इरादे से कहा, "आप स्वयं यह बात स्वीकार करते हैं कि बुद्ध महान् क्रान्तिकारी थे और यह भी कि अपने युग की हीन परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह करते हुए उन्होंने जनता के भीतर एक नई चेतना उद्‌बुद्ध की। फिर भी उनके विचारों के विरुद्ध एक प्रकार के आक्रोश का-सा भाव आपके मन में बना हुआ है, मुझे कुछ ऐसा ही लगता है। मैं जानना चाहती हूँ कि आप उनके विचारों और आदर्शों को जीवन-विद्वेषी क्यों बताते हैं।" उसके स्वर में स्पष्ट ही कुछ झल्लाहट थी।

"देखिए लीला जी," मैंने शान्त भाव से कहा, "आपकी बात का उत्तर देने के पहले मैं एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। जहाँ तक बुद्ध के व्यक्तित्व का प्रश्न है वहाँ तक मेरी श्रद्धा-भावना आपसे किसी भी अंश में कम है, ऐसा मैं नहीं मानता। मैं बुद्ध को सचमुच मानवजाति के एक महानेता के रूप में मानता हूँ। उन्होंने शान्ति, अहिंसा, प्रेम और समता का जो पाठ मानव-जाति को अपूर्व लगन और आश्चर्यजनक उद्यम के साथ पढ़ाया, वह बहुत बड़ी चीज थी। उनके जन्म से लेकर आज तक प्रायः ढाई हजार वर्ष बीत चुके। यदि इतने लम्बे अरसे में मानवता ने उनके उस महासन्देश का एक कण भी सामूहिक जीवन में अपनाया होता तो पृथ्वी के रक्त-रंजित इतिहास की लम्बी परम्परा में बहुत से काले पृष्ठों का कोई अस्तित्व ही न रह गया होता। पर जहाँ-जहाँ बौद्ध मत का प्रचार हुआ वहाँ मानवता ने केवल उसके बाहरी आचार और आडम्बर को अपनाने का ढोंग रचा और उसके सारभूत और प्राणवान् अंश को बुद्ध की विशाल प्रस्तर-मूर्तियों, उनकी राख के ऊपर स्थापित महास्तूपों और विराट् शिलाओं पर खुदे प्रवचनों के रूप में जड़, निश्चल और मृत बनाकर उसकी निष्प्राण पूजा करके

खतम कर दिया। इसमें कुल दोष मानवता का ही था, ऐसा मानना अन्याय होगा। बुद्ध का ध्येय बहुत महान्, सच्चा और सहृदयतापूर्ण होने पर भी उन्होंने उसकी स्थापना के उद्देश्य से जिन उपायों का प्रचार और प्रतिष्ठा की वे बहुत ही विरोधाभासात्मक थे। प्रथम तो उन्होंने कर्मों के मूल सूत्रों को छिन्न करने का उपदेश देकर जीवन की उपयोगिता को ही अस्वीकार कर दिया। जब जीवन ही अस्वीकृत हो गया तब फिर शान्ति, प्रेम और पारस्परिक सद्भावना की आवश्यकता ही क्या रह गई! उसके बाद उन्होंने जिस भिक्षु-संघ की स्थापना की और जीवन के कठोर बन्धनों से छुटकारा चाहनेवाले सभी नर-नारियों को उसमें सम्मिलित होने की व्यापक अपील की तो उसने सामूहिक जन-जीवन में एक नया ही तमाशा खड़ा कर दिया। तनिक सोचिए तो सही कि कैसा सरल नुसखा उन्होंने ताप-परिताप, रोग-शोक और दुःख-दैन्य से बुरी तरह घबराई हुई जनता को बता दिया, 'करतल में भिक्षा लो और तरुतल में वास करो। बस, केवल इतने से ही जन्म-जन्म के मानवीय उत्तरदायित्वों से छुट्टी पा जाओ। विविध प्रकार के भय की जिस भावना से तुम लोग हर समय पीड़ित रहते हो उसका कहीं फिर लेश भी नहीं रह जायगा। (क्योंकि किसी के प्रति जब कोई उत्तरदायित्व ही न हो—जीवन के प्रति भी नहीं—तब फिर भय के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है?) इसलिए आओ, भिक्खु-संघ में सम्मिलित होओ और इस लोक और परलोक में निर्द्वन्द्व विचरो'—यदि बीच ही में निर्वाणत्व को न पहुँच गए तो। एक ओर वह महान् ध्येय और दूसरी ओर उसकी प्राप्ति का यह सरल नुसखा! भला कौन मूर्ख उस घोर अभावग्रस्त, अव्यवस्थित और बन्धन-बहुल युग में सब-कुछ छोड़कर, मुक्त विचरने की आकांक्षा से संघ की ओर न दौड़ पड़ता! छोटी-से-छोटी परिस्थितियों से लेकर बड़ी-से-बड़ी परिस्थितियों तक से पीड़ित सभी नर-नारी, दल-के-दल, भव-बन्धनों को काटने की आशा से, संघ में सम्मिलित होने लगे। ऊँची परिस्थितियों के लोग मनोवैज्ञानिक कारणों से अपनी भीतरी भय-भावनाओं से मुक्ति पाने के लिए भाग-भागकर आने लगे और निम्न परिस्थितियों के लोग पार्थिव अभाव और सामाजिक पीड़न से मुक्ति पाने के उद्देश्य से। जीवन के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से सामूहिक पलायन का वह दृश्य निश्चय ही महान् रहा होगा, यह मैं मानता हूँ।

"पर इस भिक्खु-धर्म ने एक विचित्र विरोधाभास व्यावहारिक दृष्टि से सामाजिक क्षेत्र में खड़ा कर दिया। जब बुद्ध ने अपने महा-आह्वान द्वारा सभी स्त्री-पुरुषों

को भिक्षावृत्ति अपनाने के लिए आमन्त्रित किया, तब स्वभावतः यह समस्या उठ खड़ी हुई कि उतने सब निर्वाण-प्रार्थी निठल्लों की प्रतिदिन की भिक्षा जुटाई कहाँ से जाय। यदि उन लोगों को केवल फल-मूल भक्षण द्वारा निर्वाह करने का आदेश दिया गया होता तब भी एक बात थी। पर उन्हें तो गृहस्थों के यहाँ से प्रतिदिन नियमित रूप से भिक्षा जुटाते रहने की निश्चित हिदायत दी गई थी। उन भगोड़ों के कारण समाज की पहले ही से गिरी हुई आर्थिक व्यवस्था यों ही शिथिल हो गई थी, तिस पर यह एक नया भार उस पर पड़ा। और वह कोई मामूली भार नहीं था—लाखों-करोड़ों भिक्खुओं की दैनन्दिन पेट-पूजा का महा भार था वह।

"इसलिए 'अनाथपिंडकों' के एक विशेष वर्ग की स्थापना के लिए प्रोत्साहन दिया जाने लगा, जो जेतवन आदि विशेष-विशेष रमणीक स्थानों में सोने-चाँदी के सिक्के बिछाकर उन स्थानों को प्राप्त करके उनमें भिक्खुओं के आराम के लिए बड़े संघाराम और विहार स्थापित करके उनके भोजन-वस्त्र की सुचारु व्यवस्था करने लगे। उन निठल्ले भिक्खुओं का स्वास्थ्य दिन-पर-दिन अच्छा होता चला जा रहा था और जठराग्नि भी निरन्तर बढ़ती चली जा रही थी। साधारण भोजन से उनकी तृप्ति नहीं होती थी। जातकों की कई कहानियों से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि सेठों के यहाँ जब वे दल-के-दल भोजन करने जाते थे तब खजकों और मालपुओं के नीचे वे बात नहीं करते थे, और जो सेठ उन्हें साधारण भोजन कराता था उसकी आपस में और दूसरों से भी बड़ी निन्दा करते थे।

"फल यह हुआ कि उस विशृंखल और अव्यवस्थित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के बीच में भिक्खुओं का नियमित भोजन जुटानेवाले 'अनाथपिंडक' अनाथपीड़क बनते चले गए। जो दीन-हीन जन संघ में सम्मिलित नहीं हो पाए थे उन्हीं के शोषण द्वारा वे भिक्खुओं का पोषण करने लगे। इस प्रकार एक विचित्र और विरोधाभासात्मक धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था की सृष्टि हुई। जीवन की कोई उपयोगिता स्वीकार न करनेवाला मृत-समाज अपने-आप शान्त हो जाता है, इसलिए कुछ काल तक शान्ति और अहिंसा का वातावरण समाज में अवश्य छाया रहा, पर वह श्मशान की शान्ति थी। शान्ति और अहिंसा की आवश्यकता संसार में बराबर रही है और आज भी है। पर उसका आधार भीतर की ठोस शक्ति होनी चाहिए, दुर्बलता नहीं।"

मैं एक अजीब पागलपन की-सी मनःस्थिति में बकता चला जा रहा था।

लीला चुप-चाप सुन रही थी। उसके मन में निश्चय ही बहुत से प्रश्न उठ रहे होंगे। पर मेरे मन के तत्कालीन बहाव को वह सम्भवतः प्रश्नों द्वारा रोकना नहीं चाहती थी।

मैं कुछ देर तक चुप रहकर फिर जैसे अपने ही आप से कहता गया, "असल बात यह है कि केवल 'हृदय-परिवर्तन' सम्बन्धी उपायों द्वारा ही मानव-समाज में स्वतन्त्रता, भ्रातृत्व और समता की भावनाएँ स्थापित नहीं की जा सकतीं। बुद्ध और ईसा की तरह जो बड़े-बड़े धार्मिक नेता अपने 'मिशन' में व्यावहारिक रूप से असफल सिद्ध हुए, उसका यही कारण था कि वे बहुत ही उच्चकोटि के कवि थे, पर योग्य समाज-संचालक नहीं। उनकी कविता ने मानव-समाज को बहुत अधिक प्रभावित किया, इसमें सन्देह नहीं, पर उनकी बनाई हुई व्यावहारिक व्यवस्था मानव-प्रकृति में और समाज में तनिक भी सुधार न कर सकी, बल्कि उससे सामाजिक प्रगति का पथ रुद्ध ही होता चला गया।

"बुद्ध की अव्यावहारिकता के कारण भिक्षु-संघ एक ओर समाज में जीवन के प्रति विराग की भावना फैलाता था, दूसरी ओर अव्यवस्था की सृष्टि करता था। जीवन के प्रति विराग की जो भावना उन्होंने फैलाई वह युग-युगों तक इस अभागे देश में स्थायी होकर रह गई। आज तक उसका प्रभाव पूरी तरह नहीं मिटा है।

"बुद्ध के बाद धीरे-धीरे यह स्थिति पैदा होती चली गई कि भिक्षुओं के लिए अपने संघ की, अपनी बिरादरी की, रक्षा का प्रश्न मुख्य हो उठा और शान्ति, प्रेम, अहिंसा, समता और सद्धर्म की, रक्षा का प्रश्न एकदम गौण हो गया। फल यह हुआ कि अपने पोषणकर्ता सेठों की शक्ति क्षीण होते देखकर उन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों का साथ देना आरम्भ कर दिया। वे यवनों, शकों और हूणों की छत्रच्छाया में सुरक्षित रहने का उद्योग निरन्तर करते रहे, जिनके कारण साधारण जन-जीवन और अधिक विशृंखल, अव्यवस्थित और पीड़ित हो रहा था।

"इस प्रकार युग-युग में भारत माता विषण्ण होकर मिट्टी की उदासीन प्रतिमा बनी रही। युग-युग में वह वास्तविक जीवन से विमुख होकर भीतर से क्षुब्ध और बाहर से विदेशियों द्वारा आक्रान्त होती चली गई और आज जब हजारों वर्ष बाद, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक विशेष मोड़ के कारण, उसे स्वतन्त्रता मिली है, तब भी पिछले युगों की जड़ता के अभ्यास के फलस्वरूप, उसके भीतर पराक्रम का वह तेज प्रज्वलित नहीं हो पा रहा है जो उसे आज के विश्वव्यापी जीवन की विषमता

के बीच में एक नई, ठोस और सामञ्जस्यात्मक शक्ति के रूप में खड़ा कर सकता था और जन-जीवन में एक नई चेतना ला सकता था।

"केवल भारत की ही नहीं, सारे विश्व के जन-जीवन की आज वही स्थिति है। अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं के मुखों से विश्व-शान्ति, मानवीय स्वतन्त्रता और मानवीय कल्याण के पक्ष में बड़ी-बड़ी लच्छेदार, कवित्व भरी आदर्शात्मक और छायावादी बातें प्रतिदिन सुनने को मिलती हैं, पर जहाँ वास्तविकता का प्रश्न आता है वहाँ कोई एक क्षण भी अपना हठधर्म छोड़ने को तैयार नहीं है। संसार के मुट्ठी-भर राजनीतिक नेताओं और अर्थपतियों की मानसिक विकृति और अत्यन्त संकीर्ण न्यस्त स्वार्थों के कारण सारी मानवता खून के आँसू रो रही है। और तारीफ की बात यह है कि उन विश्वघाती नीच स्वार्थों की सफाई में दुहाई दी जा रही है बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और गांधी की—उन महान् आत्माओं की जिनके तरीकों के सम्बन्ध में भले ही ज्ञानियों का मतभेद हो, पर जिनके अन्तर की समुद्रवत् गहराई से उमड़े हुए व्यापक विश्व-प्रेम की सचाई और सहृदयता में किसी को कणमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता।

"आज की मानवता आज के ढोंगी विश्वनेताओं के मुखों से बार-बार दुहराए जानेवाले आदर्शात्मक वाक्यों से एकदम ऊब चुकी है। ऊँची-से-ऊँची उड़ान भरनेवाली काव्यात्मक सूक्तियों और आदर्शमूलक स्वयंसिद्धियों की कोई कमी आज मानव-जगत् में नहीं है। ज्ञान-विज्ञान की ऊँची-से-ऊँची चोटियों को मानवता मौन्ट एवरेस्ट की चोटी को छूने के बहुत पहले ही छू चुकी थी। वह महाज्ञान अपनी विविधता के साथ शताब्दियों से पुस्तकों के रूप में मानवता के बीच में प्रसारित होता चला आता है। संसार में सबसे अधिक निपीड़ित देश भारत में उस महाज्ञान की उत्पत्ति सबसे पहले हो चुकी थी और वहाँ विभिन्न रूपों में उसका विकास या ह्रास गांधी के युग तक होता चला गया है; पर उससे क्या लाभ मनुष्य-समाज को हुआ है? ज्ञान और आदर्श की दृष्टि से कल्पना के आकाश के उच्चतम स्तर तक पहुँचने पर भी वास्तविकता की दृष्टि से आज मानवता नरक के निम्नतम स्तर में दम तोड़ रही है। इसलिए मैं कह रहा था कि उन्नततम आध्यात्मिक, नैतिक और कलात्मक आदर्शों के हवाई नारे आज क्रूर परिहास की तरह लगते हैं, जबकि पग-पग पर विश्व का जन-जीवन उत्तरोत्तर अधिक विकल, विशृंखल, दलित और शोषित होता चला जा रहा है। आज आवश्यकता है कठोर

यथार्थवादी उपायों और संगठित प्रयत्नों द्वारा जन-जीवन को व्यवस्थित और संतुलित करने की, सामूहिक विषमताओं को दूर करने की, आज तक के सभी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं में मूलगत सुधार द्वारा नई मानवता को एक नई समचेतनावस्था की उपलब्धि की ओर ले जाने की···"

लीला परिपूर्ण एकाग्रता और तन्मयता से मेरे स्थान-काल के ज्ञान से रहित उद्गारों को सुन रही थी। मैं बहुत दिन से अपने भीतर प्रतिपल उमड़ते रहने वाले और अपने ही मन को पीड़ित करते रहनेवाले बौद्धिक विचारों को कोई उपयुक्त श्रोता न मिलने के कारण दबाता चला आ रहा था। आज सहसा बाँध को तोड़कर वे बिखरे विचार एक ही धारा में मिलकर बरबस फूट पड़े थे। बीच में उन्हें संयत करने का प्रबल प्रयत्न भी मेरी अर्द्धचेतना कर रही थी, पर कोई फल नहीं हुआ। जब प्रवेग शान्त हुआ तब मैं उसी क्षण इस कदर संकुचित हो उठा कि लगता था जैसे लीला के आगे मैंने बहुत बड़ा अपराध कर दिया। पर लीला के मुँह के भाव से लगता था कि मेरे विचारों से पूरी तरह सहमत न होने पर भी वह स्तब्ध, चकित और किसी हद तक पुलकित भी हो रही थी। वैसे उसकी चतुर और अनुभवी आँखों ने स्पष्ट ही प्रारम्भ में ताड़ लिया था कि मैं कोई साधारण रसोइया नहीं बल्कि 'इन्टेलेक्चवल' रसोइया हूँ। यही क़ारण था कि जब मैंने खाना बनाने की नौकरी चाही थी तब वह शिष्टतापूर्ण व्यंग्य और परिहास के साथ मुझसे बातें कर रही थी। फिर भी मेरी बौद्धिकता की एक विशेष सीमा उसने अपने मन में निर्धारित की होगी। पर इस बार शायद उसे लगा कि मैं उसकी उस अनुमानात्मक सीमा को भी लाँघ गया हूँ। इसलिए वह कुछ क्षण तक स्तब्ध दृष्टि से मेरी ओर देखती ही रह गई।

इधर मैं मन-ही-मन अपनी मूर्खता पर पछताने लगा था कि नौकरी की तलाश में आए मुझे बारह घण्टे भी पूरे न हो पाए कि मैंने संगीत, काव्य, इतिहास, राजनीति और विश्व-व्यवस्था पर पूरा भाषण ही दे डाला। इतना बड़ा बौद्धिक असंयम किसी प्रकार भी उचित नहीं है, मन-ही-मन यह कहता हुआ मैं अपने-आपको कोसने लगा।

"रसोई बनाने की कला से आप संगीत-कला में अधिक निपुण सिद्ध हुए और संगीत-कला से भाषण देने की कला में," लीला ने आश्चर्य का भाव त्यागकर सहज-प्रसन्न मुद्रा में कहा। "मैं सोचती हूँ कि रसोई से आपको एकदम मुक्ति देकर

हम लोगों द्वारा आयोजित संगीत सम्मेलनों में गाने-बजाने और सांस्कृतिक गोष्ठियों में भाषण देने के लिए क्यों न नियुक्त कर लूँ। आपका वेतन भी इस उच्च स्तर की नौकरी के लिए रसोइए की अपेक्षा काफी अच्छा रहेगा।"

"ऐसा न कीजिएगा, मैं हाथ जोड़कर आपसे प्रार्थना करता हूँ," कहते हुए मैंने विनम्रता से मुस्कराते हुए उसके प्रति सचमुच हाथ जोड़ दिए। "इधर कुछ समय से मुझे रसोई बनाने में गाने, बजाने और भाषण देने से कहीं अधिक सुख मिलने लगा है, यह मैं अपने अन्तर की बात आपसे कह रहा हूँ। वैसे आप मालकिन हैं और मैं नौकर। जैसा आदेश देंगी वैसा मुझे करना ही पड़ेगा।"

"तब ठीक है," उसने पहले से भी अधिक प्रसन्न होकर कहा, "मैं जैसा उचित समझूँगी वैसा करने को कहूँगी और आजसे मेरी किसी भी आज्ञा का उल्लंघन करने या उसके सम्बन्ध में किसी तरह की बहस करने का कोई भी अधिकार नहीं रहेगा। आपके और मेरे बीच आज मेरे जन्मदिन के शुभ अवसर पर यह अलिखित 'कन्ट्रेक्ट' पक्का रहा। क्यों?" कहती हुई वह दुष्टता-भरी मुस्कान अपनी प्यारी और चंचल आँखों में झलकाती हुई अपलक और ढीठ दृष्टि से मेरी ओर देख रही थी।

लीला ने मेरे सोने का प्रबन्ध उसी 'बेलकनी' से लगे कमरे में किया जहाँ हम दोनों ने गाना गाया था। कमरे में एक स्प्रिंगदार पलंग बिछा था जिस पर एक दूधिया, झालरदार चादर बिछी थी। गद्दा बहुत मोटा, पर बहुत ही मुलायम था और तकिया उससे भी मोटा और मुलायम भी उससे अधिक। पलंग के इर्द-गिर्द दो एक ही डिजाइन के परशियन कार्पेट बिछे थे। दाईं ओर पालिश की हुई सागौन की लकड़ी का एक छोटा-सा 'रैक' था, जिस पर कुछ चुनींदा पुस्तकें सजा-कर रख दी गई थीं। पलंग के सिरहाने की ओर पलंग से जुड़ी हुई एक बत्ती थी जो बाहर को उभरे हुए हलके नीले रंग के मोटे शीशे से ढकी थी। लीला ने उसका 'स्विच' दबाया, जो पलंग ही से जुड़ा था और बत्ती जला दी। बोली, "मुझे सोने के पहले कोई एक किताब पढ़ने की आदत है। आपको भी अवश्य ही होगी। ये पुस्तकें रखी हैं। अगर इनमें से कोई जँचे तो पढ़िएगा और जब नींद आने लगे

तब बत्ती बुझाकर सो जाइएगा।"

मुझे मन-ही-मन हँसी आई जब उसने सोने के पहले पुस्तक पढ़ने के सम्बन्ध में मेरी 'आदत' का अनुमान लगाया। इतने बड़े राजकीय विलास की कल्पना उसने मेरे सम्बन्ध में खूब की, जब कि मुझे सोने के लिए किसी घर का एक कोना भी मुश्किल से प्राप्त हो पाता था।

मुझे बड़ी झिझक मालूम हो रही थी उस साफ-सुथरे और ठाठदार पलंग पर लेटने में। मैंने कहा, "यह पलंग तो किसी नौकर के लिए नहीं है। यह तो किसी राजा या रईस के लिए अधिक उपयुक्त है। कृपा करके मुझे कोई खटिया दिला दीजिए, जिस पर मैं एक दरी बिछाकर सो जाऊँगा। इससे अधिक मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"

"पर मेरे यहाँ एक भी खटिया नहीं है," उसने कहा।

"तब मैं फर्श पर ही लेट जाऊँगा," मैंने कहा, "यहाँ ज्यादा आराम रहेगा।"

"देखिए, आपने अभी से 'कण्ट्रेक्ट' तोड़ना आरम्भ कर दिया है। आप मेरे आदेश को टालने के इरादे से बहस करने लगे हैं।" उसके मुख पर कृत्रिम गम्भीरता छाई हुई थी।

"पर···पर···"

"इसमें न 'पर' के लिए कोई गुंजाइश है न 'वर' के लिए। आपको चुपचाप इसी पलंग पर बिना किसी बहस के लेट जाना होगा। समझे?"

"जी···"

"तब लेटिए। पलंग की बत्ती जली है, इसलिए कमरे की बड़ी बत्ती की कोई जरूरत नहीं है। मैं इसे बुझा देती हूँ।" कहकर उसने ऊपरवाली बत्ती का स्विच ऑफ कर दिया। फिर बोली, "पलंग की बाईं ओर जो 'स्विच' है वह नौकर को बुलाने की घण्टी का है। जब किसी चीज की जरूरत पड़े तो शम्भू को बुला लीजिएगा। अच्छा, अब मैं भी नीचे जाकर सोती हूँ। कल सुबह तक के लिए नमस्ते!" कहकर वह चली गई।

मैंने कुरता उतारा और नई गंजी पहने चुपचाप पलंग पर लेट गया। मैं समझ गया था कि इस सम्बन्ध में लीला से अधिक बहस या हठ करना सचमुच बेकार है।

लेटते ही मैं रैक पर सजाई गई पुस्तकों का अवलोकन करने लगा। सचमुच

उसमें चुनींदा पुस्तकें सजाई गई थीं। शेक्सपीयर की पूरी ग्रन्थावली का बढ़िया चमड़े की बँधाईवाला कीमती संस्करण, शेली की कविताएँ, गेटे का 'फॉस्ट', टालस्टाय की बड़ी और छोटी कहानियों का एक सुन्दर संकलन, रूसो का 'सोसल कण्ट्रेक्ट' और 'कनफेशन्स', अरविन्द का 'दैवी जीवन,' दाँते का 'डिवाइना कामेडिया', चेखव के नाटक और कहानियों के दो संग्रह, गोर्की की कहानियाँ और 'मदर', रवीन्द्रनाथ की 'संचयिता', अँगरेजी गीतांजलि और 'पर्सनैलिटी', उमर खैयाम की रुबाइयों के अँगरेजी अनुवाद का सुन्दर, सचित्र संस्करण, गांधीजी के निबन्धों और भाषणों का एक संग्रह, प्रेमचन्द की कहानियाँ, प्रसाद की 'कामायनी', निराला की 'अपरा', पन्त की 'पल्लविनी', महादेवी की 'दीपशिखा', शरत् का 'नारीर मूल्य', फ्रायड का 'स्वप्नों की व्याख्या', युंग का 'मनोवैज्ञानिक रसायन शास्त्र', प्लेटो का 'रिपब्लिक', मूर का 'युटोपिया', मार्क्स की 'पूँजी', इलियट का 'वेस्ट लैण्ड', प्रगतिवादी कविताओं का एक अँगरेजी संग्रह, कालिदास ग्रन्थावली, कुछ साधारण लेखकों द्वारा लिखी गई योग-सम्बन्धी पुस्तकें आदि करीने से सजी हुई थीं।

बहुत दिनों से कोई सुयोग न मिलने से मेरा पढ़ने का अभ्यास छूट गया था। सात-आठ वर्ष पहले मैं इसी कलकत्ता में इम्पीरियल लाइब्रेरी में जाकर घण्टों बैठा रहता और विभिन्न विषयों की पुस्तकें पूरे मनोयोग के साथ पढ़ता रहता था। पढ़ने का एक ऐसा अमल और नशा-सा मुझे हो गया था जो किसी तरह छूटता ही नहीं था। उसके बाद जीवन की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बदलीं कि मन ही बिखर गया और पुस्तकगत ज्ञान की ओर से कठोर वैराग्य उत्पन्न हो गया। इसलिए आज जब मेरे मन की चुनी हुई पुस्तकें मुझे मिलीं तब उन पर सहसा मैं इस तरह टूट पड़ा जैसे बहुत दिनों का भूखा बाघ रुचि के अनुकूल शिकार पर सहसा पूरी ताकत से झपट पड़ता है।

पर जब मैं एक-एक करके उन पुस्तकों को इस इरादे से उलटकर देखने लगा कि मन की तत्कालीन स्थिति के अनुसार कौन पुस्तक मेरे अनुकूल पड़ेगी तब उत्साह ठण्डा पड़ने लगा। एक अजीब-सी जड़ता ने मेरे मन और मस्तिष्क को जैसे घेर लिया था। किसी भी पुस्तक में मन नहीं लग पाता था। लगता था, बहुत दिनों से पठन-पाठन के क्षेत्र में अनाहार के कारण मेरी ज्ञान की भूख ही जैसे मर गई है। फिर भी किसी तरह जी कड़ा करके मैं विशुद्ध कुतूहलवश योग और रहस्य-

वाद सम्बन्धी एक पुस्तक पढ़ने लगा। पुस्तक जहाँ भी खुलती थी मैं उसी पृष्ठ को पढ़ने लग जाता था। कोई निश्चित क्रम मैं रखना नहीं चाहता था। जहाँ भी पढ़ता, वहीं लगता था कि विश्व-जीवन के मूल रहस्यों के सम्बन्ध में कोई बड़ी गहरी बात कही जा रही है। ऐसा अनुभव होता था जैसे सृष्टि के मूल केन्द्र-बिन्दु का झिलमिला आभास लेखक की भीतरी आँखों के आगे दूर ही से झलक चुका हो और उस बिन्दु तक पहुँचने के लिए वह चिद्गगन के असीम शून्य में बिखरे हुए अनन्त भूलभुलैया चक्करों को एक-एक करके पार करने के उद्देश्य से उनका सूक्ष्म विश्लेषण करता चला जा रहा हो, पर एक भी चक्कर का कूल-किनारा न पाकर वह जैसे अपने मस्तिष्क द्वारा ऊर्णनाभ की तरह उत्पन्न की गई उलझनों में स्वयं उलझता चला जा रहा हो—इस दृढ़ विश्वास के साथ कि उन अनन्तव्यापी उलझनों में उलझते और उनका विश्लेषण करते चले जाने का अर्थ ही दिव्य जीवन का उपभोग करना है। लेखक की रहस्यात्मिका चेतना-शक्ति निःसन्देह बहुत ही तीक्ष्ण और सान पर चढ़ी हुई मालूम होती थी, पर अन्त में वह जैसे किसी भी परिणाम पर नहीं पहुँच पाती थी। उकताकर मैंने उस पुस्तक को रख दिया।

उसके बाद मैं मूर का 'युटोपिया' उठाकर पन्ने पलटने लगा। एक विशेष स्थान पर मेरी आँखें ठहर गईं और मैं लगातार कई पन्ने बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ गया। आदिकाल से मानव-जाति ज्ञात में या अज्ञात में सामूहिक जीवन की जिस सुन्दर, शान्तिपूर्ण, सहज विकासशील आदर्शात्मक व्यवस्था का अस्पष्ट स्वप्न देखती चली आ रही है उसी का एक मनोरंजक नमूना उस पुस्तक का लेखक कई शताब्दी पूर्व उपस्थित कर गया था। उस स्वप्न की उपलब्धि का कौन-सा व्यावहारिक उपाय लेखक बताता है, यह जानने के लिए मैं कुछ देर तक इधर-उधर पन्ने उलटता रहा, पर जल्दी ही मन और आँखें थक गईं और मैंने पुस्तक रखकर बत्ती बुझाकर आँखें बन्द कर लीं।

जब आँखें खुलीं तब सूरज निकल चुका था। लीला मेरे पलंग के पास खड़ी 'युटोपिया' के पन्ने उलट रही थी। स्पष्ट ही वह मेरे जागने का इन्तजार कर रही

थी। मेरी आँखों में ऐसा मादक आलस्य समाया हुआ था कि उठकर लीला का स्वागत करने की तीव्र इच्छा होने और बार-बार आँखें खोलते रहने पर भी पलकें बरबस मुँद आती थीं। लीला ने पुस्तक बन्द की और मेरी ओर देखा। उस क्षण मेरी आँखें खुली थीं। मुझे जगा देखकर उसने बड़ी ही मीठी मुस्कान मुख पर झलकाते हुए बड़े ही कोमल और स्नेह-सने स्वर में कहा, "नींद ठीक से आ गई थी रात में?"

मैं फिर भी लेटे ही रहना चाहता था। ऐसे भयंकर आलस्य का अनुभव मुझे सम्भवतः जीवन में पहली बार हो रहा था। फिर भी मैं बलपूर्वक अपनी तामसिक प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त करके उठ बैठा। दोनों हाथों से आँखें मलते हुए मैंने कहा, "ऐसी गहरी नींद आई कि कुछ पूछिए मत। अभी तक एक अजीब-से नशे की खुमारी बनी हुई है और अगर चाहूँ तो अभी और घण्टों तक बेखबर सो सकता हूँ।"

"उठकर हाथ-मुँह धो लीजिए, चाय पी लीजिए। उसके बाद आपको दिन-भर की छुट्टी है। जितनी देर तक जी चाहे, सोते रहिएगा। कोई आपको जगाने नहीं आएगा।"

"लगता है जैसे इस पलंग पर कोई तिलिस्म छिपा है, वरना ऐसी जड़ता तो मुझमें इसके पहले कभी छाई नहीं थी।"

लीली पास ही, दक्षिण की ओर, एक दरवाजे के पास गई और पीतल की मूठ पकड़कर उसने किवाड़ खोला। फिर बोली, "आइए, यहाँ हाथ-मुँह धो लीजिए।"

मैं अनिच्छा के साथ उठा और उस दरवाजे के भीतर गुसलखाने में प्रवेश करके मैंने भीतर से किवाड़ बन्द कर दिया। गुसलखाना बहुत ही साफ, सफेद और चिकने 'टाइलों' से पटा था। गरम और ठण्डे पानी के दो नल अलग-अलग लगे हुए थे। हाथ धोने के लिए दीवार पर एक 'सिंक' अलग लगा हुआ था। 'शावर-बाथ' का यन्त्र भी लगा था। ऊपर एक बड़ा-सा शीशा लगा था जिसके नीचे तेल, साबुन, कंघी, दंत-मंजन, दाँत माँजने का नया ब्रुश और नीम के दो दतौन रखे थे। एक खूँटी पर एक बड़ा-सा तौलिया, एक साफ धोती, एक अण्डर-वियर और एक नई बनियाइन, इतनी चीजें टँगी थीं।

मुखारी करके, नहा-धोकर जब मैं बाहर निकला तब लीला मेरे पलंग के पास ही एक सोफा पर बैठी हुई कोई पुस्तक पढ़ रही थी या पढ़ने का स्वाँग रच रही थी। कमरे में प्रवेश करके जब मैंने बाहर से गुसलखाने का दरवाजा बन्द किया

तब लीला ने मेरी ओर देखा। पुस्तक बन्द करके उसे रैक पर रखती हुई बोली, "आपके लिए एक चीज मैं कल ही लाकर रख देना चाहती थी, पर भूल गई। आज अवश्य ले आऊँगी।"

"सभी चीजें तो रखी थीं, अब और कौन चीज आप लाएँगी?"

"नहीं, उसके बिना सब अधूरा ही रह जायगा।"

"आखिर क्या चीज है वह?"

"शेविंग सेट।"

मैं हँस पड़ा। बोला, "मैं महीनों बिना दाढ़ी बनाए रहा हूँ, इसलिए उसकी कोई याद ही मुझे नहीं रहती।"

"घबराने की कोई बात नहीं है। धीरे-धीरे याद करना सीख जायँगे आप।" कहकर वह दुष्टतापूर्वक मुस्कराने लगी। मैं अकारण ही कुछ झेंप-सा गया।

"अब चलिए, नीचे चलकर चाय पी जाय," उसने कहा।

"यहीं मँगा लीजिए न, नीचे चलकर क्या करेंगे," अपने पलंग पर बैठते हुए मैंने कहा।

"बड़े आलसी हैं आप!" कहती हुई वह स्नेहपूर्वक मुस्कराई और फिर उसने बिजली की घण्टी का बटन दबाया।

केवल दो दिन पहले यदि कोई मुझ पर यह आरोप लगाता कि 'तुम आलसी हो,' तो इस आरोप को मैं निराधार समझकर और असम्भाव्य मानकर आरोप लगानेवाले की बुद्धि पर तरस खाकर मुस्करा देता। पर आज जब लीला के मुँह से अनायास ही, विशुद्ध कौतुकवश, इस तरह का मन्तव्य निकल पड़ा तब क्षण-भर के लिए मेरी रीढ़ से होकर एक कँटीली चुभन की-सी लहर दौड़ गई। मुझे लगा जैसे सचमुच आलस्य का कीड़ा केवल एक ही दिन के जीवन-परिवर्तन के फलस्वरूप मेरी अन्तरात्मा में प्रवेश कर गया है।

शम्भू आया। लीला ने उससे ऊपर ही चाय ले आने के लिए कहा। वह गया और थोड़ी देर बाद एक बड़े 'ट्रे' में चाय के अलावा नाश्ते के लिए बहुत-सी चीजें ले आया—टोस्ट, पकौड़ियाँ, राजभोग, सन्देश, सेब, चीकू आदि-आदि। लीला के और मेरे बीच में एक न बहुत बड़ी, न बहुत छोटी मेज लगाकर उस पर उसने सामान सजाकर रख दिया। लीला ने दो प्यालों में चाय बनाई और एक टोस्ट उठाकर दांतों से धीरे-धीरे चूहे की तरह कुतरती हुई बोली, "लीजिए आप

भी।" मैंने बड़ी फुरती से दो टोस्ट खाए, फिर पकौड़ियों पर हाथ साफ किया, फिर एक बड़ा-सा राजभोग उठाकर मुँह में डाला और उसके बाद दो सन्देश चट कर गया। लीला ने एक टोस्ट के अलावा और कुछ नहीं लिया और जब तक मैं दूसरी चीजों पर टूटा हुआ था तब तक वह एक चाकू से सेब और चीकू छील-छीलकर एक प्लेट में उनके टुकड़े बड़ी सफाई से काट-काटकर रखती जाती थी।

जब मैं एक प्याला चाय पी चुका तब उसने सेब और चीकू मेरी ओर बढ़ा दिए। इस बीच उसकी अपनी चाय ठण्डी हो चुकी थी।

"आप मुझे खिलाने के चक्कर में पड़ेंगी तो फिर उस चक्कर का कोई अन्त ही नहीं मिलेगा, इसलिए आप अपनी चाय ठण्डी न करें," मैंने कहा।

वह बड़े ही स्नेहपूर्ण भाव से मन्द-मन्द मुस्कराई। पीछे से बोली, "मुझे डॉक्टर ने चाय पीने के लिए मना कर रखा है और सच पूछिए तो चाय मुझे कुछ रुचती भी नहीं। मैं केवल आपका साथ देने के लिए पीने बैठी हूँ; और एक विचित्र बात यह है कि मुझे गरम की अपेक्षा ठण्डी ही चाय अच्छी लगती है।"

"तभी आपका मन इतना ठण्डा रहता है—ठण्डा मट्ठा, ठण्डी चाय, सभी ठण्डी ही चीजें आप को भाती हैं।"

मैंने यद्यपि बिना कुछ सोचे, बिना किसी उद्देश्य के यह बात कही थी, तथापि लीला सुनकर ऐसी गम्भीर और प्रश्न-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखने लगी जैसे मेरे कथन में कोई अत्यन्त निगूढ़ रहस्यपूर्ण संकेत छिपा हो।

"आपकी दृष्टि में क्या मेरी 'ठण्डी प्रवृत्ति' से मेरे स्वभाव में कोई कमी रह जाती है?" उसने बड़े ही गम्भीर ढंग से यह प्रश्न किया।

मुझे बड़े जोरों से हँसी आ गई। मेरी हँसी देखकर पहले तो लीला बहुत झेंपी फिर जैसे साहस बटोरकर बोली, "चलिए, किसी बात पर आपको खुलकर हँसी तो आई। कल से, जब से आप आए हैं, हर समय आपके उदास चेहरे पर एक गम्भीर चिन्ता की-सी अमिट छाप देखती चली आई हूँ। देखकर मुझे ऐसा अनुभव होता रहा है जैसे आप अपने को एक बिलकुल ही अपरचित देश में, एकदम विजातीय वातावरण में पाकर भीतर-ही-भीतर प्रतिक्षण सहमे, सिमटे और सकुचे हुए-से रहते हैं, बाहर से चाहे कैसी ही बातें क्यों न करते हों। देखकर और सोचकर मुझे मार्मिक पीड़ा होती थी। पहले ही क्षण से मैं यह चाहने लगी थी कि आप बिना किसी संकोच के यहाँ अपना ही घर समझें और इतमीनान से रहें। पर लगता था जैसे

कोई बात आप के मन को पल-पल में रोकती और टोकती चली जा रही है।"

अब गम्भीर होने की बारी मेरी थी। लीला ने मेरी ओर कटे हुए फलों की तश्तरी बढ़ा दी। मैं चुपचाप खाने लगा। लीला ने भी सेब का एक टुकड़ा मुँह में डाला और फिर अपना प्याला उठाकर धीरे-धीरे ठण्डी चाय पीने लगी। अपनी चाय समाप्त करके उसने मेरे प्याले में फिर एक बार गरम चाय उँडेली और दूध और चीनी मिलाकर उसे मेरी ओर बढ़ा दिया।

चाय पीते हुए अशोभन मौन को भंग करने के इरादे से मैंने कहा, "बहुत खा गया। सुबह-सुबह इतना खाने की आदत मेरी कभी नहीं रही। पर आपने इतनी अच्छी-अच्छी चीजें सजाकर रखी थीं कि मुझसे रहा न गया। इससे आलस घटने के बजाय बढ़ता चला जा रहा है।"

"बस अब आप आराम कीजिए, मैं जाती हूँ। मुझे दो-तीन जगह मिलने जाना है और 'मार्केटिंग' भी करना है।" कहकर वह उठी।

शम्भू एक तश्तरी में सौंफ, सुपारी, धनिया आदि मसाले ले आया। मैंने थोड़ी-थोडी सभी चीजें लेकर मुँह में डाल लीं।

जब लीला चली गई और शम्भू भी सभी चीजें उठाकर, मेज साफ करके चला गया तब मैं सचमुच आलस्य का अनुभव करता हुआ पलंग पर लेट गया और 'युटोपिया' खोलकर पढ़ने लगा। पुस्तक मुझे अधिकाधिक दिलचस्प लगती चली जा रही थी। पन्द्रहवीं शताब्दी के घोर सामन्ती युग में कोई आदमी इस तरह के समुन्नत और प्रगतिशील विचार रख सकता था, इस बात पर जैसे विश्वास ही नहीं होना चाहता था। प्रायः एक घण्टे तक मैं वह पुस्तक पलंग पर चित लेटा हुआ पढ़ता रहा। उसके बाद आँखें झपने लगीं और मैं सो गया।

जब आँखें खुलीं तब देखा, पास ही बैठी हुई लीला चमड़े के एक बक्स में कपड़े सजाकर रख रही है। कपड़ों को देखने से साफ ही पता चलता था कि वे मेरे लिए हैं। मैं आँखें मलता हुआ उठ बैठा। मेज पर नौ सौ निन्यानबे नम्बर के स्टेट एक्सप्रेस सिगरेट के दो टिन, एक बण्डल दियासलाई और पीले रंग की एक राखदानी रखी हुई थी। मेज पर जिस छोटे से रैक में किताबें सजाकर रखी हुई थीं उसके नीचे एक सुन्दर कलात्मक नमूने की टाइम-पीस रख दी गई थी। वहीं पर चमड़ानुमा प्लास्टिक का एक बहुत ही छोटा-सा नया बक्स खोलकर रख दिया गया था जिसमें दाढ़ी बनाने का पूरा सामान सजा हुआ था।

मेरी ओर लीला की पीठ थी। मैंने कहा, "सिगरेट के ये टिन किसके लिए आप लाई हैं ?"

लीला उसी तरह कपड़ों को सजाती हुई मेरी ओर बिना मुड़े ही धीमे स्वर में बोली, "जिसका यह कमरा है उसके लिए।"

"कमरा तो आप ही का है।"

"था, अब नहीं है।"

"तब किसका है अब !" बहुत-कुछ समझते हुए भी दुष्टतापूर्वक मैंने पूछा।

लीला फिर भी मेरी ओर नहीं मुड़ी। उसी तरह पीठ किये रही। पहले से भी धीमे स्वर में बोली, "इस प्रश्न का उत्तर आप जानते हैं।"

"मैं इतना-भर जानता हूँ कि कल रात से इस कमरे का पलंग मेरे कब्जे में है और मैं इस दृढ़ता से इस पर कब्जा जमाए बैठा हूँ कि अभी तक इसे छोड़ने का नाम नहीं लेता। पर इस कमरे का मालिक तो मैं नहीं हूँ और जब आप भी नहीं हैं तब अवश्य ही कोई दूसरा होगा। वह भाग्यशाली व्यक्ति कौन है मैं यही जानना चाहता हूँ।"

"वह भाग्यशाली व्यक्ति अभागा बने रहने में सुख पाता है। पर वह सिगरेट पीना अवश्य ही पसन्द करता होगा, ऐसा मेरा अनुमान है।" तब भी लीला ने मेरी ओर नहीं देखा।

"आप तो मुझसे इस कदर नाराज हैं कि मेरी ओर देखना ही नहीं चाहतीं। चाय पीने के समय से लेकर इस समय के बीच केवल एक ही अपराध मुझसे हुआ है। यदि वह अपराध सचमुच इतना बड़ा है कि उसके कारण आप मेरा मुँह तक देखना न चाहें तो मैं उसके लिए आप से आन्तरिक क्षमा चाहता हूँ।"

इस बार लीला ने मुड़कर तिरछी दृष्टि से मेरी ओर देखा। दो सुन्दर, भावपूर्ण और बड़ी-बड़ी आँखों की वह दृष्टि केवल मर्म को छूनेवाली ही नहीं थी, बल्कि डबल सर्चलाइट की तरह अन्तर के भी अन्तर में प्रकाश फेंकनेवाली थी।

"किस अपराध की बात आप कह रहे हैं ?" उसने उसी धीमे किन्तु गहन भावरस-भरे स्वर में कहा।

अद्भुत जादू से भरा था उसका वह अज्ञात भाव-वेदना से बोझिल स्वर। उसे सुनकर मेरे अन्तर का तार-तार एक निराली ही पुलक-पीड़ा की मीड़ से झनझना उठा।

"यह कि घर के किसी काम में हाथ बटाने के बजाय मैं रात-भर की गाढ़ी नींद के बाद भी इतनी देर तक बेखर सोया रहा।" अपने स्वर में मुझे आन्तरिक क्षमा-याचना का भाव भरा हुआ-सा लगा।

"आप बड़े वहमी हैं," उसी दबे हुए स्वर में बोलती हुई लीला इस बार कुछ मुस्कराई। पर उस मन्द मुस्कान में भी मुझे एक अपूर्व विह्वलता निहित-सी लगी। उसने अभी तक केवल गरदन ही मेरी ओर लौटाई थी, पीठ नहीं और उसकी वह भावाकुल तथापि बुद्धि द्वारा नियन्त्रित तिरछी दृष्टि! जैसे उसके अन्तर की अगाधता पूरी-की-पूरी उन आँखों के महाकाश में आकर छा गई हो!

"ठीक है, मैं अवश्य वहमी हूँ," मैंने कहा, "पर मेरा वह वहम तभी दूर होगा जब आप इस बक्स से खेलना बन्द करके मेरे सामने आकर विराजने की कृपा करें।"

"इस जड़ बक्स से आपको इतनी ईर्ष्या क्यों हो रही है?" लीला के मुँह से जैसे वह भेद-भरी बात अनजाने ही, बरबस निकल पड़ी और साथ ही उसकी भावगम्भीर मनःस्थिति टूटकर एक नये रसोल्लास के रूप में फूट पड़ी।

"यह इस समय जड़ कहाँ रह गया है? अपनी इच्छा, ज्ञान और क्रिया का जो अंश आप काफी देर से इसे प्रदान किए हुए हैं उससे यह एक विशेष दृष्टिकोण से चेतन ही हो उठा है।"

लीला खुलकर खिलखिला पड़ी। बक्स बन्द करके उसे उठाकर उसने एक कोने में रख दिया और मेरे पलंग के सामनेवाली कुरसी पर बैठती हुई बोली, "आप से बातों में जीत सकना असम्भव है। अब कहिए, आप क्या कहना चाहते हैं।"

"सच बताइए, यह सिगरेट आप किसके लिए लाई हैं?"

"आप ही के लिए।"

"पर आपने कैसे अनुमान लगाया कि मैं सिगरेट पीता हूँ? जिस क्षण से आपके यहाँ आया हूँ, मैंने एक भी सिगरेट नहीं पी।"

"मुझे रमल शास्त्र का ज्ञान है। मैं आपका भूत, वर्तमान और भविष्य सब बता सकती हूँ। मुझसे आपका कोई भी भेद छिपा नहीं रह सकता, यह आप जाने रहिए।" उसके मुख पर दुष्टतापूर्ण कृत्रिम गम्भीरता छाई हुई थी।

एक-चौथाई पल के लिए मेरी आँखों के आगे भ्रम का-सा जाल छाया रहा

और उसकी आँखों की भेद-भरी दृष्टि मुझे जैसे किसी अनजानी दुनिया की चेतना की ओर खींच ले गई। पर तत्काल ही मैं सँभल गया। अपनी मूर्खता पर मुझे मन-ही-मन हँसी आई। सचमुच रमल-शास्त्रवाली बात बड़े मजे की रही! फिर भी मुझे दो बातों पर बड़ा आश्चर्य हो रहा था। एक तो यह कि जब मैं पहली बार उससे मिला था और मैंने नौकरी के लिए निवेदन किया था तब मेरा फटा-हाल और अस्त-व्यस्त हुलिया देखकर भी वह पहले ही क्षण से यह ताड़ गई थी कि मेरा बौद्धिक स्तर औसत रसोइए से ऊँचा है और पहले ही वार्तालाप से—मेरी किसी विशेष बात से और व्यवहार से मेरा तनिक भी परिचय पाए बिना ही—वह मेरे साथ बड़े ही आदर से पेश आने लगी थी। दूसरी बात यह कि सिगरेट के सम्बन्ध में मेरे बिना कुछ कहे और मुझे सिगरेट पीते हुए देखे बिना ही वह दो बढ़िया टिन ले आई थी। मैंने सोचा कि वह रमल-शास्त्र चाहे जानती हो या न जानती हो, पर उसकी सहज प्रज्ञा बड़ी ही पैनी है।

"तो आप मेरा भूत, वर्तमान और भविष्य सब बता सकती हैं?" विशुद्ध विनोद की मनःस्थिति में मैंने कहा।

"जी हाँ," उसी कृत्रिम गम्भीरता से वह बोली।

"तब बताइए न, भूत में मैं किन-किन चक्करों में रहा हूँ और भविष्य में मुझे कहाँ-कहाँ भटकना है?"

"ये सब गूढ़ बातें इस तरह नहीं बताई जातीं। पहले आपको मेरा शिष्यत्व स्वीकार करना होगा, बाकायदा दीक्षा लेनी होगी, तब···"

"बाकायदा दीक्षा के लिए मुझे क्या करना होगा, आप बता दें। आप जैसा कहेंगी मैं वैसा ही करूँगा।"

"इसके लिए समय और साइत निकालना होगा, यों ही थोड़े ही आरम्भ किया जायगा।"

"अच्छी बात है, आप जब भी कहेंगी, मैं तभी आप से दीक्षा ले लूँगा। पर एक बात आप सच-सच बताएँ। यह तो स्पष्ट ही है कि रमल-शास्त्र के अलावा कोई एक और 'शास्त्र' निश्चय ही ऐसा है जिससे आपको यह पता लगा है कि मैं सिगरेट पीता हूँ। वह कौन 'शास्त्र' है, क्या आप बताने की कृपा करेंगी?"

"बताती हूँ। पहले आप टिन खोलिए और सिगरेट पीजिए।"

मैंने टिन उठाकर उसका ढकना खोला और फिर ढकने ही में लगे हुए कटर

से डिब्बे के ऊपरवाले हिस्से को काटा। फिर एक सिगरेट निकालकर जलाकर पीने लगा।

एक कश खींचकर बोला, "अब बताइए।"

लीला उठ खड़ी हुई और मेरी बीच की उँगली पकड़कर उसके सिरे के बाएँ किनारे पर लगे हुए भूरे-पीले दाग की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करती हुई बोली, "मेरे रमल-शास्त्र के अनुसार यह दाग यह सिद्ध करता है कि आप सिगरेट पीते हैं।"

मैं उसके सूक्ष्म निरीक्षण की प्रशंसा मन-ही-मन किये बिना न रहा। वास्तव में मेरा ध्यान उसके पहले कभी अपनी उँगली के उस दाग की ओर नहीं गया था। मिसेज साइमन के यहाँ इब्राहीम और फ्रैंक के संसर्ग में मैंने बीड़ी-सिगरेट पीने की आदत बहुत बढ़ा ली थी। उसी का यह फल था, जिससे मैं स्वयं अपरिचित था। पर लीला की पैनी दृष्टि से वह छिपा न रह सका। कुछ देर तक मैं आश्चर्य से उसकी ओर देखता रह गया। उसके बाद बोला, "आपको तो गुप्त सूचना विभाग की प्रधान कर्मचारिणी होना चाहिए था। मुझे अब तनिक भी आश्चर्य नहीं होगा यदि आप मेरे अतीत जीवन का सारा हाल बता दें।"

"पर आपकी उँगलियाँ हैं बहुत सुन्दर—लम्बी-लम्बी, पतली-पतली, बड़ी ही लचीली और अनुभूतिशील। कल जब आप सितार बजा रहे थे तब इन उँगलियों की जादू की-सी गति देख-देखकर मैं चकित हो रही थी।"

इतने में शम्भू ने आकर सूचना दी कि खाना तैयार है।

"उठिए, नीचे चला जाय।"

"क्या यहीं खाना नहीं आ सकता?" मैंने कुछ दबी हुई जबान से कहा।

"ना ऽ ऽ ऽ!" लीला बच्चों की तरह मचलती हुई, अपने दुबले-पतले अंगों को मरोड़ती हुई, और निश्छल स्नेह और शील से भरी मुस्कान मुख पर झलकाती हुई बोली। "आप तो अब आलस की हद करने लगे हैं। चलिए! उठिए···!" उसके बहुत ही मीठे और रसीले स्वर में मचलने के साथ ही अनुनय का भी पुट भरा था।

बेचारी लीला! न जाने कितने लम्बे अरसे के बाद आज उसे किसी के आगे मचलने का अवसर मिला होगा? न जाने उसके सूने बचपन के कितने कुचले हुए अरमान आज अचानक एक अत्यन्त लघु आकर्षण-बिन्दु को पाकर उफन उठे

होंगे ! केवल बचपन ही नहीं, अपने ही भीतर के सहस्रों अवरोधों से दबा हुआ उसका नीरस यौवन भी जैसे बचपन की चेतना के साथ एक-रूप होकर उसके अनजान ही में हिलारें मारने लगा था ।

उसने कहा था, "मैं कुरूप हूँ ।" अपनी कुरूपता की चेतना निश्चय ही उसके मन को हर समय, ज्ञात या अज्ञात रूप से कचोटती रहती होगी; और वास्तव में, शारीरिक गठन के हिसाब से, वह सुन्दर थी भी नहीं । पर जो भाव-वेदना की ताजगी, जो निश्छल रस-विह्वलता उस समय उसकी आँखों में, मुख में, वाणी में और अंग-अंग के अणु-अणु में इठला रही थी वह उसे एक अपूर्व सौन्दर्य और माधुर्य प्रदान कर रही थी; देखकर मैं केवल मुग्ध ही नहीं, गद्‌गद भी हो उठा। मेरे मुख पर अंकित वह मोह-भाव निश्चय ही उसकी अन्तर्भेदिनी आँखों से छिपा न रहा होगा ।

"चलिए !" कहकर मैं पलंग की ममता त्यागकर उठा ।

नीचे जाकर जब हम दोनों भोजन के कमरे में मेज के आर-पार आमने-सामने बैठे तब लीला ने एक बार सलज्ज तथापि कुतूहली दृष्टि से मेरी ओर देखा । उसके बाद बहुत ही शान्त भाव से, संकोच-भरे स्वर में बोली, "आज शाम के लिए आपको एक जगह से निमन्त्रित किया गया है ।"

"मुझे निमन्त्रित किया गया है ?" अत्यन्त आश्चर्य से उसकी ओर देखते हुए मैंने कहा । "इस कलकत्ता में कौन व्यक्ति ऐसा है जो मुझे निमन्त्रित करना चाहेगा —सिवा पुलिस के···" पुलिस का नाम मुँह से बरबस निकलते ही मैं कुछ सिटपिटा गया । पर निकलने के बाद उसे वापस लेने का कोई उपाय नहीं था ।

"पुलिस क्यों ?" घबराई हुई दृष्टि से लीला ने पूछा ।

"जिस आदमी के न कहीं रहने का ठिकाना हो न भोजन का, जिसे रात में किसी पार्क या फुटपाथ पर सोने के सिवा और कोई जगह न मिलती रही हो, उस पर पुलिस के सिवा और कौन कृपा-कटाक्ष करना चाहेगा !"

"ओह, यह बात है ! मैं कुछ और बात समझी थी," कुछ आश्वस्त-सी होकर लीला बोली । "यह हँसी की बात इस समय रहने दीजिए । मेरा आपसे एकान्त अनुरोध है कि आप शाम को अवश्य चलें ।"

"पर कहाँ चलने की बात आप कह रही हैं ?"

"हम लोगों की एक संस्था है, जिसका नाम है 'अग्रगामी नारी संघ ।' उन्नत

और प्रगतिशील विचारों की महिलाएँ उसकी सदस्य हैं। वहाँ आज एक बहुत विद्वान् महिला का भाषण होगा।"

"पर महिलाओं के बीच में किसी पुरुष का जाना क्या उचित होगा?"

"हम लोगों के यहाँ जब कभी किसी विशेष व्यक्ति को भाषण के लिए बुलाया जाता है तब प्रायः सभी सदस्याएँ अपने-अपने पतियों को साथ लेकर आती हैं।"

"ठीक है। पतियों को साथ में लाती होंगी; पर मेरे जैसे व्यक्तियों को···।"

"साथियों और मित्रों के लिए भी वहाँ मनाही नहीं है।"

"पर मैं न आपका साथी हूँ, न मुझे ठीक से मित्र ही आप कह सकती हैं। आया था नौकरी करने और बन गया हूँ गलग्रह—पैरेसाइट।"

"जाइए! आपने फिर एक गम्भीर बात को परिहास में बदलना शुरू कर दिया।" फिर उसी मचलने के-से स्वर में लीला बोली, जिसका एक अपूर्व मोहक प्रभाव मुझ पर पहले ही पड़ चुका था।

"नहीं लीला जी, मैं सच कहता हूँ···" मेरी अन्तर की ग्लानि का वेग फूट ही पड़ना चाहता था, पर मैंने सहसा अपने को बलपूर्वक रोका।

"बताइए, चलेंगे न?"

शम्भू आकर मेज पर खाना लगाने लगा।

मैं कुछ सोच में पड़कर नीचे की ओर देखता हुआ मौन हो रहा।

"आप तो कुछ बोल ही नहीं रहे हैं," बच्चों की तरह रूठने का-सा भाव जताती हुई लीला बोली। फिर तत्काल ही उसका स्वर—बच्चों की तरह—सहज-स्निग्ध भाव में और साथ ही एकान्त अनुनय और अनुरोध में बदल गया, "चलेंगे न? मेरी इतनी-सी बात भी क्या नहीं मानेंगे?"

मेरे अन्तर की सारी ग्लानि वह जैसे अपने निश्छल स्नेह-भरे आग्रह के गीले कपड़े से पोंछती जा रही थी, पर बेशरम और चिपचिपी ग्लानि, जैसे किसी तरह पोंछे नहीं पुँछना चाहती थी।

"आपकी बात अवश्य मानूँगा, लीला जी, आपका प्रत्येक आदेश मेरे सिर-माथे है। आखिर मैं आपका नौकर ही तो हूँ, पर···"

"देखिए, फिर आपने उसी तरह की बात शुरू कर दी। आप जानते हैं मुझे आपकी इस तरह की बातों से कितनी पीड़ा होती है। मेरा मन कहता है कि आप बहुत बड़े अन्तर्दर्शी हैं। क्यों और कैसे मेरे मन को ऐसा लगा है, मैं कह नहीं

सकती। पर यह विश्वास मेरे भीतर जम गया है, यह डिग नहीं सकता। फिर भी, मैं देखती हूँ कि आप जान-बूझकर इस तरह की बातों से मुझे पीड़ा पहुँचाना चाहते हैं। पता नहीं, इसमें क्या सुख आपको मिलता है...” कहते हुए उसकी आँखें सहसा डबडबा आईं।

मैं अत्यन्त विस्मित और लज्जित होकर उसकी ओर देखता रह गया। उसकी डबडबाती हुई आँखों का छुतहा प्रभाव मुझ पर भी पड़ने जा रहा था, पर मैंने बरबस अपने को रोका। आन्तरिक क्षोभ के साथ मैंने कहा, “नहीं लीला जी, मेरा इस प्रकार का उद्देश्य कदापि नहीं था। मैं आपको अपने अन्तर से विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि आप को पीड़ा पहुँचाने की बात मैं कभी स्वप्न में भी नहीं सोच सकता। यह ठीक है कि मैं जन्म का अभागा हूँ और जीवन की ऐसी विकट और विचित्र परिस्थितियों में मेरे दिन बीते हैं कि अपने मन के यथार्थ भावों को दूसरे के निकट ठीक तरह से रख सकने में मैं अपने को असमर्थ पाता हूँ। मेरी हर बात भीतर के बहुत से अवरोधों को हटाने के कठिन परिश्रम के बाद बाहर निकल पाती है और कई बार वे अज्ञात अवरोध हटते ही नहीं। इसलिए उन्हें लाँघने की कठिनाई से बचने के लिए कुछ चक्करदार रास्तों से होकर मैं अपनी बात को आगे ढकेल पाता हूँ। और उस ढकेकलने की क्रिया में उस मूल बात का रूप ही सम्भवतः कुछ-का-कुछ हो जाता है। यही सबब है कि केवल आप ही नहीं, प्रायः सभी व्यक्ति मुझे—मेरी बात के उद्देश्य को—गलत समझने लगते हैं। मेरे जीवन की असफलता का एक बहुत बड़ा कारण शायद यह भी है...”

मैं मानता हूँ कि लीला की तत्कालीन भावुकतापूर्ण मनःस्थिति में उसे ‘दिलासा’ देने का यह एक विचित्र ही तरीका था। उसकी भाव-वेदना को हल्का करने के बजाय मैं उलटे अपनी भाव-पीड़ा का बोझ उसके हृदय पर लादने लगा था। लीला कुछ देर तक अत्यन्त गम्भीर दृष्टि से मेरी ओर देखती रही—शायद मेरे मुख के भाव से मेरे मन के यथार्थ भाव को जानने का प्रयत्न कर रही थी, पर वह बोली कुछ भी नहीं। हम दोनों के बीच अकारण और अप्रत्याशित रूप से जैसे एक अजीब और अदृश्य-सा परदा पड़ गया।

भोजन करते समय हम दोनों के बीच कोई भी बात नहीं हुई। लीला ने एक ऐसा मौन और गहन-गाम्भीर्य का नकाब अपने चेहरे पर डाल लिया था कि शील और शिष्टाचार भंग होने के डर से उस नकाब को ऊपर उठाने का साहस ही मुझे

नहीं होता था। केवल एक बार बहुत रूखे और ठण्डे ढंग से उसने मुझसे एक प्लेट खीर और लेने के लिए कहा। मैंने जितना खाया था उतना ही मेरे गले के नीचे ठीक से नहीं उतर पाया था—उस गुरु-गम्भीर वातावरण में मैं कैसे किसी व्यञ्जन का रस ठीक ग्रहण कर सकता था। पर अनचाहे और अनजाने जितना नाराज उसे कर चुका था, उसके बाद भी उसके आग्रह की, फिर चाहे वह कैसे ही ठण्ड दिल से क्यों न निकला हो, उपेक्षा करना उचित न समझकर मैंने अनिच्छित भाव से एक प्लेट खीर और खाई।

भोजन कर चुकने के बाद मैं उठकर सीधे अपने कमरे में चला गया। वहाँ जाकर मैं 'युटोपिया' उठाकर पढ़ने लगा। पर मेरा आधा मन पुस्तक में वर्णित दिलचस्प बातों को ग्रहण करने का प्रयत्न कर रहा था और आधा मन कुछ दूसरी ही बातों की चिन्ता में उलझ जाता था। इसलिए तंग आकर मैं बीच-बीच में टहलने लगता था। टहलते-टहलते बार-बार यह विचार मेरे मन में उठता कि आज ही शाम को लीला को बिना कुछ बताए चुपचाप उस मकान से चल पड़ूँ। फिर सोचा कि बिना सूचित किए चोरों की तरह निकल जाना हीनता के साथ ही नीचता की भी पराकाष्ठा होगी, इसलिए लीला के लिए कम-से-कम एक पत्र लिख-कर अवश्य ही छोड़ जाना चाहिए। पर···पर···क्या यह भी उचित होगा ? और सोचते-सोचते मेरा दिमाग अजीब उलझनों में उलझता चला गया। इस तरह की मानसिक उलझन का अनुभव इसके पहले मैंने कभी नहीं किया था। बड़ी-बड़ी संकटपूर्ण अपूर्वकल्पित परिस्थितियाँ मेरे जीवन में आई थीं; अपने और दूसरों के जीवन से सम्बन्धित बड़ी ही जटिल समस्याओं को सुलझाने के अत्यन्त कष्टकर दायित्व भी मेरे ऊपर कितनी बार आ चुके थे; विभिन्न नारियों के निकट सम्पर्क में आने के फलस्वरूप बड़े तीखे द्वंद्वों के अनुभवों से भी मैं अपरचित नहीं था; बेला ने मेरे मर्म में जिस कँटीली चुभन का चिह्न छोड़ दिया था उसकी अनुभूति भी अभीतक बासी नहीं हुई थी। पर इस बार के अनुभव के निरालेपन से पिछली किसी भी अनुभूति की तुलना मैं नहीं कर पाता था। इसलिए नहीं कि यह नई अनुभूति पिछले सभी अनुभवों से अधिक महत्त्वपूर्ण थी। यह नई अनुभूति महत्त्व-पूर्ण थी या नहीं थी इस सम्बन्ध में कुछ भी विचार कर सकने में मैं समर्थ ही नहीं था। वह ठीक क्या है, उसका यथार्थ स्वरूप क्या है, वह अच्छी है या बुरी है, इस तरह के प्रश्न ही मेरे मन में नहीं उठ रहे थे—मेरी तत्कालीन मानसिक दशा

में ऐसे प्रश्न उठ ही नहीं सकते थे। मैं यह स्वयं नहीं जानता था कि जिस नई स्थिति में मैं संयोग से आ फँसा हूँ उसने मुझे कहाँ लाकर खड़ा कर दिया है और वह मुझे कहाँ ले जाकर पटक सकती है। सच पूछिए तो मेरी तत्कालीन मानसिक उलझनों का सबसे बड़ा कारण उस नए वातावरण की रहस्यमयता ही थी। मुझे अपने चारों ओर के अँधेरे के ऊपर एक पतला-सा कुहासा छाया हुआ दिखाई दे रहा था जिसमें बीच-बीच में कुछ दरारों के भीतर से चाँदनी की झिलमिली झलक एक निराली ही माया बिखेर देती थी।

इसीलिए मेरी उलझन कुछ अनोखे ही रेशमी मोहपाशों की हल्की-हल्की रंगीनियों में फँसकर और अधिक उलझती चली जा रही थी।

कभी टहलता, कभी बैठता और कभी लेटता हुआ मैं पाँच-पाँच मिनट के अन्तर से सुनहरे सिरेदार स्टेट एक्सप्रेस सिगरेट पीता चला जाता था और अधजले टुकड़ों को पानी से गीली राखदानी में झटके के साथ फेंकता जाता था।

सारा दिन इसी तरह बड़ी ही बेचैनी में बीता। बेचैनी का सबसे बड़ा कारण यह था कि मैं किसी भी निर्णय या निश्चय पर नहीं पहुँच पाता था। कई घण्टे बीत गए, पर लीला एक बार भी ऊपर झाँकने तक को नहीं आई। मैं जानता था कि साधारण परिस्थिति में वह कई बार कई बहानों से आती। तब क्या एक छोटी-सी बात के कारण परिस्थिति सचमुच असाधारण हो उठी है? कई तरह की विचित्र कल्पनाएँ और वहम मेरे मन और मस्तिष्क को काठ के कीड़े की तरह भीतर-ही-भीतर छेदते रहे।

जब प्रायः पाँच बजे का समय हो आया और लीला फिर भी नहीं आई तब मैंने निश्चय कर लिया कि अँधेरा होते ही मैं बिना किसी द्विविधा के चुपचाप भाग निकलूँगा। पर चुपचाप क्यों? मुझे डर या संकोच किस बात का है? इस प्रश्न ने फिर एक बार मेरे सिर को स्प्रिंग की तरह जकड़ लिया। सीधे नीचे लीला के पास जाकर उसे साफ-साफ बताकर बिदा होने में हानि ही क्या है? पर फिर यह वास्तविकता पूरे प्रकाश से मेरे सामने आई कि म्याऊँ का ठौर वहीं पर है और इस मामले में लीला का सामना कर सकने का साहस मुझमें कदापि नहीं हो सकता—कारण चाहे जो भी हो। मैं बड़े-से-बड़े जालिम का सामना कर सकता हूँ, भयंकर क्रोध, उत्कट आक्रोश और मूर्तिमान प्रतिहिंसा का मुकाबला कर सकता हूँ, पर इस घर से विदा होते समय लीला का सामना नहीं कर सकता।

तब इस स्थिति में क्या करना चाहिए ? कर्तव्य क्या है, यह सोच ही रहा था कि सहसा लीला पूरी तरह से सज-धजकर, अत्यन्त प्रसन्न—बल्कि उल्लसित—मुख लेकर, अपनी सरस स्नेह-भरी चितवन से मेरा सहज स्वागत करती हुई मेरे सामने आकर खड़ी हो गई और आते ही बड़े ही मीठे, मधुमाखे बोल से, बड़े ही तरल दुलार-भरे स्वर में उलाहना देती हुई मचल-मचलकर बोली, "अरे, अभी तक आप तैयार नहीं हुए ! देखिए आप झूठा वादा करते हैं ! आपने कहा था न चलने के लिए मेरे साथ ?"

मैं केवल हतप्रभ ही नहीं हुआ, केवल मेरी आँखों के ऊपर से सेलोफेन के चमचमाते हुए सफेद कागज की-सी पट्टी ही नहीं हटी, बल्कि गद्‌गद-स्नेह, विह्वल सम्भ्रम और शुद्ध श्रद्धा की एक अनिर्वचनीय अनुभूति भी मुझे हुई, जैसी उस क्षण के पहले जीवन में शायद ही कभी हुई हो।

कुछ क्षण तक मोह-भ्रमित व्यक्ति की तरह मैं समाधि-मग्न-सी आँखों से एकटक उसकी ओर देखता रहा; उसके बाद अचानक चौंकता हुआ-सा बोला, "बस अभी एक मिनट में तैयार होता हूँ।"

अभी इसके पहले मन-ही-मन में इस बातकी कल्पना से भी डर रहा था (यद्यपि इसकी सम्भावना मुझे तब बहुत ही कम दिखाई देती थी) कि कहीं यदि सचमुच लीला अचानक मेरे सामने आकर खड़ी हो जाय तो उस स्थिति में मैं कैसे अपना बचाव करूँगा; तब किस तरह की बातें करूँगा और किस उपाय से उसके प्रभाव से मुक्त होकर उसे सूचित करता हुआ भाग निकलूँगा। पर अब जब वह सहसा सामने आ पहुँची तब क्या-क्या प्रभाव मुझ पर पड़ा। आज जब उस दिन की बात याद करता हूँ तब अपने ऊपर हँसी आती है और रोना भी।

मैंने गुसलखाने में जाकर जल्दी-जल्दी हाथ-मुँह धोया, कपड़े बदले, साधारण रूप से कंघी की और फिर बाहर आकर तत्काल चप्पल पहनकर बोला, "लो, मैं तैयार हूँ।"

मेरे अनजाने ही मेरे मुँह से 'लीजिए' के बदले 'लो' निकल आया। फिर उसका सुधार करना और अधिक हास्यस्पद होता, इसलिए अनजान और गम्भीर बनकर चुप हो गया। पर लीला स्पष्ट ही 'लो' पर (अर्थात् मेरी मूर्खता पर) इस तरह मुस्कराने लगी जैसे कोई सयानी औरत किसी बच्चे की 'तोतरी बात' सुनकर सस्नेह मुस्कराती है।

"तब चलिए, गाड़ी तैयार खड़ी है।"

मैं चुपचाप उसका अनुसरण करता हुआ चला। उसके कपड़ों से या शरीर से किसी 'सेन्ट' की बड़ी ही भीनी और मीठी सुगन्ध आ रही थी। बाहर आकर जब मैं उसके आमने-सामने हुआ तब इस बात पर गौर करने लगा कि आज उसकी सजावट और बनावट में किस विशेष कारण से एक आकर्षक परिवर्तन आया है। कपड़ों में कोई विशेष अन्तर नहीं था। वह एक सादी-सी सफेद साड़ी पहने थी, जो नई अवश्य थी। बाल भी बहुत ही सादे ढंग से सँवारे गए थे—कल की अपेक्षा सँवार की शैली में भी कोई विशेष अन्तर नहीं था—केवल इतनी ही बात नई थी कि आज कंघी फेरने में तनिक भी कंजूसी और शिथिलता नहीं दिखाई देती थी। मुख पर कल ही की तरह आज भी पाउडर, 'रूज' या क्रीम का तनिक भी इस्तेमाल नहीं किया गया था—केवल मुख धोने में तनिक परिश्रम से काम लिया गया लगता था। सारे शृंगार में न तनिक आडम्बर था न कुरुचि, न शील का अभाव था, न संयम की कमी। कुल मिलाकर उसका सारा व्यक्तित्व आज नहीं-के-बराबर परिवर्तन के कारण एक अनिन्द्य सुन्दर शोभा के रूप में निखर उठा था। देख-देखकर मेरी श्रद्धा बढ़ती चली जाती थी।

जब हम दोनों मोटर में बैठ गए और गाड़ी रवाना हुई तब लीला बोली, "आखिर आपको मैंने पकड़ ही लिया न! आप तो भागना चाहते थे!"

सुनकर मैं तो आँखें फाड़-फाड़कर, स्तब्ध भाव से उसकी ओर केवल देखता ही रह गया। मुझे लगा जैसे किसी ने मुझे सहसा पकड़कर आसमान से सीधे पृथ्वी पर पटक दिया हो और तब भी मुझे चोट न आई हो—केवल मेरे चारों ओर आश्चर्य-ही-आश्चर्य मँडरा रहा हो।

कुछ क्षण बाद जब कुछ सँभला तब अस्फुट और अस्पष्ट स्वर में बोला, "आप··· आपको किसने बताया··· कैसे मालूम··· हुआ··· कि मैं भागना चाहता था?"

"बताएगा और कौन!" वह सहज भाव से बोली। "दोपहर को जब मैंने चलने की बात कही थी तब आप कैसे-कैसे छल और कौशल से कतरा रहे थे! अभी आप को बुलाने गई थी आप के कमरे में, तब आप किस तरह सिटपिटा-से गए थे!"

असल में मेरे अन्तर का चोर अपनी ही अपराधी भावना से शंकित हो रहा

था, इसलिए लीला की एक सहज और साधारण उक्ति से इस कदर चौंक उठा था।

मैं तनिक आश्वस्त होकर, चुप हो रहा। मोटर जल्दी ही गन्तव्य स्थान पर पहुँच गई। बरसाती पर जब मोटर रुकी और हम दोनों उतरे तब हम लोगों के स्वागत के लिए तीन महिलाएँ और दो सज्जन हाथों में मालाएँ लिये खड़े दिखाई दिए। 'महिला' शब्द से उम्र में कुछ सयानी स्त्रियों का-सा बोध होता है। इसलिए उन्हें जवान लड़कियाँ कहना अधिक उपयुक्त होगा। तीनों की वेश-भूषा लीला की ही तरह एकदम सादी दिखाई देती थी, पर सादगी के बावजूद वे अपने ढंग-ढच्चर और गति-विधि से सभ्य तथापि सुसंस्कृत, शिष्ट तथापि प्रगतिशील लगती थीं। उनके हाव-भाव में न तनिक अनावश्यक संकोच की जड़ता थी न शिक्षाभिमान का औद्धत्य, न नये फैशन की कृत्रिमता थी न पुरानी रूढ़ि का रूखापन। उनमें मुझे सब-कुछ सहज, स्वाभाविक, सुन्दर और मंगलमय लग रहा था।

मालूम हुआ कि जो महिला इन लोगों की सम्मान्य अतिथि के रूप में आनेवाली थीं वे अभी नहीं पहुँची थीं और अभी तक इस बात की स्पष्ट सूचना नहीं मिली थी कि वह निश्चित रूप से आ रही हैं या नहीं। उन्हीं के आगमन की प्रतीक्षा अत्यन्त उत्सुक भाव से की जा रही थी।

लीला से तीनों लड़कियाँ सहज सखी-भाव से मिलीं। दो-चार और युवतियों और नवयुवतियों ने भी भीतर से आकर लीला को घेर लिया और सब मिलकर आपस में परामर्श करने लगीं। मैं अछूतों की तरह अलग खड़ा हो गया। कुछ देर बाद जब उस व्यस्तता के बीच में लीला का ध्यान मेरे 'अछूतपन' की ओर गया तब उसने सभी उपस्थित महिलाओं और सज्जनों से मेरा परिचय कराया। पता चला कि उनमें से अधिकांश पूँजीपति-परिवारों की लड़कियाँ हैं। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मेरे आश्चर्य का कारण केवल उन सबके पोशाक-पहनावे की सादगी और स्वभाव की शालीनता ही नहीं थी, बल्कि यह तथ्य भी था कि जिस शोषक वर्ग के विरुद्ध मेरे मन में स्वभावतः विकट विरोधी संस्कार और पूर्वग्रह विद्यमान थे उस समाज की महिलाओं के सम्बन्ध में भी मेरी कल्पना में कुछ विचित्र ही धारणाएँ बनी हुई थीं। इसलिए जब उन सभी महिलाओं का सामूहिक व्यक्तित्व एक नये और कल्पना से एकदम भिन्न रूप में मेरे आगे आया तब मेरा चकित रह

जाना स्वाभाविक था।

लीला ने जब उन लोगों से मेरा परिचय एक 'प्रतिभाशाली संगीतज्ञ' के रूप में कराया तब लज्जा और संकोच से मेरा सिर सबके आगे एकदम झुक गया। पर परिचय पाकर सभी महिलाएँ बड़ी ही उत्सुकता और कुतूहल से मेरी ओर देखने लगीं। उनमें से कुछ महिलाओं को मैं पिछले दिन लीला के यहाँ देख चुका था और वे भी मुझे देख चुकी थीं। पर तब उनमें से किसी को भी मेरे सम्बन्ध में यह जानकारी नहीं थी कि मैं एक 'प्रतिभाशाली संगीतज्ञ', 'कुशल गायक' और 'निपुण वादक' हूँ।

एक बड़ी-सी नई कार, बड़े ही मीठे स्वर में भोंपू बजाती हुई, बरसाती में आ लगी। सभी लड़कियाँ और उनके पुरुष साथी कार को घेरकर खड़े हो गए। एक सयानी महिला कार से उतरीं। पतले शीशे के चश्मे के भीतर से उनकी गम्भीर तथापि सौम्य आँखों ने सस्नेह सबका अभिवादन किया। लड़कियों ने उनके गले में मालाएँ पहनाईं। उन्होंने मालाओं को धीरे से उतारते हुए सबको विनम्र भाव से हाथ जोड़े। उसके बाद उनका अनुसरण करते हुए हम लोगों ने एक हॉल के भीतर प्रवेश किया, जहाँ बड़ी सादगी तथापि स्वच्छता के साथ फर्श बिछा हुआ था। अभ्यागत महिला को एक ऊँचे और चौड़े से मंच पर ले जाया गया। दो-चार सयानी महिलाएँ पहले ही से मंच पर बैठी हुई थीं। वे बड़े सम्मान के साथ हाथ जोड़ती हुई खड़ी हुईं। जब सब लोग बैठ गए तब मैं भी एक किनारे, पुरुषों की कतार के पीछे चुपचाप बैठ गया। लीला सम्मान्य अतिथि और कुछ विशिष्ट महिलाओं के साथ मंच पर ही जाकर बैठ गई थी।

प्रारम्भ में सबके आगे सन्तरे के रस से भरा एक-एक गोल गिलास रख दिया गया। रस-पान चल ही रहा था कि सहसा लीला मंच पर खड़ी हुई और उसने अभ्यागत महिला का परिचय देना आरम्भ कर दिया। वह बड़ी ही सरल और शुद्ध हिन्दी में बिना तनिक भी गतिरोध के धाराप्रवाह बोल रही थी। अवश्य बीच-बीच में उसकी आवाज कुछ-कुछ काँप-सी उठती थी, पर उसकी आवाज का वह काँपना भी बहुत मीठा लग रहा था। उसने आदरणीया अतिथि का जो परिचय दिया उससे यह पता लगा कि उनका जन्म भी पूँजीपति परिवार में हुआ है। साथ ही मैंने यह भी जाना कि वह कलकत्ता और बम्बई, गुजरात और राजपूताना आदि स्थानों में पिछले दस वर्षों से जब से, वह विधवा हुई तब से विविध सामा-

जिक क्षेत्रों में बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण कार्यों का संचालन और संगठन करती चली आ रही हैं। गाँव-गाँव में शिक्षा और सुधार-सम्बन्धी संस्थाएँ खोलकर, उनके निरीक्षण और संचालन में व्यक्तिगत रूप से दिलचस्पी लेती हुई वह अपने कार्य-क्षेत्र की परिधि को निरन्तर बढ़ाती चली जा रही हैं। हरिजनों और दूसरी पिछड़ी हुई जातियों, अनाथों, विधवाओं और समाज द्वारा बहिष्कृत और पीड़ित नारियों की सच्ची उन्नति और प्रगति को ध्यान में रखकर वह ठोस कार्य कर रही हैं। लीला ने यह भी कहा कि काम कम करने और प्रचार द्वारा नाम और यश अधिक पाने की जो प्रवृत्ति आजकल बहुत से तथाकथित समाज-सुधारकों में साधारणतः पाई जाती है उससे उन्हें आन्तरिक घृणा है। वह नाम और यश से बराबर भागती रहती हैं। बिना अपने कार्यों का ढोल पीटे वह आन्तरिक लगन से, दलितों ओर पीड़ितों के बीच में एकरूप होकर, उनके साथ घुल-मिलकर, अपने जीवन को उनके जीवन के साथ पूरी तरह खपाकर चुपचाप काम करती चली जाती हैं। "ऐसी आत्म-त्यागिनी सेवा-परायणा, महान् साधनाशील, सच्चे अर्थों में कर्म-योगिनी, महातापसी को आज अपने बीच में पाकर हम लोग—अग्रगामी नारी संघ की सदस्याएँ—अपने को धन्य मानती हैं और अपनी संस्था के लिए महागौरव का अनुभव करती हैं।"

उसके बाद लीला ने अपने संघ के उद्देश्यों और कार्यों का संक्षिप्त परिचय देते हुए आदरणीया अतिथि से प्रार्थना की कि वह उन लोगों को अपने अमूल्य उपदेशों से कृतार्थ कर उचित दिशा-निर्देशन करने की कृपा करें।

जब तालियाँ बन्द हुईं और लीला बैठ गई तब अभ्यागता प्रौढ़ा महिला सहज शालीनता के साथ खड़ी हुईं। लीला द्वारा उनका परिचय प्राप्त होने के बाद मैं अधिक दिलचस्पी से उनके व्यक्तित्व, प्रत्येक हाव-भाव और मुद्रा पर ध्यान देने लगा। वह एक बहुत ही सादी और मोटे किस्म की खादी की साड़ी पहने थीं। उनका रंग गेहुआँ था। कद में वह न बहुत ठिगनी थीं, न विशेष लम्बी। चेहरा उनका अवश्य लम्बा था और ठुड्डी तो और अधिक लम्बी थी। मानसिक और शारीरिक श्रम की रेखाएँ उनके मुख पर सुस्पष्ट अंकित दिखाई देती थीं। उनके चश्मे के पतले शीशे से होकर उनकी आँखों से तेज की किरण-रेखाएँ सुस्पष्ट फूट रही थीं। वर्षों से सार्वजनिक जीवन में भाग लेते रहनेवाले व्यक्तियों में सभा-समितियों के बीच में जो एक आत्म-विश्वास का भाव सहज अभ्यास-वश पाया जाता है वह उनके व्यक्तित्व में पूर्ण मात्रा में विद्यमान दिखाई देता था। एक अव्यक्त

व्यंग्यात्मक-सी मुस्कान मुख पर झलकाते हुए उन्होंने भाषण आरम्भ किया :

"बहन लीला ने अभी बड़े-बड़े, लम्बे-चौड़े विशेषणों के साथ मेरे कार्यों की प्रशंसा आप लोगों के आगे की है। बाहर से देखने में मेरे कार्य, मेरी सेवाएँ, मेरी तथाकथित साधना, तप और त्याग बहन लीला को तथा दूसरे व्यक्तियों को महान् लग सकते हैं, या नहीं भी लग सकते, पर भीतर की वास्तविकता केवल मैं ही जानती हूँ। यह ठीक है कि अपने सामर्थ्य के अनुसार थोड़ा-बहुत काम मैं अवश्य करती रहती हूँ। पर यह मैं ही जानती हूँ कि काम कितना अधिक है, क्षेत्र कितना विशाल है और मेरी शक्तियाँ कितनी सीमित हैं। यदि मैं इस बात का कण-मात्र भी आभास आप लोगों को दे पाती कि समाज की यथार्थ भीतरी परिस्थितियाँ किस हद तक विपन्न हैं, उन कल्पनातीत विपन्नताओं की भीषणता कैसी रोमांचक है और उनके विविध रूपों का विस्तार आज के जीवन में किस प्रकार सीमाहीन है तो मैं अपने यत्किंचित् श्रम को सार्थक समझती। पर जब-जब मैं किसी सभा या समिति में बोलती हुई श्रोताओं के आगे उन हृदय को दहला देनेवाली हौलनाक परिस्थितियों का निर्मम यथार्थ चित्रण अपनी सीमित शब्दावली द्वारा करने की बात सोचती हूँ तब-तब मेरी जीभ जड़ बन जाती है, वाणी कुण्ठित हो जाती है और बुद्धि सिकुड़ और सिमट जाती है। मैं कैसे समझाऊँ कि आज की अखबारी दुनिया द्वारा प्रचारित होनेवाले बड़े-बड़े राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों के असंख्य महादम्भ-स्तूपों के भीतर यथार्थ जीवन के प्राणियों की अस्थियाँ किस घोर दयनीय दशा में दबी और छिपी पड़ी हैं। उन करोड़ों असहाय युग-युग से दलित, निपीड़ित और शोषित प्राणियों की आवाज—उनकी कराह—के लिए अखबारी दुनिया में कोई जगह ही नहीं है। पहले तो उस दुनिया तक उनकी आवाज पहुँच ही नहीं पाती है, और यदि किसी तरह किसी के माध्यम से यदि पहुँच भी गई तो प्रेस की मशीनों द्वारा उस आवाज का गला ही घोंट दिया जाता है। वे स्वयं अखबारी दुनिया से परिचित ही नहीं हैं। न वे अखबारों को पढ़ पाते हैं, न समझ पाते हैं। और अखबारवालों को तो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक कूटचक्रों, घृणित दलबन्दियों, सरकारी और गैर-सरकारी राजनीतिक प्रचार के कागजी करिश्मों, अधिकांश समाजिक कार्यकर्ताओं के ढोंग-भरे, जनता के प्रति झूठी और कोरी मौखिक सहानुभूति दिखानेवाले महत्त्वहीन भाषणों, बड़े-बड़े राष्ट्रों के युद्ध और शांति-सम्बन्धी मूर्खतापूर्ण नाटकों से सम्बन्धित समाचारों को छापने से ही अवकाश

नहीं मिलता। समाज के कई स्तरों के नीचे दबी और सर्वत्र फैली हुई दलित जनता की ओर—जो वास्तव में समाज की नींव भी है और नीड़ भी—ध्यान देने का समय ही उनके पास कहाँ है। इसलिए भले ही उन अभागों और अनाथों का विस्तार सारे देश की निचली सतह में चीटियों की तरह फैला हो, जब तक उन्हें अखबारी कागजों के महाजाल के नीचे दबाया और छिपाया जा सकता है तब तक यही क्रम रहने दो, इस तरह की नीति आज लोक-सभा से लेकर ग्राम-सभाओं तक बरती जा रही है। पर जो लोग अखबारी कागजों की बकवास की अपेक्षा जीवित मनुष्यों की प्रतिदिन की, प्रतिपल की पीड़ा को अधिक महत्त्व देते हैं, जो उस पीड़ा का अनुभव स्वयं भी उनके निकटतम संघर्ष द्वारा करते हैं, वे जानते हैं कि आदर्श की बड़ी-बड़ी ढोंग-भरी बातों के नीचे आज की मानवता की वास्तविक स्थिति कहाँ पर है। मुझे भी विभिन्न स्थानों में उनके निकट सम्पर्क में आने, उनके साथ रहने का अवसर मिला है, इसलिए मैं जानती हूँ कि देश की जनता का वह कम-से-कम दो-तिहाई भाग आज कीचड़ में कुलबुलाते रहनेवाले कीड़ों से भी बदतर जीवन बिता रहा है। मेरी इस बात का यह अर्थ कदापि नहीं है कि शेष एक-तिहाई भाग की परिस्थितियाँ उन्नत हैं। मेरा तात्पर्य केवल यह है कि वह दो-तिहाई भाग गलिततम परिस्थितियों में रौरव नरक का भोग कर रहा है। उसकी स्थिति कीड़ों से भी अधिक शोचनीय इस अर्थ में है कि अशिक्षित होते हुए भी, नरक में जन्म लेने और नरक ही में मरने को बाध्य होने पर भी, उनकी चेतना उन कीड़ों से अधिक विकसित है, क्योंकि उन्होंने मनुष्य-योनि में जन्म धारण करने का पाप किया है।

"इसलिए आप लोगों से—अर्थात् उन लोगों से, जो अपनी सम्पन्न परिस्थितियों के कारण महलों में हर तरह के सुख और सुविधा का जीवन बिताने की आदी हैं—मेरा यह नम्र निवेदन है कि अपने सभी सुख-साधनों के बीच में आप लोग प्रति-क्षण इस ज्वलन्त तथ्य को ध्यान में रखें कि आज इस देश की और सम्पूर्ण मानवता की यथार्थ स्थिति क्या है; जीवन के पहाड़ की जिस सबसे ऊँची चोटी पर आप लोग खड़ी हैं उसके नीचे कुम्भीपाक की कौन-सी महाज्वालाएँ धधक रही हैं, कौन-कौन-सी पिघली हुई तप्त धातुएँ बाहर फूट पड़ने के लिए विकल हो उठी हैं। इस बात को एक क्षण के लिए भी न भुलाएँ कि घोर नारकीय परिस्थितियों में दम तोड़ती हुई तीन-चौथाई मानवता के साथ अपने को सम्बद्ध किए बिना,

उसे ऊपर उठाने के महायज्ञ में पूरा योग दिए बिना आज के विश्वव्यापी महा-संकट के युग में आप लोगों के जीवन की कोई सार्थकता ही नहीं रह जाती। यह समझने से बड़ा भ्रम दूसरा कोई हो ही नहीं सकता कि चरम विपन्न अवस्था को प्राप्त मानव-समाज के इतने बड़े भाग की अवज्ञा करके, उसकी ओर से नजर बचाकर आप लोग आज भी अपने समाज की संकीर्ण सीमा के भीतर बँधे रहकर मुक्त-जीवन बिता सकती हैं। यह महाभ्रम केवल भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ही विघातक नहीं है, बल्कि यह समग्र मानवता को विनाश के अतल महासागर में डुबाने में सहायक सिद्ध होगा। इसलिए आप लोग वास्तविकता की ओर से आँखें न मूदें।

"मैं आप लोगों को हतोत्साह नहीं करना चाहती, केवल यथार्थ परिस्थिति की ओर आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहती हूँ। आप लोगों की संस्था जो काम कर रही है उसकी निन्दा करना मेरा उद्देश्य कदापि नहीं है! आप लोगों में समाज-सेवा की जिस लगन और उत्साह का परिचय मैं पा रही हूँ, वह वास्तव में सराहनीय है। फिर भी, सच पूछिए तो इस तरह के छोटे-छोटे छिटफुट काम आज की व्यापक रूप से विश्रृङ्खल और शोचनीय परिस्थितियों के बीच में बहुत दूर तक आप लोगों को आगे नहीं बढ़ा सकते। मैं मानती हूँ कि साहित्य-प्रेमी महिलाओं के लिए साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन करना, संगीत और कला के प्रचार-सम्बन्धी योजनाओं को आगे बढ़ाना, गरीब लड़कियों के लिए दो-एक निः-शुल्क प्राथमिक शिक्षालयों को चलाना—इस तरह के काम, जिन्हें अग्रगामी नारी संघ चला रहा है, कुछ कम प्रशंसा-योग्य नहीं हैं। फिर भी अब समय आ गया है कि आप लोग इससे भी बड़े-बड़े, अधिक आवश्यक और उत्तरदायित्वपूर्ण कामों में भी हाथ बँटावें। केवल हाथ ही न बँटाएँ, बल्कि उनका संगठन भी करें।

"अन्त में उपस्थित बहनों से मैं एक बात और कह दूँ। आज भारतीय नारी के उत्तरदायित्व और कर्तव्यों का बोझ बहुत बढ़ गया है। पुरुष-परिचालित समाज की घोर विश्रृङ्खला देखकर मैं निश्चित रूप से इस परिणाम पर पहुँची हूँ कि यदि आज मातृजाति अपनी भीतरी शक्ति का पूरा अनुभव करते हुए, युगों की दासता के विरुद्ध संगठित विद्रोह करके उठ खड़ी हो और सामाजिक नियन्त्रण तथा राजनीतिक शासन की बागडोर पुरुषों के हाथों से छीनकर अपने हाथों में ले सकने की समर्थता प्राप्त कर सके, तो मुझे पूरा विश्वास है कि सम्पूर्ण

मानव-समाज का नक्शा ही एकदम बदल जाय और युग-युगों से केन्द्रच्युत मानवता मंगलमयी मातृच्छाया के नीचे जड़ से लेकर चोटी तक अपूर्व सुन्दर सुसामंजस्यपूर्ण संयोजन के सूत्र में बँध जाय। पुरुष-परिचालित सामाजिक व्यवस्था की चरम असफलता का ज्वलंत निदर्शन आज हम सब प्रत्यक्ष देख रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय हिंसा-प्रतिहिंसा, अत्यन्त घृणित राजनीतिक दाँव-पेंच, अणु-बमों और हाईड्रोजन बमों का निर्लज्ज स्तूपीकरण और विश्वव्यापी विध्वंस और विनाश का सचेत रूप से सामूहिक आयोजन, ये हैं पुरुष-परिचालित सभ्यता के युग-युगव्यापी विकास का अन्तिम परिणाम। इसलिए आज नारी-जाति की अन्तरात्मा में यह मन्त्र फूँकने की आवश्यकता आ पड़ी है कि वह अपने भीतर की आदिम शक्ति को जगाकर संसार की सारी राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के मूल-सूत्र को अपने हाथों में ले ले। जिस प्रकार सुयोग्य गृहिणियाँ गृह-व्यवस्था को उच्छृंखल और मतवाले पुरुषों के हाथ में नहीं छोड़तीं व उसका संचालन स्वयं करती हैं, उसी प्रकार जब तक विश्व-नारी आज के युग के पागल, उच्छृंखल, मतवाले और परस्पर विनाशरत पुरुष-व्यवस्थापकों के हाथों से सारा शासन-सूत्र छीनकर अपने हाथों में नहीं ले लेती तब तक बाहर और भीतर दोनों ओर से बिखरी हुई मानवता का परिपूर्ण कल्याण साधित हो सकेगा, ऐसा विश्वास मुझे नहीं है।

"मैं जानती हूँ कि मैं एक ऐसी बात की कल्पना कर रही हूँ जिसके जल्दी ही सफल हो सकने की कोई सम्भावना नहीं है। पर मेरा ध्रुव-विश्वास है कि एक-न-एक दिन इस स्वप्न को सफल होना ही होगा—फिर चाहे वह दस-बीस साल बाद हो, चाहे सौ-दो-सौ साल बाद, चाहे हजार-दो-हजार वर्ष बाद। इसलिए आज के युग की प्रत्येक नारी का कर्तव्य है कि वह इस स्वप्न को अपने आदर्श का ध्रुव तारा बनाकर अपनी जाति की उन्नति के महापथ की ओर निरन्तर अग्रसर होती चली जाय, बिना इस बात की तनिक भी चिन्ता किये कि वह महान् आदर्श कभी किसी युग में चरितार्थ हो सकेगा या नहीं। आदर्श सदा आदर्श ही रहेंगे। उन्हें वास्तविक जीवन में अक्षरशः उतार पाने की कल्पनातीत कठिनाइयों के बावजूद उनका महत्त्व कभी नहीं घटेगा। लक्ष्य जितना ही ऊँचा रहेगा, उन्नति की सम्भावनाएँ भी उसी हद तक बढ़ती चली जायँगी, इसलिए लक्ष्य की दूरी से न घबराकर आप लोग उस ओर उन्मुख होने की दृढ़ प्रतिज्ञा आज ही से कर लें। यह मेरा आन्तरिक अनुरोध आप लोगों से है। एक बार इस पार्थिव रूप से सबसे

अधिक पीड़ित और आदर्शात्मक रूप से सबसे अधिक उन्नत भूभाग से मातृजाति की विजय और गौरव की ध्वजा एवरेस्ट की चोटी से भी अधिक ऊँचाई पर फह-राए, यह मेरी हार्दिक कामना है।"

भाषण समाप्त होते ही चारों ओर से ऐसे सम-ताल में और तार स्वर में तालियाँ बजीं जिससे यह स्पष्ट प्रगट हो जाता था कि सबके भीतर का सच्चा उल्लास फूट पड़ रहा है। कुछ देर तक तालियाँ बजती ही रहीं। भाषण-कर्त्री का मुख असाधा-रण रूप से उद्दीप्त हो रहा था। सम्भवतः वह स्वयं अपने भाषण से चकित हो रही थीं। कुछ समय बाद श्रोताओं का जोश कुछ शान्त हुआ तब लीला उठी और उसने असाधारण पुलक से काँपती हुई आवाज में आदरणीया अतिथि को धन्यवाद दिया। उसके बाद उसने यह सूचित किया कि आदरणीया अथिति को एक आवश्यक काम से किसी दूसरी जगह जाना है, और साथ ही उपस्थित महि-लाओं और सज्जनों से यह अनुरोध किया कि वे अभी बैठे रहें, क्योंकि शीघ्र ही संगीत का एक हलका कार्यक्रम होगा।

संगीत के कार्यक्रम की बात सुनते ही मेरे मन में घबराहट होने लगी। मुझे इस बात की पूरी आशंका थी कि लीला इस बार मेरी रक्षा नहीं करेगी और निश्चय ही मुझसे भी भाग लेने को कहेगी—बल्कि सबके सामने दुराग्रह करेगी। आज जब उसने प्रारम्भ में ही मेरा परिचय संगीतज्ञ के रूप में दिया था तभी मैं आशंकित हो उठा था और अब तो मेरे आगे इस बात का भी रहस्य खुलने लगा था कि लीला क्यों आज सुबह से ही मुझे अपने साथ सभा में ले चलने का आग्रह कर रही थी। वैसे संगीत के कार्यक्रम में भाग लेने में कोई आपत्ति साधारणतः मुझे नहीं हो सकती थी, पर एक तो अनेक अपरिचित और सुसंस्कृत महिलाओं के बीच गाने-बजाने में मुझे अपनी स्वभावगत दुर्बलता के कारण कुछ झेंप-सी मालूम हो रही थी, दूसरे जो भाषण अभी-अभी मैंने सुना था उससे मेरा मन इस कदर आच्छन्न हो उठा था कि जी चाहता था, बार-बार मन-ही-मन उन्हीं बातों को दुहराता हुआ, उनकी जुगाली करता हुआ, केवल उन्हीं पर एकान्त में चिन्तन करता रहूँ। उस अप्रत्याशित भाषण ने मेरे मन के तार-

तार को झनझना दिया था, उनमें पागलों का-सा हर्षोन्माद भर दिया था, मोह-मुग्ध कर दिया था, भ्रमित कर दिया था। अपने-आप में उस अपूर्व भाषण की जो विशेषता थी सो तो थी ही, अकल्पित स्थान में अप्रत्याशित व्यक्ति के मुँह से सुनने के कारण उसका जादू चौगुनी तीव्रता से मेरे सिर पर चढ़कर बोलने लगा था। ऐसी हालत में उसके बाद फिर किसी हलके-फुलके कार्यक्रम में भाग लेने की इच्छा मुझे नहीं होती थी। मेरी घबराहट का सबसे बड़ा कारण यही था।

लीला और उसके साथ ही दो-चार महिलाएँ आदरणीया अतिथि को मोटर तक पहुँचाने के लिए बाहर चली गई थीं। शेष महिलाएँ आपस में बातें करती हुई भाषणकर्त्री और उनके भाषण की प्रशंसा बड़े ही गद्‌गद भाव से कर रही थीं। मैं अपने मन की चंचलता को कुछ स्थिर और शान्त करने के उद्देश्य से कुछ समय के लिए बाहर चला गया। लीला और उसके साथ की लड़कियाँ और महिलाएँ बरसाती पर मोटर में बैठी हुई आदरणीया अतिथि से बातें कर रही थीं। मैं दूसरी दिशा की ओर, अपेक्षाकृत एकान्त स्थान में चला गया।

काफी देर के बाद जब भीतर लौटा तब देखा कि लीला बहुत ही चिन्तित और घबराई हुई इधर-उधर झाँक रही थी। मुझे देखते ही जैसे उसकी जान-में-जान आई। "कहाँ चले गए थे?" काँपती हुई आवाज में उसने पूछा।

"कहीं नहीं, यहीं बाहर खड़ा था।"

"मैं तो खोजते-खोजते हैरान हो गई, बहुत घबरा उठी थी, सबसे पूछा, पर कोई कुछ न बता सका। किसी ने आपको बाहर जाते देखा ही न था। बैठिए, नया कार्यक्रम आरम्भ ही होनेवाला है। पहले ही हो गया होता, पर मैंने आप की वजह से रोक दिया था।"

मैं पुरुष-मण्डली के साथ एक किनारे बैठ गया। मंच पर इस बीच विविध प्रकार के वाद्य-यन्त्र रखे जा चुके थे। कार्यक्रम के अनुसार पहले चार-पाँच लड़कियों ने रवीन्द्रनाथ का 'अयि भुवन मनोमोहिनी' गाया। फिर लड़कियों ने निराला जी का 'भारति, जय-विजय करे' गाकर सुनाया। उसके बाद सम्मिलित वाद्य-संगीत हुआ। उसके बाद एक लड़की ने अकेले वायलिन बजाया। उसके बाद लीला ने मंच पर से कहा, "अब हम अपने नये और मान्य अतिथि से निवेदन करते हैं कि वह अपनी सुललित संगीत-कला के मधु-वर्षण से हम लोगों का आनन्द-वर्द्धन करें।"

मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था कि लीला मुझे किसी सभा के बीच में मंच पर से इस बुरी तरह बना सकती है। चुन-चुनकर संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके और अत्यन्य गम्भीर भाव से 'मधु-वर्पण' और 'आनन्द-वर्द्धन' की बात कह-कर उसने मुझे कहीं का न रखा। मैं मारे संकोच के सिर ही न उठा सका और अपने ही भीतर सिमटकर रह गया। एक बार इच्छा हुई कि स्पष्ट शब्दों में अपनी असमर्थता जताकर इन्कार कर दूँ। मैं न कोई पेशेवर गवैया था न 'एमेच्यर' और न मैंने कभी किसी उस्ताद से बाकायदा शिक्षा ही पाई थी। जो थोड़ा-बहुत छिट-फुट रूप से दो-एक साधारण संगीत-प्रेमियों से सीखा था, अपने आवारा जीवन के चक्कर में उसका अभ्यास भी छोड़ चुका था। लीला के आगे मैंने जो सितार बजाने और सामान्य रूप से गाने का नाटक रचा था उसका साहस मैं केवल उसी के आगे कर सकता था, किसी दूसरे के आगे नहीं। पर मुझसे पहले से बिना कुछ तय किये ही उसने जब अचानक मंच पर से 'निवेदन' कर दिया, उससे मेरी स्थिति अत्यन्त विकट हो उठी। अब यदि मैं इन्कार करता या कतराकर निकल जाता तो निश्चय ही लीला अपने को अत्यन्त अपमानित अनुभव करती और जिसे अँगरेजी में 'पोजीशन फॉल्स' हो जाना कहते हैं वही होता। इसलिए क्षणिक हिचकिचाहट के बाद मैं उठ खड़ा हुआ और सीधे मंच पर जाकर बैठ ही तो गया। किसी की ओर न देखते हुए भी यह अनुभव कर रहा था कि सबकी आँखें मेरी ओर लगी हुई हैं। मंच पर विविध प्रकार के वाद्ययन्त्र रखे हुए थे। एक बार इच्छा हुई कि सितार उठा लूँ। पर दूसरे ही क्षण मेरी नजर एक सुन्दर सी बाँसुरी पर पड़ी। सहसा न जाने क्या विचित्र प्रेरणा जगी, मैंने उसी बाँसुरी को उठा लिया। इस प्रेरणा के पीछे सम्भवतः लीला से 'शिष्ट बदला' लेने की व्यंग्यात्मक भावना भी निहित रही होगी। कारण जो भी रहा हो, मैंने बाँसुरी उठाकर एक बार हाथ से उसका मुँह पोंछकर उसे अधर से लगा ही तो लिया और अधरों के स्पर्श-मात्र से जैसे एक अलौकिक, अतीन्द्रिय उन्माद ने मेरी सारी चेतना को छा लिया। मैं भूल गया कि मैं कहाँ और किन लोगों के बीच में बैठा हूँ। बाँसुरी के छिद्रों पर उँग-लियाँ फेरते ही जो अजानित संगीत-लहरी निकल पड़ी वह मुझे न जाने चेतना के किन अज्ञात और अपरिचित लोकों में बहा ले गई, मैं कह नहीं सकता। मैंने सचेत रूप से किसी भी विशेष रागिनी को बजाने का कोई प्रयास नहीं किया। स्वर-तरंग अपने बहाव में मुझे जैसे भी बहा ले गई मैं बिना किसी प्रतिरोध के उसी तरह

बहता चला गया। आज जब विश्लेषण करता हूँ तब लगता है कि मैंने उस दिन कोई प्रचलित या पूर्व-संयोजित रागिनी नहीं बजाई थी। किसी जमाने में मैंने काँगड़ा की घाटियों में जो पहाड़ी राग सुना था वह मेरी अर्द्ध-चेतना में बहुत दिनों से समाया हुआ था। उस पहाड़ी राग में बंगाल के भाटियाल और कीर्तन की सम्मिलित तर्ज को अपने यहाँ के विदेशिया के साथ एकरूप करके मैंने अज्ञात ही में एक बिलकुल ही नई रासायनिक रागिनी का उद्भावन कर लिया था। उसी को परिपूर्ण मग्नावस्था में अधमुँदी आँखों से न जाने कितनी देर तक बजाता रहा, मैं कह नहीं सकता। जब चेतना-धारा भंग हुई तब बाँसुरी को अधर पर से हटाकर, मैंने आँखें खोलकर पूरी दृष्टि से सामने उपस्थित मण्डली की ओर देखा। तालियों की गड़गड़ाहट से मेरे कानों के पर्दे जैसे फटने को हो गए। सबके मुखों पर पुलकित भाव का उल्लास साफ झलक रहा था। हाँ, अपने मुख से अपनी प्रशंसा का बखान करने का दोषी होते हुए भी मैं यह बताए बिना नहीं रह पाता कि उस दिन बाँसुरी बजाने की क्रिया से जैसी पूर्ण तृप्ति मुझे हुई वैसी जीवन में बहुत कम हुई है।

मैं बाँसुरी नीचे रखकर मंच पर से उठने ही जा रहा था कि चारों ओर से स्त्रियों और पुरुषों के सम्मिलित कण्ठ-स्वर से आवाज आई, "एक बार और! एक बार और!"

मैं, जैसे घबराकर, बैठा ही रह गया। लीला ने उठकर मंच पर से उपस्थित मण्डली को सम्बोधित करते हुए कहा, "मैं आप लोगों की ओर से अपने आदरणीय अतिथि से निवेदन करती हूँ कि वह अब सितार पर कुछ उसी तरह का नया राग बजाकर सुनाएँ।"

चारों ओर से "अवश्य! अवश्य!" की आवाज ने मुझे विवश कर दिया। मैंने सितार को भरसक टालने के लिए ही बाँसुरी उठाकर अपनी प्राण-रक्षा की थी। पर लीला के हठ को मैं क्या कर सकता था। आधे मन से मैंने सितार उठाकर अपनी गोद में रखा। उँगली में मिजराब को जमाकर, तारों को अपने स्वर के अनुकूल कसकर, कुछ देरतक झूठ-मूठ के लिए उससे खेलता रहा। उसके बाद धीरे-धीरे उसी तल्लीनता के साथ बाँसुरीवाली रागिनी को सितार के तारों में झंकृत करने में समर्थ हुआ। न जाने कितनी देर तक बजाता चला गया! देश और काल के ज्ञान से मैं एकदम रहित हो गया था। जब बहुत ही गहराई से उठाई गई मीड़

के साथ मैंने अन्तिम झंकार भरी तब सारा हाल तालियों के सम्मिलित आवेग से गूँज उठा।

अब छुट्टी मिली, यह सोचकर मैं चैन की साँस भरता हुआ उठने ही को था कि पास ही बैठी लीला ने हाथ के इशारे से मुझसे रुकने को कहा और फिर मंच पर खड़ी हो गई और श्रोतृ-मण्डली को सम्बोधित करती हुई बोली, "अब मैं अपने आदरणीय अतिथि से यह अनुरोध करती हूँ कि वह एक गीत गाकर हम लोगों को फिर एक बार आनन्द-रस से विभोर करने की कृपा करें।"

उसकी ज्यादती से मुझे जितनी ही पीड़ा का अनुभव हो रहा था उसकी काव्यात्मक शब्दावली से वैसी हँसी भी आ रही थी। सहसा हॉल की सारी बत्तियाँ एक छोर से दूसरे छोर तक तीव्र प्रकाश से जगमगा उठीं। मेरा ठण्डा पड़ता हुआ उत्साह नया बल पाकर प्रज्वलित हो उठा। मैंने सोचा कि जब सहज में छुटकारा पाने की कोई सम्भावना नहीं है तब अपनी विवशता का अच्छे-से-अच्छा उपयोग करने में ही चतुराई है। क्षण-भर के लिए मैं सोचता रहा कि मैं कौन गीत गाऊँ। बिना अधिक माथापच्ची किये रवीन्द्रनाथ का निम्नलिखित गीत अनायास मेरी स्मृति में जाग उठा। मैंने सितार के तारों में स्वर भरते हुए उसी को अपनी निजी तर्ज में गाना आरम्भ कर दिया।

जीवने जाहा किछु होलोना सारा
जानि हे जानि ताओ हयनि हारा
जे फूल ना फुटिते झरेछे धरणीते
जे नदी मरुपथे हारालो धारा
जानि हे जानि ताओ हयनि हारा
जीवने आजो जाहा रयेछे पीछे
जानि हे जानि ताओ हयनि मिछे
आमार अनागत आमार अनाहत
तोमार वीणा तारे बाजिछे तारा
जानि हे जानि ताओ हयनि हारा

अपनी जीवन-व्यापी असफलता और आज के युग के सामूहिक जीवन की व्यर्थता की पीड़ा के लिए जो सान्त्वना उस गीत से मुझे मिल रही थी उसने मुझे एकदम भाव-विभोर कर दिया था।

तालियाँ बज ही रही थीं कि अबकी बार मैं बिना लीला की आज्ञा अथवा संकेत की तनिक भी प्रतीक्षा किये, सहसा मंच पर से उठ खड़ा हुआ और नीचे उतरकर अपने स्थान पर जा बैठा। गीत गाते हुए मेरी आँखें कब और कैसे गीली हो आई थीं, यह मैं जान ही नहीं पाया था। जब उसका बोध हुआ तब मारे लज्जा के मैंने सिर नीचा कर लिया। चारों ओर की निश्छल प्रशंसा-भरी कुतूहली आँखों की सम्मिलित दृष्टि से अपने अनावृत मन की रक्षा कर सकना मेरे लिए अत्यन्त कठिन हो उठा था। उधर मंच पर से लीला अपने 'आदरणीय अतिथि' की भूरि-भूरि प्रशंसा करती हुई धन्यवाद की झड़ियाँ लगा रही थी। मैं चारों ओर से अपने को समेटकर, गाल पर हाथ रखकर, धरती की ओर आँखें गड़ाए स्तब्ध बैठा रहा।

उसके बाद एक-एक करके दो या तीन महिलाओं ने गाया। पर पता नहीं क्यों, किसी का भी कोई गाना जैसे ठीक से जम नहीं पाया।

सम्पूर्ण कार्यक्रम समाप्त होने पर जब हम लोग उठे तब पाँच-सात महिलाओं और नवयुवतियों ने मुझे घेर लिया। कोई मुझे बधाई देने लगी, कोई धन्यवाद; किसी ने मुझे आगामी तिथि के लिए कला-केन्द्र की ओर से निमन्त्रित किया, किसी ने अगले सप्ताह में किसी सिनेमा हॉल में दिखाए जानेवाले भाव-नृत्य सम्बन्धी कार्यक्रम में दर्शकरूप से उपस्थित होने की प्रार्थना की। मैं सबसे अत्यन्त विनम्र भाव से 'हाँ-हाँ' कहता चला गया।

उन महिलाओं और लड़कियों से जब मैं बड़ी मुश्किल से किसी हद तक मुक्त हो सका तब सामने से लीला एक लड़की को साथ लिये मेरी ओर आती हुई दिखाई दी। उसकी उम्र ऊपर से देखने में सोलह से अधिक नहीं लगती थी। लीला का मुख अस्वाभाविक उल्लास से चमक रहा था। उसकी पुलकित आँखें बता रही थीं कि आज की मेरी विजय को वह अपनी निजी विजय के रूप में ग्रहण करके आन्तरिक हर्ष से फूली नहीं समा रही थी। मेरे एकदम निकट पहुँचने पर उसने कहा, "नीरजा मेरे पीछे पड़ गई है कि उसका परिचय मैं आपसे करा दूँ।"

लड़की का जो परिचय मुझे दिया गया उससे पता चला कि वह एम० एस-सी० (प्रथम वर्ष) में पढ़ती है और उसने अपना विषय भौतिक विज्ञान चुना है।

शिष्टाचार का पूरा पालन कर चुकने के बाद मैंने लड़की से कहा, "आप तो उम्र में बहुत छोटी लगती हैं और अभी से एम० एस-सी० में पहुँच गईं— और वह भी 'फिजिक्स' जैसे कठिन और नीरस विषय को लेकर! बड़ा आश्चर्य

हो रहा है मुझे !"

लड़की संकोच का नाटक रचती हुई-सी दबी-दबी मुस्कान से मेरी ओर देखती रही, कुछ बोली नहीं। पर उसके बदले लीला बोल उठी, "नीरजा उम्र-चोर है। क्या समझते हैं आप इसकी उम्र ?"

"यही पन्द्रह-सोलह बरस," मैंने सहज भाव से कहा।

"वह इसी महीने बीसवाँ वर्ष पूरा करने जा रही है," मेरे निरीक्षण की त्रुटि पर मुस्कराती हुई लीला बोली।

"सच !" मैंने लड़की की ओर देखकर अकृत्रिम आश्चर्य से पूछा।

"जी हाँ," अच्छे विनोद का अनुभव करती हुई-सी नीरजा बड़ी ही संयत मुस्कान-भरी ढिठाई के साथ बोली।

मुझे वह बड़ी ही चंचल तथापि स्वस्थ, ढीठ तथापि शीलवान, किशोरी तथापि नवयुवती-सी लग रही थी। लीला की ही तरह वह भी एक सादी-सी सफेद साड़ी पहने थी, पर पहनने का ढंग दोनों का अलग-अलग था। लीला के साड़ी पहनने के ढंग से एक प्रौढ़ा युवती का स्निग्ध गाम्भीर्य प्रकट हो रहा था और नीरजा के पहनने के ढंग से एक जन्मजात स्वयंसेविका की संयत तथापि सहज-स्वच्छन्द गति का आभास मिलता था। उसका रंग गोरा-उजला था, आँखें बड़ी-बड़ी, पलकें घने काले रोओं की किनारी से सुशोभित, नाक न बहुत उभरी, न बहुत दबी, और सुन्दर पतले ओठ शरारत भरे-से लगते थे। उसके अंग-अंग में जैसे फुरती लहरें मार रही थी। कुल मिलाकर वह मुझे बहुत ही अच्छी और प्यारी लड़की लग रही थी।

मैंने कहा, "मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य है कि भौतिक विज्ञान जैसे नीरस विषय का अध्ययन करने पर भी आप संगीत जैसे सरस विषय में दिलचस्पी लेती।"

"संसार का सबसे बड़ा वैज्ञानिक आइन्स्टाइन एकान्त के क्षणों में वायोलिन बजाकर आनन्द प्राप्त करता है," लड़की तपाक से बोली, जैसे पहले ही से उत्तर सीखकर आई हो।

"हाँ, यह तो आपने बहुत अच्छी याद दिलाई। पर एक बात है। मुझे कुछ ऐसा लगता है कि केवल आइन्स्टाइन जैसा प्रतिभाशाली वैज्ञानिक ही संगीत के सच्चे सुख का अनुभव कर सकता है, दूसरे वैज्ञानिक उस हद तक शायद ही उसमें

रस ले पाते हों। आइन्स्टाइन ने देश और काल के पारस्परिक सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर चुकने और उनकी सुन्दर सामञ्जस्यमूलक स्थिति पर पहुँचने के बाद ही संगीत का सच्चा सुख समझ पाया होगा, उसके पहले नहीं, ऐसा मेरा अनुमान है।"

मुझे उससे बातें करने में सुख मिल रहा था। केवल इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर मैंने आइन्स्टाइन-सम्बन्धी चर्चा को आगे बढ़ाया था। इसके अलावा कोई दूसरा उद्देश्य मेरा नहीं था। न मुझे उस महावैज्ञानिक के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी थी, न मैं देश-काल के पारस्परिक सम्बन्ध का कोई गहरा वैज्ञानिक ज्ञान रखता था।

नीरजा जैसे मेरी बात के उत्तर को जीभ की नोक पर रखे थी। पहले की ही-सी फुरती से बोली, "आपकी बात से ऐसा लगता है कि आप साधारण विज्ञान से संगीत का कोई सम्बन्ध ही नहीं मानना चाहते। पर असल बात मेरी समझ से यह है कि संगीत का प्रारम्भिक आधार गणित ही है। छन्द-सुर, गति-ताल, आरोह-अवरोह इन सबके ठीक-ठीक आनुपातिक संयोजन ही से तो संगीत का प्रारम्भिक ढाँचा खड़ा होता है—बाद में भले ही कलाकार उस ढाँचे में अपने अन्तर के भावों और रसों का आवेग भरता हो। केवल भावपूर्ण आवेग कविता हो सकती है पर संगीत नहीं। संगीत के लिए गणित का आधार अनिवार्य है। और गणित का भौतिक विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है।"

"मैं हार मान गया आप से," मैंने स्नेहपूर्वक मुस्कराते हुए कहा। "मैं माने लेता हूँ कि आपका विज्ञान सचमुच संगीत के रस-ग्रहण में तनिक भी बाधक नहीं हो सकता। पर हम लोग यहाँ खड़े क्यों हैं?" अन्तिम प्रश्न मैंने लीला से किया।

हमारे चारों ओर बहुत-सी महिलाएँ और कुछ पुरुष इकट्ठा हो गए थे, और मुझे दम लेने की जगह नहीं मिल रही थी।

"चलिए, मोटर तैयार खड़ी है," लीला बोली।

"चलो;" कहकर मैंने एक कदम भी पूरा आगे न बढ़ाया होगा कि पीछे से नीरजा लीला से बोल उठी, "मैं भी चलती हूँ तुम्हारे साथ लीला बहन।"

"चलो फिर," संक्षेप में सहज भाव से लीला बोली, जिस तरह बचपन से परिचित सहेली से बोला जाता है।

हम लोग बाहर बरसाती पर आए। अपनी मोटर के ड्राइवर को सूचित करके

वह लीला की मोटर में उसी के साथ पीछे की सीट पर बैठ गई। मैं तत्काल आगे-वाली सीट पर ड्राइवर के साथ बैठ गया।

जब मोटर रवाना हुई तब पीछे से नीरजा बोली, "आज आप की संगीत-कला से परिचित होकर सचमुच हम सब लोगों को बहुत ही आनन्द मिला।"

मैंने न पीछे की ओर लौटकर देखा, न उत्तर में कुछ बोला। मुझसे प्रोत्साहन न पाकर नीरजा ने लीला से बातें करना आरम्भ कर दिया। वह बड़ी ही फुरती से, द्रुत गति से बोलती जाती थी और स्पष्ट ही घण्टों अकेले ही बोलते चले जाने की मनःस्थिति में थी। लीला बीच-बीच में दो-एक अधूरे वाक्य बोलकर चुप लगा जाती थी। चुप लगा जाने के लिए वह विवश हो जाती थी, क्यों कि नीरजा अपने ज्ञान-विज्ञान का सारा कोष खोलकर रख देने के लिए उतावली-सी दिखाई देती थी और दूसरे की तनिक भी न सुनकर स्वयं ही सब कुछ कह डालना चाहती थी—लीला तो जैसे उस समय उसके बहिर्वेग के लिए एक निमित्त-मात्र बनी हुई थी। पर अपनी बुद्धि का सारा कोष वह उस विशेष अवसर पर किस कारण से और किसके लिए मुक्त करने के लिए उद्विग्न हो उठी थी, मैं चुप-चाप जैसे कुछ इसी तरह के प्रश्न पर मन-ही-मन विचार कर रहा था। विविध विषयों पर वह 'बातें' कर रही थी। कभी वह अपने संघ में आमन्त्रित आदरणीया अतिथि के भाषण की प्रशंसा करते-करते उच्छ्वसित हो उठती थी, कभी 'अग्रगामी नारी संघ' के अगले कार्यक्रमों के सम्बन्ध में अपने सुझाव पेश करने लगती थी, कभी अपने कला-केन्द्र की योजनाओं पर बातें करती; कभी साहित्य बघारती थी और कभी विज्ञान।

जब हम लोग लीला के यहाँ पहुँचकर ड्राइंग रूम में बैठने लगे तब लीला ने ऊपर मेरे कमरे के सामनेवाले बारजे में चलकर बैठने का प्रस्ताव किया। बारजे में शम्भू ने एक कालीन बिछा दी और हम तीनों उस पर बैठ गए। "मैं अभी आती हूँ," कहकर लीला अपने कमरे में शायद कपड़े बदलने के लिए चली गई।

"अब बताइए कि आप हम लोगों के कला-केन्द्र में कब पधारेंगे?" नीरजा खुलकर, पूरी दृष्टि से मेरी ओर देखती हुई बोली। उसकी स्निग्ध मुस्कान-भरी आँखों में निमन्त्रण भी था और निवेदन भी।

मैंने न बहुत उदासीनता न बहुत उत्सुकता के साथ कहा, "यह आप लोगों के ऊपर निर्भर करता है। आप जब चाहें मुझे बुला सकती हैं।"

"पहले आप एक दिन मेरे घर पधारने की कृपा करें तो बहुत अनुगृहीत होऊँगी। मैं केन्द्र और संघ दोनों के बारे में आप से बातें करना चाहती हूँ; उनके सम्बन्ध में आपके विचार और सुधार-सम्बन्धी सुझावों से परिचित होना चाहती हूँ। यह हम लोगों के लिए बड़े ही सौभाग्य की बात है कि आप के समान गुणी व्यक्ति का निकट सम्पर्क हमें सुलभ हो सका है।"

"आप बहुत ही उदार हैं जो मेरे समान गुणहीन व्यक्ति पर भी कुछ ऐसी काल्पनिक विशेषताओं का रोपण करना चाहती हैं, जिनका कहीं और कभी कोई अस्तित्व मुझे नहीं दिखाई दिया।"

"महान् व्यक्तियों को ऐसी ही विनम्रता शोभा पाती है," सचेत किन्तु निश्छल कटाक्ष से मुझे घूरती हुई नीरजा बोली।

"यह एक नया आरोप आप मुझपर लगा रही हैं। यह आप जल्दी ही जान जायँगी कि विनम्रता मेरे स्वभाव की विशेषता कभी नहीं रही है, बल्कि इसके विपरीत प्रवृत्ति ही मुझमें प्रबल है, इसलिए आप विश्वास मानिए कि मैं अपनी गुणहीनता की बात विनम्रतावश नहीं कह रहा हूँ।"

"यदि आप सचमुच विनम्र नहीं हैं तो इसका प्रत्यक्ष प्रमाण दीजिए," दुष्टता-भरी चंचल आँखों से मेरी ओर देखती हुई नीरजा बोली।

"किस रूप में?" उसकी बात का ठीक आशय न समझते हुए मैंने कहा।

मैं आपसे उम्र में काफी छोटी हूँ, इसलिए मुझे 'आप' कहकर सम्बोधित न कीजिए; आपके मुँह से मेरे लिए 'तुम' सम्बोधन ही सुहाता है।"

मुझे हँसी आ गई। पर उसका आग्रह वास्तविकता के आधार पर स्थित था। सच पूछिए तो उसके स्वभाव का सहज अल्हड़पन मुझे प्रारम्भ ही से कुछ ऐसा सहज परिचित-सा लग रहा था कि मैं स्वयं बार-बार उसे 'तुम' कहकर पुकारने के लिए आतुर हो उठता था, यद्यपि ऐन मौके पर मेरे मुँह से 'आप' ही निकल पड़ता था।

"ठीक है," मैंने कहा, "आप यही चाहती हैं···"

"यह देखिए, फिर आपने 'आप' कहना आरम्भ कर दिया।"

मैं पहले से भी दुगने जोर से हँस पड़ा।

"बड़ी हँसी आ रही है। क्या बात है?" कहती हुई लीला आकर कालीन पर बैठ गई। वह कपड़े बदलकर आई थी।

मेरी हँसी का तार लीला के प्रश्न से भी नहीं टूटा था, इसलिए मेरे बदले नीरजा ने उसे कारण समझाया।

सुनकर लीला बोली, "मैं भी इनसे यही शिकायत करनेवाली थी, पर अपने मूर्खतापूर्ण संकोचवश कुछ कह न पाती थी। यह अच्छा ही हुआ, तुमने रास्ता खोल दिया।"

"तो कब चल रहे हैं आप मेरे यहाँ ?" नीरजा ने मुझसे पूछा।

"यह लीला जी से पूछो, मैं तो···"

"क्या 'जी' जोड़े बिना काम नहीं चलता ?" मेरी बात बीच ही में काटती हुई लीला बोल उठी।

"तुम लोग तो मेरी छोटी-से-छोटी बात में नुक्स निकालने पर उतारू हो।"

दोनों उल्लसित भाव से ताली पीटने लगीं। लीला ने कहा, "खीझ ही के कारण सही, आपके मुँह से 'तुम' तो निकल आया ! भविष्य में भी ध्यान रहे !"

"तुम दोनों बड़ी दुष्ट हो," मन्द-मन्द मुस्कराते हुए मैंने कहा।

"आपके साथ इतमीनान से बैठे रहने की बड़ी इच्छा थी," नीरजा बोली, "पर साढ़े आठ बजे मैंने घर पर दो लड़कियों को बुला रखा है, इसलिए इस समय चलती हूँ। जल्दी ही एक दिन मैं स्वयं आकर आपको अपने यहाँ ले जाऊँगी। अच्छा नमस्ते !" कहकर दोनों हाथ जोड़ती हुई और अपनी चंचल और सुन्दर आँखों में बिना कड़क की बिजली चमकाती हुई वह उठ खड़ी हुई। फिर लीला से बोली, "अच्छा लीला बहन, चलती हूँ। तुम्हारी गाड़ी अभी वापस कर दूँगी। नमस्ते !" मेरी ओर उसी बिजली की-सी दृष्टि से फिर एक बार देखती हुई और दुबारा हाथ जोड़ती हुई वह चली गई।

"**बड़ी** ही प्यारी लड़की है," नीरजा के जाने पर बड़े स्नेह से लीला बोली। आज की शाम बहुत ही अच्छी बीती। क्यों, आपकी क्या राय है ?"

"हाँ, अच्छी ही बीती।"

"आप तो बहुत ही मुरझाई हुई आवाज से मेरी बात का समर्थन कर रहे हैं। अच्छा सच बताइए, हमारी आदरणीया अतिथि का भाषण आपको कैसा लगा ?"

"आश्चर्यजनक रूप से अच्छा लगा," अत्यन्त उत्साहित होकर मैंने कहा। "इसके पहले मैं इस बात की कल्पना ही नहीं कर सकता था कि तुम लोगों के वर्ग की किसी महिला के मुँह से मुझे इस तरह की क्रान्तिकारी बातें सुनने को मिलेंगी। सबसे बड़ी बात यह थी कि उन्होंने युग के फैशन से प्रेरित होकर वे सब बातें नहीं कहीं, बल्कि सच्ची पीड़ा से, जीवन की कठोर वास्तविकता से भली-भाँति परिचित होने के बाद ही उस तरह के उद्गार उनके मुँह से निकले थे। 'आश्चर्य' के सिवा मैं अपने मन के भाव को व्यक्त करने के लिए दूसरा शब्द नहीं पाता हूँ, लीला। तभी से सोच रहा हूँ कि यह सब कैसे सम्भव हो गया! कौन कह सकता है कि प्रकृति कब, किस क्षेत्र में क्या बीज बिखेर देगी और युग-युग का ज्वलन्त सत्य किस अकल्पित और अप्रत्याशित भूमि में आग लगा देगा। देशव्यापी भ्रष्टाचार और सामूहिक हाहाकार के प्रति जो घोर जड़ता-भरी उदासीनता आज के समर्थ वर्गों में पाई जाती है उसका कहीं भी अन्त या सीमा न देखकर और असमर्थ पीड़ित वर्गों की विद्रोही चेतना को निरन्तर निर्ममता से कुचले जाते देखकर मेरे मानसिक वातावरण के चारों ओर जो घने अन्धकार के बादल तह-पर-तह छाये हुए थे वे आज जैसे फट पड़े। मुझे लगा कि युग के सामूहिक सामाजिक सत्य का गला विश्व की संगठित शक्तियाँ भी नहीं घोंट सकेंगी और जितना ही अधिक उसे कुचला जायगा उतनी ही प्रबलता के साथ वह उल्टे-सीधे चक्करों से होकर जन-मन पर अधिकार करता चला जायगा और फिर एक दिन वह आयगा कि जन-मन को रौंदनेवालों के मनों पर भी वह जादू की तरह चढ़कर बोलेगा। बोलेगा क्या, बोलने लगा है—आज उस महान् महिला का जो भाषण मैंने सुना है उसने मेरी आँखें खोल दी हैं।"

स्वभावतः मेरे मन के गम्भीर भाव के अनुरूप ही मेरे मुख का रूप भी वैसा ही बन गया होगा। अपने उस गम्भीर रूप का गम्भीर प्रतिबिम्ब मैं लीला के मुख पर देख रहा था। उसके मुख पर कुछ ही क्षण पहले की सहज चंचलता और साथ ही स्निग्ध सहृदयता का भाव सहसा गायब हो चुका था और उसके स्थान पर सुगम्भीर सम्भ्रम का भाव उसकी निश्छल आँखों में, कपाल की उभरी हुई रेखाओं में व्यक्त हो रहा था।

"तुम सबको एक दिन—जानकर या अनजान में, चाहकर या अनचाहे—वहीं, उसी महासत्य की ओर खिंच आना होगा, लीला। कुछ ही समय की देर

है। कारण यह है कि इसके सिवा दूसरी कोई गति नहीं है।"

वह खोई-सी आँखों से, प्रश्न-भरी दृष्टि से, मेरी ओर देख रही थी। जैसे अन्तर से जानना चाहती थी कि मैं जिस महासत्य की बात कह रहा हूँ उसका यथार्थ रूप क्या है। अभी जैसे सब-कुछ उसके आगे धुँधला, कुहासे से ढका था। आदरणीया अतिथि ने जो भाषण दिया था, उसका भी यथार्थ मर्म वह स्पष्ट ही समझ नहीं पाई थी। उसके प्रभावित होने के दो कारण मुझे लगे। एक तो धाराप्रवाही भाषण (जो मुख्य कारण था) और दूसरा उनकी बातों का साधारण नैतिक पक्ष जिसकी सहज चेतना उसे अपने स्व-वर्गीय वातावरण से प्राप्त हुई थी। उस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाषण के भीतर, भाषण-कर्त्री के अज्ञात ही में सही, जो सामाजिक क्रान्ति के शोले निहित थे उसके ज्वलन्त महत्त्व को स्पष्ट ही लीला और उसके साथ की महिलाएँ नहीं समझ पाई थीं।

न समझने पर भी उसने अपनी जबान से यह नहीं कहा कि जिस सामूहिक सामाजिक सत्य की बात मैंने कही है, उसे तनिक समझाकर कहूँ। मैं जानकर चुप रहा। उस समय अपनी उस दिन की महान् उपलब्धि की व्याख्या और विश्लेषण करके अपने मन की सहानुभूति को मैं बिखेर देना नहीं चाहता था।

अनचाहे ही वातावरण अत्यन्त गम्भीर बन गया था। कुछ देर तक उसी वातावरण के भारीपन का अनुभव करते हुए हम दोनों मौन बैठे रहे। उसके बाद सहसा लीला के मुख पर छाये हुए काले बादलों को फाड़कर पहले आधा, और फिर पूरा चाँद निकल आया। अपनी आँखों में अत्यन्त स्नेहपूर्ण उल्लास छलकाती हुई, मीठी लाज-भरी वाणी में वह बोली, "और आपका संगीतवाला कार्यक्रम भी उस भाषण से कुछ कम महान् न रहा।"

यदि उसकी जैसी आर्थिक स्थिति मेरी होती और मेरी जैसी उसकी, तब शायद मैं यह सोचता कि वह मेरी चापलूसी कर रही है। पर जैसी स्थिति थी उसमें इस बात के लिए तनिक भी गुंजाइश नहीं थी कि मुझे खुश करने के लिए अपने मन के असली भाव को छिपाकर झूठ बोलती।

"मुझे तो केवल इस बात की खुशी है कि तुम्हारी लाज रह गई। नहीं तो तुमने मुझे बेवकूफ बनाकर जिस तरह की ज्यादती आज मेरे साथ करनी चाही थी वह सहज में भूलने की नहीं है।"

लीला बड़े गौर से मेरे मुख के यथार्थ भाव को जानने का प्रयत्न कर रही

थी। वह सम्भवतः यह जानना चाहती थी कि मैं सचमुच उस बात से नाराज हुआ हूँ या किसी हद तक बन रहा हूँ।

अपनी उस संयम-भरी मनोदशा से जल्दी ही उबरकर उसने फिर उसी सहज स्निग्ध भाव से कहा, "आप चाहे कितना ही नाराज क्यों न हुए हों, पर मुझे इस बात की खुशी है कि मैंने आपको आपत्ति के लिए कोई मौका ही नहीं दिया और आपको गाने और बजाने के लिए एक प्रकार से बाध्य ही कर दिया। अगर मैं ऐसा न करती तो कितने लोग उस आनन्द से वंचित रह गए होते, तनिक सोचिए तो सही! और फिर, माफ कीजिएगा, मेरी समझ में यह बात अभी तक नहीं आ पा रही है कि जब आप ऐसे सुन्दर ढंग से, पूर्ण तन्मयता से गा और बजा सकते हैं तब आप क्यों इस बात से कतराते हैं।"

उसकी बात सुनकर मैं म्लान भाव से मुस्कराया। अपने कतराने के जिस कारण को मैं स्वयं अपने से छिपाए हुए था, लीला के कुतूहल ने सहसा उसके आवरण को जैसे चीर डाला।

"तुम अभी नहीं समझोगी लीला, चाहने पर भी समझ न सकोगी," गहरी वेदना से बोझिल स्वर में मैंने कहा।

मेरे मुख के म्लान भाव का प्रतिबिम्ब उसी क्षण लीला की आँखों में छलक उठा। उसके कुछ न समझने पर भी, मेरे हृदय की पीड़ा का तार जैसे स्वतः उसके अन्तर के तार से जुड़ गया। कुछ क्षण तक फिर एक बार हम दोनों के चारों ओर एक अशोभन मौन का सन्नाटा छाया रहा।

उसके बाद मैंने एक आह-सी भरते हुए धीरे से बहुत ही धीमी आवाज में कहा, "जब मैं तीन-चार साल का बच्चा रहा हूँगा तभी से मेरी अन्तरात्मा संगीत के प्रति ऐसे प्रबल आकर्षण का अनुभव करती रही है, जिसका ठीक से वर्णन कर सकना मेरे लिए सम्भव नहीं है। उस छोटी उम्र में ही जब कभी बाँसुरी की मधुर वेदना-भरी तान की भनक मेरे कानों में पड़ती थी, मैं, एक नन्हा-सा दूध पीता-बच्चा, एक अनोखी रहस्यात्मक अनुभूति से अत्यन्त उत्सुक और विकल हो उठता। उस समय मैं जिस किसी भी स्थिति में होता, चाहे माँ की गोद में बैठा होता, चाहे अपने-आप में भरा हुआ किसी चीज से खेलता होता, बाँसुरी की स्वर-लहरी ज्यों ही मेरे चारों ओर के वायु-मण्डल में गूँज उठती, त्यों ही मेरे कान खड़े हो जाते और अज्ञात अनन्त के अजानित छोर से आई हुई-सी वह टेर जैसे किसी माया-

मन्त्र से बरबस मेरी बाल-चेतना को न जाने कहाँ, किस लोक में बरबस खींच लिये जाती। तब से संगीत का अलौकिक जादू मुझे बराबर उसी तरह आकर्षित करता रहा है। जब-जब कोई विशेष भाव-वेदना-भरी संगीत स्वर-तरंग मेरे बाहर के और भीतर के कानों से आकर टकराती है तब-तब मैं उतने क्षणों के लिए अत्यन्त उत्सुक हो उठता हूँ और जैसे किसी दूसरे लोक से आया हुआ पुलक-विकल उन्माद मेरे अन्तर के कण-कण को एक नई ही अणु-चेतना के पारस से छूता हुआ, इस लोक की साधारण चेतना से बरबस बहुत दूर खींचे लिये जाता है। मैं कुछ नहीं जान पाता कि मैं किस ओर क्यों खिंचा जा रहा हूँ। केवल एक अलौकिक आनन्द के-से भाव की तल्लीनता मेरी सम्पूर्ण चेतना को छा देती है।"

लीला अपनी पुलकित पलकों को पसारे हुए एकटक, भाव-विभोर अवस्था में, मेरी ओर चुपचाप देख रही थी। मेरे रुकने पर जब वह कुछ सँभली तब बोली, "इसीलिए तो मैं यह जानना चाहती हूँ कि जब संगीत आपकी आत्मा को इस कदर अतीन्द्रिय और अलौकिक आनन्द में डुबा देता है तब भी आप गाने से क्यों कतराते हैं। आपके मन के इस विचित्र प्रतिरोध का क्या कारण हो सकता है?"

मैं नीचे की ओर सिर किये कालीन पर उँगली से स्वस्तिक का चिह्न बना रहा था। सहसा अपना सिर ऊपर उठाकर परिपूर्ण जाग्रत चेतना की-सी मनोदशा में मैंने कहा, "स्वयं मेरे मन में भी यही प्रश्न बार-बार उठता रहा है। उसका उत्तर भी मैं पा चुका हूँ और हर बार नये-नये रूप में पाता रहता हूँ। केवल संगीत ही नहीं, किसी भी कला के सुन्दर और समुन्नत रूप के प्रति मेरे अन्तर्मन में जन्म-जात प्रेम है, जिसकी गहराई में पैठी हुई जड़ें कभी किसी भी कारण से उखड़ नहीं सकेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है। बचपन से ही मैं संगीत और सौन्दर्य के अपार रहस्यमय और विविध वैचित्र्यपूर्ण माया-लोक की रूप-रस-रंग-भरी, स्वप्नाच्छन्न कुंज-गलियों में आन्तरिक उल्लास से इस तरह भटकता रहा हूँ कि उनसे अलग होने की कोई भावना ही मेरे मन में कभी जग नहीं पाती थी। लगता था जैसे सारा जीवन उसी तरह निर्मुक्त आनन्द, विशुद्ध और उदात्त पुलकानुभूतियों के बीच में सहज ही बीतता चला जायगा। प्राकृतिक सौन्दर्य की नित नई अभिव्यक्तियों के संसर्ग में आने पर मेरा मन चरम-विकसित चेतना के अमृतमय सागर में डूबकर समाधिमग्नता की-सी स्थिति का अनुभव करने लगता था। वर्षाकाल में विश्व को प्राण-दान देनेवाले रस-भरे मेघों की उमड़ती

हुई श्याम-घटाएँ और विविध रंगों से रंचित साँझें देख-देखकर मैं भाव-विभोर हो जाया करता था। शरद्-काल में वर्षा से धुली और निखरी हुई प्रकृति की अकलुष और निष्पाप रूप-छटा, अश्रु-तरल उज्ज्वल प्रभात, सुनहरी सन्ध्याएँ, चाँदनी से नहाई हुई रातें और निर्मल चेतस् की तरह प्रसन्न आकाश में कोटि-कोटि विश्वों का अगणित मेला देख-देखकर मेरी अहंगत चेतना महाचेतना में घुल-घुल-कर एकरूप होने लगती थी। वसन्त में मिट्टी की चेतना सहस्रों बन्धनों को तोड़-फोड़कर जब अनेक रूपों में पल्लवित और पुष्पित होकर निराले वर्ण-वैचित्र्य के साथ आत्म-प्रकाश करती थी तब मेरे मन की भाव-वेदनाएँ भी उन्हीं रंगीनियों के साथ खिलने, फूलने और फलने लगती थीं। हिमालय की हिम-मण्डित शोभा देखकर मेरी चेतना ऊर्ध्वमुखी होकर कैलाश-स्थित शिव की समाधिगत चेतना के साथ होड़ लगाने लगती थी, प्रतिपल भूमि को अपनी बाँहों में भरने की अदम्य आकांक्षा रखनेवाले महासागर को पूरे प्राण-प्रवेग से लहराते देखकर मेरे अन्तर के अतल में युग-युग से दबी पड़ी शत-सहस्र आकांक्षाएँ महाज्वार की तरह उमड़-उमड़कर समग्र विश्व को छा लेने के लिए आकुल होती रही हैं। कई बार गंगा के सूने सैकत-तट पर, देवदारु के पेड़ों से ढके पहाड़ की एकान्त चोटियों पर और विजन वन की गहनता के बीच में खड़े होकर मैंने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करके मानवीय चेतना की ससीमता के साथ अतिचेतना की असीमता के पूर्व संयोग के क्षणों में जिस अनिर्वचनीय आनन्द की अलौकिक अनुभूति का स्वाद पाया है उसे कैसे समझाऊँ लीला! सच मानो, मैं कविता नहीं बघार रहा हूँ, बल्कि अपने अन्तरतम का सत्य तुम्हारे आगे प्रकट कर रहा हूँ। पर आज मेरी वैयक्तिक चेतना के चरम विकास का वह सत्य जैसे कुण्ठित हो गया है। प्रतिपल के ज्वलन्त यथार्थ के सम्पर्क में आने पर पग-पग में घोर कटु और कठोर परिस्थितियों के बीच में पटके जाने पर मेरे अन्तर का गठन ही जैसे निरन्तर बदलता चला जा रहा है। आज मनुष्य और मनुष्य के—व्यक्ति और व्यक्ति के—बीच, व्यक्ति और समूह के बीच, वर्ग और वर्ग के बीच, जनता और सरकार के बीच, सम्पूर्ण मानवता और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक नेताओं के बीच पारस्परिक स्वार्थों का जो घात-प्रतिघात और संघर्ष देख रहा हूँ, सभ्य मानव-समाज द्वारा युगों से आज तक बटोरे गए सारे ज्ञान-विज्ञान की जिस निपट व्यर्थता के प्रत्यक्ष प्रमाण पा रहा हूँ, चारों ओर हाहाकार, अशान्ति और युद्ध का जो नंगा नाच देख

रहा हूँ, विकृत राष्ट्रगत या वर्गगत स्वार्थों के कारण उपजी हुई सामूहिक दुर्बुद्धि और हठ द्वारा पूर्ण विनाश के जिन विराट् आयोजनों के समाचार पा रहा हूँ, उनके कारण मेरे मन का ऊपरी स्तर एक अजीब-से कुहरे से ढक गया है जो अपनी नमी से मेरी आत्मा को जैसे गलाता चला जा रहा है। मुझे कोई ठीक पथ सुझाई नहीं देता। चारों ओर निराशा और अन्धकार के बादल ढके हुए दिखाई देते हैं।"

लीला एकाग्र चित्त से, अपनी समस्त इन्द्रियों की एकत्रित शक्ति से मेरी बातें सुन रही थी, मुझे ऐसा लगा। वह मेरे उद्‌गार को किस हद तक समझ पाई, मैं कह नहीं सकता। पर गम्भीरता की जैसी घनी छाया उस समय उसके चेहरे पर घिरी हुई थी वैसी उसके पहले मैंने नहीं देखी थी।

"फिर भी, उस घुप अँधेरे के बीच में भी कभी-कभी प्रकाश और आशा की किरणें दिखाई देने लगती हैं," मैं कहता चला गया। "ऐसे क्षणों में मुझे यह विश्वास होने लगता है कि सिर्फ मेरे मन के ऊपर से ही नहीं, सारी मानवीय चेतना के ऊपर से एक दिन कुहासा हटेगा और अन्धकार के बादल फटकर रहेंगे। जीवन की सामूहिक व्यवस्था निश्चय ही बदलेगी और मानव-मानव के बीच का व्यवधान हटकर ही रहेगा और तब मेरी जिस रहस्यात्मक चेतना का विकास-पथ रुद्ध हो गया है वह जहाँ रुकी थी वहाँ से आगे बढ़ेगी। वह मरी नहीं, केवल दब गई है और फिर एक दिन वह भी आएगा जब सिर्फ मेरी ही नहीं, सभी की वैयक्तिक चेतना विकसित होकर सामूहिक चेतना के विकास में सहायक होती हुई उसके साथ मिलकर एक पूर्णतः नई चेतना को जन्म देगी। मेरी पीड़ा व्यक्ति की पीड़ा नहीं है लीला, व्यक्ति के रूप में मैं शाहंशाह हूँ—इसलिए नहीं की आज तुम्हारे यहाँ सुख-सुविधा का जीवन बिता रहा हूँ, बल्कि इसलिए कि विकट-से-विकट परिस्थितियों के बीच में भी मुझे अकेले अपने लिए कभी कष्ट का अनुभव नहीं हुआ।"

लीला के मुख पर से गम्भीरता का काला परदा हटकर एक असाधारण रूप से उद्दीप्त उल्लास चमक उठा। वह सहसा आन्तरिक अनुभूति के साथ बोल उठी, "आप देवता हैं!" उसकी आँखों में ठीक वैसी ही भाव-विभोरता छाई हुई थी जैसी उस पुजारिन की आँखों में सम्भव हो सकती है, जिसने अप्रत्याशित रूप से अपने इष्ट देवता को प्रत्यक्ष पा लिया हो।

मैं एक रूखी हँसी हँसा। मार्मिक पीड़ा के साथ बोला, "मुझे देवता कहकर तुम केवल मेरा ही नहीं, सारी मानवता का ही नहीं, स्वयं अपने नारीत्व का भी उपहास कर रही हो। मैं अपनी सीमाएँ जानता हूँ लीला। मैं अगर सचमुच मनुष्य बन सकूँ, मनुष्यता का एक कण—खरे हीरे का कण—भी अपने भीतर की कोयले की खदान से पा सकूँ तो सच्चे अर्थों में जी जाऊँ। देवता बनकर पूजा पा जाना आसान है, लीला, पर मनुष्य बन पाना बहुत कठिन है।"

"मैं सब समझती हूँ," उसी उल्लसित भाव से लीला ने कहा। "फिर भी यह विश्वास मेरे मन से नहीं हटता कि मेरे लिए आप देवता ही हैं। आपसे मेरी केवल इतनी ही प्रार्थना है कि मुझे चिर-जीवन अपनी आराधिका—अपनी सेविका—बने रहने दें। इस सौभाग्य से मुझे वंचित न करें। अपनी छत्रच्छाया में मुझे मनुष्य बनने दें···" और सहसा उसने एक अत्यन्त असाधारण और अस्वाभाविक-सी मनःस्थिति में मेरे दोनों पाँव पकड़कर उन्हें धीरे-धीरे दबाना शुरू कर दिया।

मेरी इच्छा हुई कि मैं एक झटके से अपने पाँवों को छुड़ा लूँ। पर एक तो उसके अकपट स्नेह-स्पर्श का मोह और दूसरे उसके मन की आकुल भाव-वेदना को तनिक भी ठेस न पहुँचाने की प्रवृत्ति ने मुझे कुछ सँभाल लिया। धीरे-धीरे बड़ी ही कोमलता से उसके दोनों हाथों को हटाते हुए मैंने कहा, "तुम्हारी जैसी सुशिक्षित और सुसंस्कृत नारी के लिए इस तरह की थोथी भावुकता में बहना किसी हालत में भी उचित नहीं है लीला, उस महान् विद्रोहिणी नारी का भाषण सुनने के बाद भी तुम हाड़-मांस के मनुष्य को देवता मानकर पूजने के लिए व्याकुल हो उठी हो, इस उल्टवाँसी का अर्थ क्या हो सकता है, मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ!"

"मैं स्वयं भी कुछ नहीं समझ पाती," भाव-गद्‌गद स्वर में लीला बोली, "केवल रह-रहकर एकमात्र आकांक्षा मुझे धर दबाती है कि आपको अपने आँचल की ओट में छिपाकर चिरजीवन आपकी सेवा करती हूँ।"

"पगली नारी," बड़ी ही मार्मिक पीड़ा के साथ मुस्कराते हुए मैंने कहा, "मुझे अपने आँचल की ओट में छिपाकर, मेरी मनुष्यता के विकास का सारा पथ रोककर, मेरी जड़ आत्मा को जकड़कर तुम किस हवाई कल्याण की साधना का व्रत लेना चाहती हो!"

"मैं न कल्याण जानती हूँ न साधना," उसी अजीब-सी पौराणिक भावुकता में बहते हुए लीला ने कहा। "मैं एक छोटी-सी नारी हूँ। मेरे प्राणों की उड़ान बहुत सीमित है। पर मैं आपको—आपके महान् व्यक्तित्व को—अपनी लघुमति के अनुसार जितना समझ पाई हूँ, उतने से मेरे मन में यह धारणा जम गई है कि मेरे निरर्थक जीवन की यदि कण-मात्र भी सार्थकता कहीं किसी रूप में सम्भव है तो वह केवल आपके इन दो चरणों का आश्रय पकड़कर। उन चरणों का अनुसरण मैं कितनी दूर तक कर सकूँगी, मैं कह नहीं सकती। पर हर समय उन्हें अपने गोद में लिये रहने, अपनी पलकों से उनकी धूल पोंछते रहने की अदम्य इच्छा मेरे मन में जाग रही है, मेरी इस इच्छा को न ठुकराइए, उसे सफल होने का वरदान दीजिए, केवल इतनी-ही प्रार्थना मेरी है।" और वह सचमुच मेरे पाँवों पर गिर पड़ी।

मैं सहसा इस अप्रत्याशित संकटपूर्ण परिस्थिति में अपने को पाकर घबरा उठा। मेरी समझ में नहीं आता था कि मैं क्या कहकर समझाऊँ। जितना समझाना था उससे कई गुना अधिक मैं पहले ही समझा चुका था। उसके बाद भी उसका वह निराला मनोभाव मुझे अत्यन्त कष्ट पहुँचा रहा था।

उसकी उस भाव-मुग्ध दशा में उसे धक्का देकर हटाना भी अशोभन और प्रायः अमानुषिक होता। पर जो स्थिति उसने पैदा कर दी थी वह कुछ कम अशोभन न थी, इसलिए मैंने फिर एक बार धीरे-धीरे उसके दोनों हाथों को पकड़कर हटाया और उसकी भुजाओं को पकड़कर उसे उठकर बैठने में सहायता पहुँचाई। उसके बाद स्नेह-पीड़ित स्वर में बोला, "छी-छी, तुम्हें यह क्या हो गया है लीला ? तुम्हारे जैसी समझदार नारी से इस तरह की अन्धी भक्ति की आशा मैं नहीं करता था। तुम तो सचमुच जैसे मुझे पत्थर का जड़ देवता बनाने पर तुली हो। अभी तो मैं जीवित हूँ लीला, अभी से क्यों मुझे मिट्टी की मूर्ति बना देना चाहती हो ?" कहते हुए अपनी बात को परिहास का रूप देने के उद्देश्य से मैं मुस्करा दिया।

लीला बिना कुछ उत्तर दिए अपने बिखरे हुए बालों को ऊपर की ओर करने लगी।

शम्भू ने आकर सूचित किया कि खाना तैयार है। लीला ने ऊपर ही ले आने का आदेश उसे दे दिया।

"मैं देखता हूँ कि मेरे साथ का बुरा असर तुम पर भी पड़ने लगा है," मैंने कहा, "तुम भी अब आलसी बनती जा रही हो। सुबह जब मैंने ऊपर ही खाना मँगाने को कहा था, तब तुमने आपत्ति की थी। याद है तुम्हें ?"

"हाँ, अब उसी आपत्ति का प्रायश्चित्त करने जा रही हूँ," मीठे व्यंग्य से भरी मुस्कान मुख पर झलकाती हुई वह बोली।

मैं आश्चर्य से देख रहा था कि लीला को अपना रूप बदलते हुए एक क्षण भी न लगा। फिर उसका सहज रूप लौट आया था। इतना बड़ा संकट इतनी आसानी से टल जायगा, इसकी आशा मैंने नहीं की थी। मैंने चैन की साँस ली।

खाना आया। जल्द ही उसे समाप्त करके हम लोग भीतर के कमरे में चले गए। लीला ने अपने हाथ से मेरा बिस्तर झाड़कर चादर नये सिरे से बिछाई और उसके बाद बोली, "अब आराम करो। बहुत थक गए होगे।"

उसने ठीक ही अनुमान लगाया था। सचमुच मैं अपने को बहुत थका हुआ-सा अनुभव करने लगा था—शरीर से नहीं, मन से।

जब लीला चली गई तब मैं टेबल लैम्प जलाकर 'शैल्फ' में देखने लगा कि कौन पुस्तक पढ़ी जाय। आज 'युटोपिया' पढ़ने का मन नहीं होता था, इसलिए नहीं कि 'युटोपिया' को मैं केवल एक 'युटोपिया' (हवाई आदर्श) समझने लगा था। मैं जानता था कि हवाई आदर्श यदि सचमुच में महान् हो तो उसकी भी एक निजी विशेषता और उपयोगिता होती है। पर आज जी उचाट था और मैं कोई ऐसी चीज चाहता था जिससे मन की बिखरी हुई कड़ियाँ किसी हद तक जुड़ सकें। कुछ देर सोचकर मैंने रवीन्द्रनाथ की कविताओं का संग्रह उठाया और उसे बिना किसी पूर्व-निश्चित संकल्प के जहाँ मन आया खोलकर पढ़ने का प्रयत्न करने लगा। दो-चार छिटफुट कविताएँ मैंने पढ़ीं; उसके बाद नींद मालूम होने लगी और बत्ती बुझाकर सो गया।

प्रायः एक घण्टे बाद एक विचित्र-सा स्वप्न देखने पर मेरी नींद उचट गई और धीरे-धीरे मैं लेटे-लेटे पूरी तरह से जाग गया। जागने पर कुछ ही क्षण पहले देखे हुए विचित्र स्वप्न को ठीक से याद करने का प्रयत्न करने लगा, पर उसकी

स्मृति इस तरह मेरे मन से गायब हो गई थी जैसे वह पूर्व जन्म में देखा हुआ कोई स्वप्न हो। अनेक मनोवैज्ञानिक प्रयत्नोंके बाद स्वप्न के एक अस्पष्ट-से आभास को मैं अपने सचेत मन तक लाने में सफल हुआ। बचपन में जिस घर में, जिस पड़ोस में, जिस युग में और जिस वातावरण में मैं रहता था, उसीसे सम्बन्धित एक ऊटपटाँग और अर्थ हीन-सा स्वप्न था वह। स्वप्न के अधिकांश पात्र न जाने कब मर चुके थे। अधिकांश बातें वे अपने ही युग की कह रहे थे, पर बीच-बीच में एक-आध अस्पष्ट बात मेरे वर्तमान वातावरण से सम्बन्धित भी कर बैठते थे। पर वे क्या कहते थे और क्या करते थे, यह मैं किसी तरह भी ठीक से याद नहीं कर पाता था। कभी लगता था जैसे बचपन के युग के किसी मेले के जलूस में हम लोग जा रहे हों। उस मेले के राग-रंग और हुल्लड़ में कभी सभी पुराने लोग सम्मिलित दिखाई देते थे, कभी इस युग के लोग। पर मेरे साथ उनमें से कोई भी बात नहीं करता था—जैसे मैं उनके बीच में होने पर भी नहीं था। लीला न जाने कहाँ से उसमें शरीक हो गई थी। मैं बार-बार उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करता, पर वह जैसे मुझे पहचान ही नहीं रही थी—या मुझ तक उसकी दृष्टि पहुँच ही नहीं पाती थी। वह प्रसन्न दिखाई देती थी और मेले के हुल्लड़ के बीच में अपना भी उल्लसित स्वर मिला रही थी। अन्त में एक बार बड़ी मुश्किल से उसने मेरा स्वर पहचाना और फिर मुझे देखकर घबराई हुई-सी मेरी ओर दौड़ी आई। आते ही बोली, "चलो, यहाँ से भागो। इस मेले में निश्चय ही कोई बहुत बड़ा उपद्रव होनेवाला है।" और बिना मेरे चलने की प्रतीक्षा किये ही वह जलूस से उल्टी दिशा की ओर तेजी से भागने लगी। उसके लिए चिन्तित होकर मैं भी उसके पीछे दौड़ा। इस बीच सचमुच दंगा शुरू हो गया। मैं उसके लिए बुरी तरह घबराया हुआ उसे इधर-उधर खोजने लगा, पर उसका कहीं पता नहीं लगा। अन्त में एक स्थान पर उसे देखकर मैं उसका साथ देने के लिए दौड़ ही रहा था कि सहसा मेरी नींद उचट गई।

उस विचित्र, अत्यन्त अस्पष्ट और प्रकट में अर्थहीन स्वप्न की अनुभूति-मात्र से एक कारणरहित आतंक की अस्फुट भावना मेरे सचेत मन पर काफी देर तक छाई रही। आँखें ऐसी सजग हो गई थीं जैसे नींद से कभी उनका कोई सम्बन्ध ही न रहा हो। कुछ देर तक शून्य भाव से मैं अँधेरे में ही लेटा रहा। उसके बाद मैंने बत्ती जलाई और फिर पलँग से उतरकर कमरे में टहलने लगा। दो-

तीन चक्कर लगा चुकने के बाद सिगरेट की याद आई। मेज पर दोनों टीन अभी तक वैसे ही रखे हुए थे। एक टिन एकदम अनखुला पड़ा था और दूसरे टिन में जो खुला था, अभी तक काफी सिगरेट शेष बचे थे। एक सिगरेट निकालकर मैंने जलाया और लम्बी-लम्बी कशें खींचता हुआ फिर उसी तरह अशान्त और उलझी हुई मनोदशा में चहलकदमी करने लगा।

बहुत देर तक मैं यही सोचने का प्रयत्न करता रहा कि मैंने कहाँ आकर किस चक्कर में अपने को उलझा दिया है; नई परिस्थिति में मैं ठीक कहाँ पर—जीवन के किस बिन्दु पर—आकर खड़ा हुआ हूँ और उस बिन्दु पर मैं किस हद तक मुक्त हूँ और किस सीमा तक बन्धनों से जकड़ा हुआ हूँ। सारी परिस्थिति पर तटस्थ भाव से विचार करके उसका निरपेक्ष विश्लेषण करने के लिए मैं उत्सुक हो उठा था।

पर एक ऐसी अनोखी जड़ता ने मेरे मन को जकड़ लिया था कि ठीक-ठीक तारतम्य के साथ, किसी बात पर शान्तिपूर्वक विचार कर सकने की क्षमता ही जैसे मुझमें नहीं रह गई थी। सोचते-सोचते जो पहली बात मेरे मन में जमी वह यह थी कि सभा से घर लौटने पर लीला को मैंने भाषण की तरह जो बातें सुनाईं उनकी कोई आवश्यकता नहीं थी और वह केवल मेरे अहम् का असामयिक विस्फोट था। क्या आवश्यकता थी लीला को यह बताने की कि मेरी रहस्यात्मक चेतना अत्यधिक विकसित रही है और मैं कला और संस्कृति का जन्मजात प्रेमी रहा हूँ, पर अब जीवन के कठोर अनुभवों के स्तूप ने मेरी उस प्रवृत्ति को दबा दिया है? केवल लीला के शान्त अन्तर्मन को झकझोरने, उसे तल से सतह तक मथने, अपने प्रति उसकी श्रद्धा और सहानुभूति जगाने और उसकी अपरिपक्व भावात्मक चेतना को डाँवाडोल करके उसे बरगलाने के अतिरिक्त मेरी उस तरह की बातों का और क्या उद्देश्य हो सकता था? और फिर, उनसे मुझे क्या लाभ हुआ? केवल अपने अज्ञात में अपने मूर्खतापूर्ण अहम् की तृप्ति मैंने की और उस तृप्ति के लिए एक ऐसी नारी को मैंने अपने मनोजाल में उलझाया जो बौद्धिकता के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ी हुई न होने पर भी मन के क्षेत्र में अपेक्षाकृत शान्त और स्वस्थ जीवन बिता रही थी। उसके भीतर असन्तोष और अशान्ति के बीजाणु प्रविष्ट कराके मैं उसे किस मँझधार में घसीटकर छोड़ देना चाहता हूँ?

इसी तरह के प्रश्न रह-रहकर मेरे मन में उठ रहे थे। एक सिगरेट जब प्रायः

पूरा जल चुका तब बचे हुए टुकड़े को राखदानी में बुझाकर मैंने एक नया सिगरेट निकाला और उसे जलाकर फिर टहलने लगा। जो भाषण मैंने लीला को पिलाया था उसकी शब्दावली को याद करते हुए उसकी हास्यास्पदता मेरे आगे स्पष्ट से स्पष्टतर होती चली गई। उस हास्यास्पद भाषण का जो प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से पड़ा था वह कैसा भयावना था! 'तुम देवता हो!' उसने मुग्ध-भाव से, अपनी आन्तरिक अनुभूति से कहा था। भाग्य की इस विडम्बना पर तनिक विचार कीजिए कि अपने मन के आकस्मिक विस्फोट से निकले हुए उद्गारों द्वारा मैं प्रकट में जीवन के जिस कठोर यथार्थ की अनुभूति लीला के मन में जगाना चाहता था, मेरे भाषण का फल हुआ ठीक उसका उल्टा। मेरा सचेत मन चाहता तो यह था कि उसके भीतर जमे हुए रंगीन और हवाई कल्पनाओं और थोथे सुधारवादी आदर्शों के जाले साफ करके उसके मन को जीवन के कटु यथार्थ के सम्पर्क में खींच लाऊँ, पर परिणाम हुआ उसके एकदम विपरीत। सामूहिक जीवन के कठोरतम अनुभवों के फलस्वरूप मेरे अन्तर में उपजी हुई जीवित मानुषिक पीड़ा की चेतना उसके मन में नहीं जागी, उल्टे मेरे व्यक्तित्व के 'देवत्व' वाला मायावी रूप उसके आगे ज्वलन्त सत्य का मूर्तिमान प्रतीक बन बैठा!

उसके अन्तर के जिस तार को मैं छूना चाहता था उसे न छूकर न जाने कौन अदृश्य और अलक्षित तार मैंने अपने भावोद्गार से झंकृत कर दिया था और सच पूछा जाय तो मेरा वह आकस्मिक भावोद्गार एक प्रकार अर्द्ध-स्वगत ही था। फिर भी उसका यह विचित्र प्रभाव लीला पर पड़ा कि वह आवेग-विह्वल होकर सहसा मेरे पाँवों पर गिर पड़ी। आज के युग में भी कोई बौद्धिक या अर्द्ध-बौद्धिक नारी इस चरण-पूजा पर विश्वास कर सकती है, यह बात तब तक मेरी कल्पना के परे थी। यह ठीक है कि 'नारी, तुम केवल श्रद्धा हो,' कवि की इस उक्ति से मेरा कोई विरोध न तब था न आज है, पर बुद्धि के इस युग में भी वह श्रद्धा केवल अन्ध-श्रद्धा का रूप धारण करके रह जाय, इस कल्पना से केवल दुःख और आश्चर्य के सिवा और कोई दूसरी भावना ही मेरे मन में नहीं जग पा रही थी। जिस नारी के माध्यम से मुझे अपने इतने दिनों तक के विश्रृङ्खल जीवन को नियमित गति मिलने की आशा करनी चाहिए थी वह अपने असंतुलित स्नेह और अन्ध-श्रद्धा द्वारा उसे सदा के लिए एकदम ही रूँध देना चाहती थी। "आपको अपने आँचल की ओट में छिपाकर चिर-जीवन आपकी सेवा करती

रहूँ !" मेरे इतने दिनों के विद्रोही जीवन की क्या अन्त में यही परिणति होनी है कि मैं एक नारी के आँचल की ओट में छिपकर उसकी सेवा पाता रहूँ ?

अन्तरात्मा से निकला हुआ एक धिक्कार-भरा स्वर मेरे भीतरी और बाहरी कानों के चारों ओर गूँजने लगा । "नहीं, इस मकान में मेरा रहना अब किसी प्रकार भी उचित नहीं है । जैसे भी हो, जल्दी ही यहाँ से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए ।" रह-रहकर मेरे भीतर कोई यह मन्त्र रटने लगा ।

दूसरी सिटरेट भी खतम हो चली थी । शेष टुकड़े को राखदानी में फेंककर मैंने तीसरी सिगरेट जलाई और फिर उसी तरह कमरे में चक्कर काटने लगा । रह-रहकर मैं यह अनुभव कर रहा था कि मेरे उस सारे सोच-विचार के पीछे उसी अर्थहीन स्वप्न की वेदना विचरण कर रही है जिसने मेरी नींद खराब कर दी थी । भागना चाहता था मैं, पर स्वप्न में मैंने देखा था कि लीला घबराई हुई-सी भाग रही है और मैं उसके पीछे-पीछे दौड़ रहा हूँ । स्वप्नों की इस प्रकार की उल्ट-बाँसियों से मैं अच्छी तरह परिचित था ।

पर वह स्वप्न चाहे 'अर्थहीन' रहा हो, चाहे विपरीत-भावापन्न, उसने मेरे अन्तर में कुछ दिन से दबी पड़ी भावनाओं को जैसे पूरी तरह से मथ दिया था । रह-रहकर मैं यह अनुभव कर रहा था कि जिस दिन से मैं लीला के यहाँ आया हूँ उस दिन से धीरे-धीरे, मेरे अज्ञात में, मेरी भीतरी और बाहरी शक्तियों में एक प्रकार की गलनशीलता आती चली जा रही है । मेरे स्वभाव और चरित्र की वज्र-दृढ़ता जैसे बेमालूम ढंग से शिथिल होती चली जा रही है, इस ज्ञान से मैं और अधिक आतंकित हो उठा ।

"मुझे तुरन्त सँभल जाना चाहिए," मुँह के भीतर से धुआँ बाहर उड़ाते हुए मैंने मन-ही-मन कहा, "नहीं तो यह सीलन मेरी आत्मा के भीतर प्रविष्ट होकर उसे चाटकर खोखला बना डालेगी ।"

और सोच-सोचकर मैं घबराया हुआ-सा बड़े अधैर्य के साथ, तेज कदमों से टहलने लगा ।

प्रायः एक घण्टे तक मैं इसी तरह टहलता रहा । उसके बाद पलंग पर जाकर लेट गया और बत्ती बुझाकर सोने का प्रयत्न करने लगा । पर लेटते ही पहले से भी अधिक तीव्रता से सौ-सौ दुर्भावनाओं और दुश्चिन्ताओं ने एक-साथ मिलकर पूरी शक्ति से मुझ पर हमला कर दिया । कुछ देर तक मैं एक-एक करके उनका

सामना करता रहा, पर अन्त में हारकर मैंने फिर बत्ती जलाई और पलंग पर से उठकर, एक सिगरेट जलाकर फिर चहलकदमी करने लगा।

इसके पहले चाहे और किसी बात की शिकायत मुझे रही हो, पर नींद की शिकायत मुझे कभी नहीं रही। फुटपाथों पर, पार्कों में, करीम चाचा के तख्त पर, प्यारे के यहाँ खटमलों और मच्छरों के बीच, कहीं भी ऐसा न हुआ कि नींद में कोई विघ्न मुझे हुआ हो। पर यहाँ, बढ़िया, मुलायम गद्देदार पलंग के ऊपर, लीला के हाथों से बिछी सुन्दर चादर पर मेरी नींद गायब हो गई थी।

रात-भर मैं बीच-बीच में इसी तरह टहलता रहा और फिर-फिर पलंग पर जाकर सोने का निष्फल प्रयत्न करता रहा। अन्त में जब सुबह होने को ही थी, तब किस क्षण मेरी आँखें लगीं, मैं जान भी न पाया।

जब आँखें खुलीं तब चारों ओर, कमरे के भीतर और बाहर, सूरज का प्रकाश छिटका हुआ था। लीला बाहर बारजे में पूरब की ओर मुँह किये खड़ी थी। मैं उठ बैठने की इच्छा रखता हुआ भी जैसे उठ ही नहीं पा रहा था। सारे तन में और मन में एक अजीब-सी जड़ता आ गई थी। साथ ही सिर में एक तीखे दर्द का अनुभव हो रहा था।

कुछ ही क्षण बाद लीला ने भीतर की ओर झाँका और मुझे जागा हुआ देखकर वह भीतर चली आई। उसके स्निग्ध, शान्त और प्रसन्न मुख पर एक निराली ताजगी छाई हुई थी। आते ही जैसे अपने अन्तर का सारा स्नेह उँडेलती हुई बोली, "तबीयत तो ठीक है ?" एक अपूर्व करुण-कोमल मिठास भरी हुई थी उसकी स्नेह-वेदना-भरी वाणी में।

कहाँ गईं मेरी रात-भर की दुश्चिन्ताएँ ? कहाँ विलीन हो गई मेरी आत्म-ग्लानि ? और कहाँ ढह गया मेरा निश्चय ! पूर्व जन्म की किसी अस्पष्ट स्मृति की तरह वे सब भावनाएँ पल में मिथ्या हो गईं। लीला के स्नेहाकर्षण का परिपूर्ण अनुभव करते हुए मैंने बहुत ही धीमी आवाज में कहा, "सिर में कुछ दर्द है।"

"हें !" चौंकती हुई-सी लीला बोली, "क्या कहा ? सिर में दर्द है ? तनिक देखूँ !" कहकर घबराती हुई-सी मेरे पलंग के सिरहाने, बाईं ओर आ बैठी और

उसने अपना हाथ मेरे कपाल पर रखा।

उसके बाद बहुत गम्भीर होकर बोली, "हाँ, दर्द तो बहुत है और बुखार भी है।" और वह मेरे कपाल पर हाथ फेरने लगी।

उसका रंग-ढंग देखकर मुझे हँसी आए बिना न रही। मैंने कहा, "तुम इतनी बड़ी डाक्टरनी हो, यह मैंने आज जाना; सिर्फ कपाल पर हाथ रखकर ही तुमने सिर-दर्द भी जान लिया और नाड़ी की गति भी!"

"तो क्या!" कुछ लजाती और तिरछी नजरों से देखती हुई लीला बोली, "मैं डाक्टरनी तो हूँ ही। तुमने क्या समझा था अभी तक मुझको।"

अज्ञात ही में वह 'तुम' कह गई थी।

"तुम सचमुच डाक्टरानी हो, या फिर जादूगरनी हो। यही देखो न, मेरे माथे पर हाथ फेरते ही तुमने मेरा सिर-दर्द आधे से अधिक भगा दिया।"

"जाओ! तुमको तो कष्ट के समय भी हँसी ही सूझती है!" बहुत ही मीठी लाज से बोझिल पलकों को नचाते हुए लीला ने कहा।

"नहीं लीला, मैं सच ही कह रहा हूँ, हँसी नहीं करता," अपने अन्तर की यथार्थ अनुभूति के साथ मैंने कहा। "तुम्हारे स्नेह से सचमुच मेरी पीड़ा दूर होती जा रही है। मैं चिर-दिन का अभागा रहा हूँ लीला, बचपन से ही कभी किसी नारी का सच्चा प्रेम और सहानुभूति पाने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला।"

रात-भर की अशान्ति के बाद मेरे थके हुए मन पर भावुकता का नशा बुरी तरह छाने लगा था; धीरे-धीरे मेरे शरीर और मन को अवश करता जा रहा था। दुर्निवार आत्म-करुणा बरबस मेरे अन्तर को धर दबाने लगी थी। लीला की आँखों में स्नेह-सनी करुणा छलक उठी। बोली, "इतने दिन तुम्हें यहाँ आए हो गए, पर अभी तक तुमने अपने पिछले जीवन की एक भी बात मुझे नहीं बताई।"

मैं उसी भावुकता के प्रवाह में बहता हुआ कहता चला गया, "माँ की मुझे कोई याद नहीं है। बाद में सुना था कि मेरे जन्म लेने के आठ-दस महीने बाद ही वह चल बसी थी। माँ के मरने के बाद जिस नारी ने (बाद में मुझे बताया गया कि वह मेरी बुआ थीं) मुझे पाला-पोसा वह भी न रही। माँ के मरने के ढाई-तीन साल बाद उसकी भी मृत्यु हो गई। उसके बाद रह गए केवल पिताजी और मैं। पिताजी के अस्तित्व के सम्बन्ध में मुझे कुछ सचेत ज्ञान होने ही लगा था—तब मेरी उम्र सात-आठ साल की रही होगी—कि किसी आकस्मिक रोग

से पीड़ित होकर एक दिन वह भी चल बसे। तब से न मेरा कोई आत्मीय स्वजन ही रह गया, न कहीं ठौर या ठिकाना। पिताजी किसी साधारण से स्कूल में अध्यापक थे। मकान और जमीन दो पीढ़ी पहले ही बिक चुकी थी। पिताजी हर समय उदास और दुःखी-से रहते थे। मेरे साथ हँसकर वह एक दिन भी नहीं बोले। इस प्रकार भाग्य ने मेरे लिए विश्व में निर्द्वन्द्व और मुक्त विचरने का रास्ता अपने-आप साफ कर दिया। पर मन के लिए रास्ता साफ होने पर भी तन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुझे पगपग पर जो सामाजिक अनुभव होते जाते थे, वे और चाहे जो भी हों, बहुत प्रीतिकर नहीं थे।" अन्तिम वाक्य मैंने हँसकर कहा। बड़ी ही करुण हँसी रही होगी वह! और उसके बाद बोला, "तुलसीदास की वह पंक्ति, तुम्हें याद होगी, 'बारे ते ललात बिल्लात द्वार-द्वार दीन जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।' बस ठीक यही किस्सा मेरा भी जानो। और 'माँगि के खैबो मसीद कै सोइबो' वाली बात भी थोड़े से अन्तर के साथ मेरे लिए ठीक बैठती है।"

"सचमुच तुम्हारे जीवन के अनुभव बड़े ही मार्मिक रहे होंगे," बड़ी सफाई के साथ अपनी गीली आँखों के कोनों को बाएँ हाथ से पोंछते हुए लीला ने कहा। अपना स्नेह-पुलकित दायाँ हाथ वह उसी तरह कभी मेरे सिर पर फेरती थी, कभी कपाल पर। उसकी आँखें करुणा से पिघलने पर भी मुस्करा रही थीं और एक अजीब-सा धूपछाँही खेल खेल रही थीं।

"पर तुमसे सच कहता हूँ लीला," उसी भाव-विह्वल मनःस्थिति में मैंने कहा, "आज के पहले जीवन में कभी एक दिन के लिए भी मेरे मन में इस बात की पीड़ा नहीं जगी। मैंने चिर-जीवन किसी का भी आन्तरिक स्नेह नहीं पाया। आज, जाने क्यों, पहली बार मुझे यह सोचने की इच्छा होती है कि जिन लोगों ने जीवन में कभी एक दिन के लिए भी माँ का, या बहन का, या भाभी का मंगलमय स्नेहाशीर्वाद पाया हो, वे कैसे भाग्यवान हैं। नारी-हृदय से निकली हुई सच्ची समवेदना का क्या मूल्य है, यह मैं आज जान पाया हूँ, जब तुम्हारे स्नेह की शीतल छाया सीधे मेरी आत्मा पर पड़ी है।"

"सचमुच बहुत ही भयानक रूप में दुखी रहा होगा तुम्हारा जीवन," फिर एक बार बाएँ हाथ से अपनी भीगी पलकों को पोंछती हुई लीला बोली।

कुछ देर तक वह चुपचाप मेरे सिर पर हाथ फेरती रही और स्नेहविकल

आँखों से मेरी ओर देखती रही। बहुत ही सुन्दर, बड़ी प्यारी लग रही थीं उस समय उसकी आँखें! उसके बाद कुछ अनमने-से भाव से बोली, "मैं तो एक साधारण नारी हूँ और मेरा जीवन भी बहुत ही साधारण परिस्थितियों में बीता है। पर विश्वास मानो, आज तक मैं अपने को ही सबसे बड़ी अभागिनी और स्नेह-वंचिता मानती थी। आज अपने उस निपट अज्ञान की बात को सोच-सोचकर अपने ऊपर मुझे हँसी आ रही है।" और कहते हुए उसकी करुण मुस्कान के भीतर उसकी गीली आँखें फिर चमक उठीं।

मैं अभी तक पलंग पर उसी तरह चित लेटा हुआ था, जिस स्थिति में मैंने नींद टूटने पर अपने को पाया था। लीला की निकटता मेरे शरीर में और मन में बड़ी ही सुखद अनुभूति जगा रही थी और इच्छा होती थी कि अनन्तकाल तक उसी स्थिति में उसी सुख का अनुभव करता रहूँ। पर चूँकि मेरे सिर का दर्द सचमुच जैसे किसी जादू की माया से तीन-चौथाई अच्छा हो गया था और लीला को अधिक कष्ट देना उचित नहीं लग रहा था, इसलिए मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक उठ बैठा और परिहास के स्वर में बोला, "लीला देवी, आपको शत-शत धन्यवाद! मैं आपको यह सर्टिफिकेट देता हूँ कि आप सचमुच बहुत बड़ी डाक्टरनी हैं।"

मेरे बोलने का ढंग देखकर वह मुक्त भाव से हँस पड़ी और परिहास के उसी वातावरण को कायम रखती हुई दूसरे ही क्षण बोली, "पर डॉक्टर के आगे 'नी' लगाने की जरूरत तुमको क्यों महसूस हुई? मालूम होता है स्त्री-पुरुष के बीच सामाजिक वैषम्य बनाए रखने की सनातन पुरुष-प्रवृत्ति तुम्हारे भीतर अभी तक घर किए हुए है।" उसकी आँखें दुष्टता के रस से लबा-लब भरी थीं। और उसकी भौंहों में कृत्रिम बल पड़ गए थे।

मैं सहसा 'हो-हो' करके हँस पड़ा। बोला, "वाह, बहुत सुन्दर बात कही तुमने! सचमुच तुम्हारी मनोवैज्ञानिक दृष्टि बहुत पैनी है।"

"पर तुम डॉक्टर की आज्ञा के बिना अभी से उठ क्यों बैठे? अभी तुम्हें कुछ देर और आराम करने की जरूरत है।"

"कभी-कभी मरीज को बात पर भी विश्वास कर लेना होता है, डॉक्टर साहब," मैंने उसी परिहास के लहजे में कहा। "मेरे सिर का सारा दर्द अब रफा हो गया है और थोड़ी-बहुत कसर अगर बाकी भी हो तो एक प्याला सादी

चाय पीकर वह साफ हो जायगी। इसलिए'..."

"बड़े दुष्ट हो तुम!" कहते हुए लीला ने घण्टी का बटन दबाया। शम्भू आया। लीला ने उससे कहा कि केवल चाय ले आए, खाने की कोई चीज न लाए।

चाय आई। लीला ने एक प्याला मेरे लिए बनाया और दूसरा अपने लिए। उसके बाद सहसा उसे जैसे कोई भूली हुई बात याद आई। "अभी चाय न पीना, मैं आती हूँ," कहकर वह झट से उठी और नीचे चली गई। प्रायः तीन मिनट बाद एक हाथ में थर्मामीटर और दूसरे हाथ में एक छोटी-सी शीशी लेती आई। 'केस में से थर्मामीटर निकाल गुसलखाने में जाकर उसे धो लाई और दो-तीन बार छटकाकर मेरे हाथ में देती हुई बोली, "पहले इसे लगाकर देखो, बाद में चाय पीना। मुझे शक है कि तुम्हें बुखार है," और उसके बाद वह वहाँ से उठकर मेरे ही पास बैठ गई।

मुझे यद्यपि कोई शक नहीं था, तथापि मैंने बहस करना बेकार समझकर उसे ले लिया और मुँह से लगाया।

"जब मैं कहूँगी तब निकालना," कहकर लीला अपने बाएँ हाथ में बँधी घड़ी देखती रही।

प्रायः दो मिनट तक मैं स्थिर भाव से बैठा-बैठा थर्मामीटर लगाए अनिच्छा के साथ मरीज बनने का स्वाँग रचे रहा, यद्यपि, मेरी दृष्टि से, आधे मिनट का समय उसके लिए काफी था। यह दो मिनट का समय मुझे दो घण्टे से भी अधिक भारी लगा। अन्त में जब लीला ने उसे निकालने के लिए कहा तब मेरी जान-में जान आई।

देखकर लीला प्रसन्न भाव से बोली, "बुखार तो नहीं है। अब तुम इतमीनान से चाय पी सकते हो। वैसे बुखार में चाय यों भी मना नहीं है, फिर भी इस सम्बन्ध में अधिक सावधान रहना ही अच्छा है। हाँ, मैं फिर भूल रही थी; ये दो टिकिया चायके साथ निगल जाओ। रहा-सहा सिर-दर्द भी जाता रहेगा।" कहकर उसने शीशी से दो छोटी-सी सफेद टिकिया निकालकर उन्हें मेरी ओर बढ़ा दिया। "धन्यवाद!" कहकर मैंने बिना बहस के उन टिकियों को भी ले लिया और उन्हें मुँह में डालकर ऊपर से दो घूँट चाय पी गया। उसके बाद इतमीनान से घूँट-घूँट करके पीता चला गया।

लीला भी धीरे-धीरे चाय पीने लगी। पीती हुई बोली, "मैं पहले बहुत घबरा गई थी कि कहीं सचमुच तुम्हें बुखार ने धर दबाया हो। आजकल मौसम बहुत खराब है और शहर में एक बहुत ही बुरे किस्म का बुखार फैला हुआ है, जिसकी खबर तुमने अखबारों में पढ़ी होगी।"

"चलो, तुमने भी परीक्षा करके देख लिया कि मुझे बुखार नहीं आ सकता, भले ही सिर-दर्द हो जाय और वह सिर-दर्द भी तुम्हारे हाथों के कोमल स्पर्श से भाग जाता है। और उस सिर-दर्द का दुर्भाग्य देखो कि इतना सुखद स्पर्श उसके लिए घातक सिद्ध होता है!"

"जाओ, तुम फिर ठठोली करने लगे!" बच्चों की तरह मुँह बनाकर शिकायत करती हुई और साथ ही आँखें और भौंहें नचाती हुई लीला बोली।

"नहीं, मैं हँसी नहीं करता लीला," मैंने आधा गम्भीर होकर कहा। "तनिक विचार करके तो देखो कि जीवन के एक बड़े सत्य का प्रतीक है यह! जो बात मेरे लिए प्राणशक्ति देनेवाली सिद्ध होती है वही मेरे किसी विरोधक तत्त्व के लिए—फिर वह चाहे वस्तु में हो या व्यक्ति में—विनाशक बन जाती है। तुम्हारे स्पर्श से मैंने बल पाया और मेरा सिर-दर्द, जो मेरे तन का और मन का सबसे बड़ा शत्रु बना हुआ था, उसीसे पराजित हुआ और भागा। इन्हीं छोटी-छोटी बातों पर गौर करते रहने से जीवन के बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण किन्तु उलझे हुए रहस्य सुलझते चले जाते हैं।

लीला मेरी बात को अपने ऊपर व्यंग्य और परिहास समझकर कृत्रिम खीझ-भरी मुद्रा में लजाती हुई-सी मुस्करा रही थी। "इस तरह मेरी हँसी उड़ाते जाओगे तो मैं रो दूँगी," कहती हुई वह सहसा बरबस खिलखिला ही तो पड़ी। उसके खिलखिलाने के छुतहा प्रभाव से मैं भी न बच सका और जी खोलकर ठहाके लगाता हुआ हँसने लगा।

जब हम दोनों एक-एक प्याला चाय समाप्त कर चुके तब लीला ने दुबारा 'टी-पॉट' से दोनों प्यालों में चाय उँड़ेली और उपयुक्त दूध और चीनी मिलाकर बोली, "लो एक प्याला और पीओ। तुम्हारे लिए सबसे उपयुक्त दवा क्या हो सकती है, यह मैं जान गई हूँ। चाय ही तुम्हारे लिए हर रोग में रामबाण सिद्ध होगी। एक ही प्याला पीने पर तुम इस तरह ठहाका लगाने लगे। दूसरा प्याला पीने पर तो तुम आकाश ही गुँजा दोगे। लो।"

उसकी तिरछी दृष्टि में, हलकी लाज से रँगी मुस्कान में, भीतर के उल्लास से चमकती हुई आँखों में, शरारत से फड़कते हुए ओठों में आज एक निराले ही जादू का समा बँधा हुआ-सा लगता था।

"यह जादू चाय का नहीं है," मैंने कहा, "यह जादू उन हाथों का है जिन्होंने इसे बनाया है। यह बात क्या मुझे तुम्हें बार-बार याद दिलानी होगी।"

"जाओ!" बच्चों की तरह मचलती हुई और अपनी सलज्ज मुस्कान के भीतर रोने का-सा कृत्रिम स्वर घोलती हुई बोली, "जान पड़ता है तुम मुझे यहाँ से उठाए बिना न मानोगे।"

"अच्छा, अब मैं कुछ नहीं बोलूँगा, तुम बैठी रहो।" कहकर मैं चुपचाप चाय पीने लगा। वह भी घूँट-घूँट करने पीने लगी।

चाय पीता हुआ मैं आधी दृष्टि से उसकी ओर एकटक देख रहा था। जितना ही देखता था उतना ही सुख मुझे मिलता था। दोनों मौन और गम्भीर थे। बीच-बीच में वह भी मेरी ओर कनखियों से देख लेती थी। एक बार अचानक हम दोनों की पूरी तरह से खुली और फैली हुई आँखें परिपूर्ण गम्भीरता तथापि एक रहस्यमयी उत्सुकता लिये हुए आपस में मूक भाव से टकरा गईं। मेरे सिर से लेकर पाँवों तक एक कंटकित वेदना जैसे बिजली की तरह लहरा गई। अपने सहज मूर्खतापूर्ण स्वभाव के कारण मैं मन को मथ देनेवाली उस विकल अनुभूति को अपने ही भीतर चुराकर, छिपाकर रख सकने में असमर्थ सिद्ध हुआ और मेरे मुँह से बरबस निकल पड़ा, "आज, जाने क्यों, तुम्हारी आँखें मुझे बहुत ही सुन्दर, बड़ी ही प्यारी लग रही हैं, लीला!"

सुनते ही लीला के कान के सिरे तक लज्जा से लाल हो उठे। "हटो!" कहकर उसने एक हलका-सा धक्का मुझे दिया और अपना खाली प्याला पास ही मेज पर रखकर वह सहसा उठ खड़ी हुई। "तुम बड़े दुष्ट हो, कल से तुम्हारे इतना पास नहीं बैठूँगी," कहकर फिर एक बार अत्यन्त गम्भीर किन्तु तिरछी दृष्टि से मुझे घूरती हुई वह चली गई।

मैं हक्का-बक्का होकर, आँखें फाड़-फाड़कर पीछे से उसकी ओर देखता रह गया। जब तक वह आँखों से एकदम ओझल न हो गई तब तक मैं उसके पाँवों की गति पर अनमने भाव से गौर करता रहा।

बहुत देर तक मैं पलंग पर उसी स्थिति में बैठे-बैठे यही सोचता रहा कि नारी-

स्वभाव के विविध रूपों से अनभिज्ञ होने और साधारण शिष्टाचार और व्यवहार में अपटु होने के कारण न जाने कौन-सी भयंकर भूल मैं कर बैठा !

कुछ देर बाद बड़े ही अनमने भाव से उठा और गुसलखाने में जाकर नहा-धोकर शरीर में तनिक ताजगी का अनुभव करता हुआ लौटा। पर मन वैसा ही भारी था। 'शेल्फ' में से एक पुस्तक उठाकर एक कुरसी पर बैठकर पढ़ने लगा। प्रायः पन्द्रह मिनट तक पढ़ता रहा। उसके बाद जी उचटने लगा। एक सिगरेट जलाकर मैंने रात ही की तरह चक्कर काटना शुरू कर दिया। टहलता हुआ याद करने लगा कि आज सुबह क्या-क्या बेवकूफी की बातें मैं भावुकता के आवेश में आकर लीला से कह गया। 'मैं जन्म का अभागा हूँ,' मैंने कहा था। क्या आवश्यकता थी इस तरह की निपट दयनीयता लीला के आगे प्रकट करने की ? इस तरह की अत्यन्त हीन आत्म-करुणा इसके पहले मेरे मन में नहीं जागी थी। सदा मैंने अपने को हर परिस्थिति का सामना करने योग्य पाया था। तब आज कौन-सी ऐसी नई बात आ पड़ी ? मुझे याद आया कि पिछले ही दिन मैंने गर्व के साथ लीला से कहा था, "मेरी पीड़ा व्यक्ति की पीड़ा नहीं है, व्यक्ति के रूप में मैं शाहंशाह हूँ।" और रात भी न बीतने पाई कि मेरा यह शोचनीय रूप, मेरे अनजाने ही, लीला के आगे प्रकट हो गया ! छी-छी ! छी-छी ! क्या कहती होगी वह अपने मन में ! सोचती होगी कि यह आदमी कैसा टुच्चा, ठग और बना हुआ है; जिस चारित्रिक दृढ़ता की यह डींग हाँकता फिरता है उसका लेश भी इसमें विद्यमान नहीं है। सोचकर मर्मशोषी ग्लानि से मेरी सारी आत्मा ही जैसे तीती हो उठी।

और फिर—मैं सोचता चला गया— अपने को एकदम भूलकर, अपनी झुठाई का तनिक भी ध्यान न रखकर, मैं इतनी देर तक उससे हँसी-खेल की बातें करता रहा ! बहुत ही छोटे किस्म के आदमियों—लफंगों—की तरह ! इतनी भी अक्ल मुझे नहीं आई कि एक भले घर की पढ़ी-लिखी और सुसंस्कृत लड़की से किस तरह पेश आना चाहिए और किस तरह बातें करनी चाहिए। उसकी भलमनसाहत का इस तरह नीचतापूर्ण लाभ उठाने के लिए मैं किस दुर्बुद्धि से प्रेरित हो गया ? छी-छी ! छी-छी ! और मैं अपने को अत्यन्त निर्मम भाव से कोसता हुआ, जल्दी-जल्दी

सिगरेट फूँकता हुआ, आँखें फर्श की ओर किये तेज कदमों से टहलने लगा।

मेरा यह आत्मग्लानि का दौरा बहुत देर तक चला। आकाश-पाताल की बहुत-सी व्यर्थ की बातें मैं सोचता रहा, पर एक बार भी मैंने इस बात पर विचार नहीं किया कि मेरे स्वभाव में जो परिवर्तन इतनी तेजी से आ रहा है उसका मूल कारण क्या है और किस उपाय से उस मूल को बढ़ने के पहले ही छिन्न किया जा सकता है।

एक बार इच्छा हुई कि नीचे जाकर लीला से अपने व्यवहार के लिए क्षमा माँगूँ। पर किसी तरह भी साहस नहीं होता था। आज सुबह से ही मैं यह महसूस करने लगा था—और इस समय भी कर रहा था— कि लीला सहज ही में, अज्ञात रूप से, मेरे अन्तर के कितने निकट आ गई है। सचमुच आज वह हर दृष्टि से मुझे बहुत ही प्यारी लगने लगी थी। इसीलिए उसे खिझाने के कारण मेरे अनुताप की सीमा नहीं थी। रह-रहकर मैं यही आशंका करने लगा कि लीला अब किसी भी हालत में मेरे साथ आन्तरिक स्नेह और सौहार्द से बातें नहीं करेगी।

इसलिए जब वह प्रायः तीन घण्टे बाद पहले से भी अधिक स्नेह अपनी प्रसन्न आँखों में छलकाती हुई आई तब मेरे आनन्दपूर्ण आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

आते ही बोली, "कहिए जनाब, क्या हाल हैं? कैसा है सिर-दर्द? आप तो इस तरह टहल रहे हैं जैसे किसी से द्वन्द्व-युद्ध करने की बात सोच रहे हों।"

उसका व्यंग्य भी बहुत ही मीठा और प्रिय लगा मुझे। उसकी आँखों में, उसके मुख की स्निग्ध और सौम्य अभिव्यक्ति में, उसके क्षमाशील मन का जो भाव मेरे आगे सुस्पष्ट हो गया था, उसके कारण मैं इस तरह निश्चिन्त हो गया था कि उसका कोई भी व्यंग्य मुझे कँटीला नहीं लग सकता था। पर इस बार मैं झेंप के कारण उसकी आँखों से आँखें मिलाने का साहस नहीं कर पाता था। बरबस मुस्कराने का प्रयत्न करता हुआ, मुरझाई हुई आवाज में धीरे से बोला, "हाँ, तुमने एक प्रकार से ठीक ही कहा है। अवश्य मैं द्वन्द्व-युद्ध की ही बात सोच रहा था, पर वह द्वन्द्व अपने से था, किसी दूसरे से नहीं।"

कुछ क्षण तक वह चुपचाप मेरी ओर एकटक देखती रही। उसके बाद अपेक्षाकृत गम्भीर भाव से बोली, "व्यर्थ की कल्पनाओं के चक्कर में पड़कर तुम कहीं सचमुच बीमार न पड़ जाओ, मुझे इस बात का भय है। तुम्हारे सिर-दर्द का कारण भी अब मैं कुछ-कुछ समझ रही हूँ।"

"नहीं, अब वह ठीक हो गया है, कोई चिन्ता की बात नहीं है," एक लम्बी साँस खींचते हुए मैंने कहा।

"अच्छी बात है, तब खाना खा लिया जाय। नीचे जाने की जरूरत नहीं है। आज सहज इच्छा के अनुसार यहीं खाना मँगाती हूँ। बहुत हलका खाना तैयार किया है तुम्हारे लिए—मूँग की दाल, परवर का साग और साबूदाने की खीर।"

यह कहकर उसने घण्टी का बटन दबाया। शम्भू आया। उससे दोनों का खाना ले आने के लिए कहा गया।

खाना खा चुकने के बाद लीला बहुत देर तक मेरे ही पास बैठी रही और बहुत ही प्रसन्न भाव से, मुक्त हृदय से, विविध विषयों पर, कभी मतलब की और कभी बे-मतलब की बातें करती रही। मैं धीरे-धीरे फिर अपने को भूलकर उसी निर्द्वन्द्व मनःस्थिति में आ गया जिसका सुख मैं सुबह पा चुका था।

शाम को लीला ने सिनेमा चलने का प्रस्ताव किया। बोली, "तुम्हारी जैसी तबीयत है उसमें मन को भूलने और बहलाने की आवश्यकता है।"

मैं बिना किसी आपत्ति के राजी हो गया।

सिनेमा से लौटने के बाद कोई विशेष बात नहीं हुई। रात में सुबह की ही तरह हलका खाना खाकर, लीला के हाथों से बिछी हुई मक्खन-सी मुलायम, ताजा धुली दूधिया चादर पर लेट गया। लेटते समय चित्त बहुत शान्त और प्रसन्न था, पर शरीर कुछ थका हुआ-सा लगता था। लेटने के कुछ ही देर बाद नींद आ गई। पर फिर पिछली रात की ही तरह एक ऊटपटाँग स्वप्न देखने के बाद नींद उचट गई। फिर वैसी ही अस्पष्ट परेशानी का अनुभव मैं करने लगा। मैं उसे भूलकर बार-बार फिर से सोने का प्रयत्न करता था, पर वह परेशानी घटने के बजाय निरन्तर बढ़ती ही चली जाती थी। लाचार बत्ती जलाकर मैं उठ बैठा और सिगरेट जलाकर पिछली रात की ही तरह कमरे में चहलकदमी करने लगा। कुछ ही देर बाद मैंने न जाने क्या सोचकर बत्ती बुझा दी और कमरे के प्रायान्धकार में ही अनमने भाव से टहलने लगा। अजीब और अस्पष्ट से विचार मेरे मन में और मस्तिष्क में मँडराने लगे—ऐसे विचार जिनका दिन के विचारों से किसी भी रूप में कोई साम्य नहीं था। एक अनोखी उथल-पुथल-सी मेरे भीतर मच रही थी और एक विकट विद्रोह का-सा भाव जाग रहा था। वह भाव इतना अस्पष्ट था

कि मैं ठीक से कुछ समझ ही नहीं पा रहा था। वह विद्रोह क्यों और किसके प्रति है, यह जानना मेरे लिए अत्यन्त कठिन—प्रायः असम्भव—सिद्ध हो रहा था। विश्लेषण करने की कोई शक्ति ही जैसे मुझमें नहीं रह गई थी। मैं केवल अनुभव कर रहा था। न जाने मन की किस अतल गहराई में छिपी कौन तूफानी शक्तियाँ उमड़-उमड़कर, गरज-गरजकर, अन्ध-वेग से ऊपर को उठती चली आ रही थीं। आधी रात के सन्नाटे को भेदकर, चारों ओर फैली हुई सड़कों पर टिमटिमानेवाले प्रकाश-स्तम्भों से ऊपर उठकर वे सघन वाष्प से स्पन्दित तूफानी लहरें जैसे सब-कुछ ढहाकर, बहाकर, युग-युगों की अजानित, रुद्ध और विराट् आकांक्षा की पूर्ति के लिए पागल हो उठी थीं। क्या थी वह विराट् आकांक्षा, कहाँ से उठ रही थीं वे तूफानी तरंगें, इसका ठीक से कुछ भी ज्ञान मुझे नहीं हो पाता था। सोचने की बहुत कोशिश करने पर केवल इतना ही अनुभव हो पाता था कि वे अन्ध-शक्तियाँ एक विराट् मन के भीतर निहित हैं और मेरा मन उस विराट् मन का एक अत्यन्त लघु अंश मात्र होने पर भी उसी से एक रूप में जुड़ा है। समग्र मानवीय अवचेतना के महापारावार के अँधेरे गर्भ के भी नीचे, स्तर-प्रति-स्तर दबी पड़ी, युग-युग की दुर्निवार और ऊर्ध्वमुखी महाकांक्षाएँ ऊपर उठ-उठकर सम्पूर्ण भू-चेतना के मुक्त प्रकाश पर सम-भाव से छा जाने के लिए जैसे अधीर हो उठी थीं और अपने साथ जुड़े हुए मेरे अन्तर्मन को भी उसी महाताल और महालय के साथ आन्दोलित कर रही थीं।

"यही मेरे व्यक्तित्व का सच्चा रूप है," मैं अपने मन में सोचने लगा, "इन्हीं विद्रोही शक्तियों को मुझे हर समय अपने भीतर जगाए रखना होगा और जहाँ तक बस चले, दूसरों की चेतना पर भी उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव छोड़ते जाना होगा। यही अपना धर्म है। उससे डिगना जीवित मृत्यु की महा जड़ता को अपनाने के बराबर होगा। जिस स्नेह-विकल, कोमल और गलनशील वातावरण के दलदल के बीच में मैं आ फँसा हूँ उससे जल्दी ही पूरी शक्ति से उबर जाना होगा, नहीं तो विनाश निश्चित है।"

इस तरह के विचित्र विचार रह-रहकर मेरी सारी चेतना को हिलकोर रहे थे। बहुत देर तक इसी प्रकार चक्कर लगाते हुए सोचते रहने के बाद जब रात के अन्तिम प्रहर में मेरा मन और शरीर दोनों थक गए, तब मैं परास्त-सा पलंग पर लेट गया और थोड़ी ही देर में सो गया।

जब आँखें खुलीं तब सूरज काफी ऊपर चढ़ चुका था। दिन के उस परिपूर्ण प्रकाश में जब मैंने लीला का मुस्कराता हुआ मुँह देखा तब रात के तूफानी भावोद्वेलन की कोई याद ही मुझे नहीं रही। पिछले दिन की तरह ही मैंने उसकी आँखों की स्नेहपूर्ण चितवन का उत्तर आन्तरिक प्रीति से, गद्‌गद मूक भाव द्वारा दिया। रात की सारी अशान्ति, सारे विद्रोहात्मक मनोभाव को मैं अतीत के दुःस्वप्न की तरह एकदम भूल गया।

उस दिन नहा-धोकर, नाश्ता कर चुकने के बाद मैं नीचे ड्राइंग रूम में लीला की प्रतीक्षा में बैठा हुआ एक अँगरेजी अखबार हाथ में लेकर पढ़ रहा था। लीला मुझसे यह कहकर कपड़े बदलने चली गई थी कि दोनों मार्केटिंग के लिए साथ ही चलेंगे। इतने में सहसा एक 'कार' बरसाती में आ लगी। उसमें से नीरजा उतरी और भीतर प्रवेश करते ही बोली, "चलिए, मैं आप ही को ले चलने के लिए आई हूँ।"

"कहाँ?" मैंने अश्चर्य से पूछा।

"मेरे घर माँ, जीजी, पिताजी, भैया, भाभी, सब आप से मिलने के लिए उत्सुक हैं। वहीं आप को खाना भी खाना होगा।"

"पर अभी तो···"

"मैं कोई आपत्ति न सुनूँगी। उस दिन आपने मुझे वचन दे रखा था, इसीलिए मैं साहस करके और बड़ी आशा बाँधे आई हूँ। उठिए, चलिए!"

"पर लीला से पूछे बिना मैं कैसे जा सकता हूँ। उसके साथ किसी दूसरी जगह चलने की बात पहले ही से तय हो चुकी है।"

"लीला बहन को मैं राजी कर लूँगी, आप इस बात की तनिक भी चिन्ता न कीजिए। उठिए!"

उसका बाल-हठ बड़ा ही दुर्निवार मुझे लग रहा था, इसलिए भीतर से प्रतिरोध की इच्छा रखते हुए भी मैं किसी मशीन द्वारा चालित पुतले की तरह उठ खड़ा हुआ। मैं दुविधा में खड़ा ही था कि सहसा लीला कपड़े बदलकर भीतर से आ पहुँची।

"लीला बहन, इन्हें मैं अपने साथ लिये जा रही हूँ। आज यह हमारे यहाँ खाना खाएँगे और वहीं आराम करेंगे। शाम तक इन्हें पहुँचा दूँगी।"

मैंने लीला की ओर देखा। वह न 'हाँ' बोली न 'ना', केवल मौन भाव से एक बार मेरी ओर और एक बार नीरजा की ओर देखती रही।

"अब चलिए," कहकर नीरजा ने हौले-से मेरा हाथ खींचा। मैं कटपुतली की तरह उसके साथ हो लिया।

मोटर का दरवाजा खोलकर उसने पहले मुझसे भीतर बैठने के लिए कहा और फिर स्वयं भी मेरी बगल में बैठ गई। जब 'कार' चल दी तब मुझे लगा जैसे मुझे बलपूर्वक पकड़कर भगाया जा रहा हो।

रास्ते में नीरजा बोली, "आज यूनिवर्सिटी बन्द है, इसलिए मैं फ़ुरसत से आपको लिवा ले जा रही हूँ।"

जब 'कार' बालीगंज के पास एक बहुत बड़े मकान की बरसाती पर आकर ठहरी तब नीरजा उतरी और उसने मुझसे भी उतरने के लिए कहा। जब मैं उतरा तब वह मुझे भीतर ड्राइंग रूम में ले गई जो नीचे ही था। वहाँ दो सज्जन दो महिलाओं के साथ बैठे हुए थे। उनमें एक सज्जन अधेड़ अवस्था के थे और एक जवान। अधेड़ सज्जन केवल कुरता और धोती पहने थे। आँखों में वह एक सुनहरा चश्मा चढ़ाए हुए थे। युवक धोती के साथ कमीज और कोट पहने थे और उनके सिर पर ऊँची दीवारवाली एक काले रंग की टोपी थी। परिचय कराए जाने पर मालूम हुआ कि अधेड़ सज्जन नीरजा के पिता हैं और युवक उसका बड़ा भाई है। महिलाओं में से एक उसकी माँ थी और दूसरी भाभी।

पता नहीं क्यों, ड्राइंग रूम में प्रवेश करते ही एक अजीब उदासी-सी मेरे मन में छाने लगी थी। मैं एक सोफा पर बैठ गया और नीरजा और उसके घर के लोग भी कोई कौच पर और कोई सोफा पर बैठ गए। शिष्टाचार की दो-एक बातों के अलावा और कोई बात हम लोगों के बीच नहीं हो पाई। अधेड़ सज्जन ने एक प्रश्न—न जाने क्या सोचकर—संगीत के सम्बन्ध में किया था, जो ऐसा भोंडा था कि मैं बड़ी सफाई से उसे टाल गया। स्पष्ट ही नीरजा ने मेरा जो परिचय उन्हें पहले दिया होगा और जो मेरे सामने भी दिया, उससे वे लोग मुझे एक पेशेवर गवैए से अधिक और कुछ नहीं समझ रहे थे। नीरजा सम्भवतः कुछ अधिक या कम—समझी हो, पर वह समझा नहीं पाई थी।

कुछ देर तक मैं अत्यन्त अशोभन परिस्थिति में बैठा रहा। उसके बाद नीरजा ने ही मेरी प्राण-रक्षा की। "चलिए, आपको अपने यहाँ का म्यूजियम दिखा लाती हूँ," उसने कहा।

मैं उठा और उसके साथ हो लिया। ड्राइंग रूम के भीतर से ही बाईं ओर एक दरवाजा खुला था। वह मुझे वहाँ ले गई। उस दरवाजे से होकर हम लोग एक गलियारे में पहुँचे और वहाँ से सीढ़ियों से होकर ऊपर चढ़े। ऊपर हम दोनों ने एक बहुत बड़े हॉलनुमा कमरे में प्रवेश किया। वहाँ दीवारों पर तरह-तरह की पुरानी ढालें, तलवारें, मध्ययुगीन राजपूत वीरों के पहनने के तरह-तरह के कपड़े, कवच, शिरस्त्राण आदि चीजें टँगी हुई थीं। नीरजा ऊपर की ओर उँगली से संकेत करती हुई बताती जाती थी कि उनमें कौन चीज किस विशेष वीर या राजा की है। नीचे शीशे के बड़े-बड़े 'केसों' की दो कतारें लगी हुई थीं, जिनमें से किसी में भिन्न-भिन्न युगों की मूर्तियों के ध्वंसावशेष रखे हुए थे, किसी में पुरानी पाण्डुलिपियाँ थीं, किसी में किसी वीर रानी या राजपूत महिला के कपड़े या गहने सजाकर रखे हुए थे और किसी में कुछ पुराने सिक्के। किसी विशेष योजना के अनुसार वे चीजें नहीं सजाई गई थीं।

उसके बाद नीरजा मुझे दाईं ओर एक दूसरे कमरे में ले गई जहाँ दीवारों पर विविध जन्तुओं की खालें उनकी पूर्ण मुखाकृतियों सहित रखी हुई थीं। उनमें शेर, बाघ, भेड़िया आदि हिंस्र जन्तुओं की खालें ही अधिक थीं। नीचे पानी से भरे हुए शीशे के बड़े-बड़े बाक्सों के भीतर विभिन्न प्रकार की रंग-बिरंगी मछलियाँ तैर रही थीं। उत्तर की ओर एक कतार में तरह-तरह की भूसा-भरी चिड़ियाँ भी सजाकर रखी गई थीं, जो दूर से देखने से सजीव होने का धोखा देती थीं।

उसके बाद हम लोग उत्तर की ओर एक कमरे में पहुँचे, जहाँ एक ओर भारत के विभिन्न राज्यों और कुछ दूसरे देशों के भी प्राचीन बाजे रखे थे। नीरजा के बताने पर पता चला कि उनमें अधिकांश बाजे चीन, जापान, तिब्बत और लंका से प्राप्त किये गए थे। दूसरी ओर मुगल और राजपूत-युग के कुछ मूल चित्र टँगे हुए थे। दक्षिण की ओर बुद्ध और जैन तीर्थंकरों की विविध मूर्तियाँ एक कतार में सजाकर रखी गई थीं। अधिकांश मूर्तियाँ नई और संगमरमर की लगती थीं। पूरब की ओर बहुत-सी खण्डित और बहुत पुरानी प्रस्तर-मूर्तियाँ रखी थीं। नीरजा की बातों से मैंने जाना कि उनमें अधिकांश मूर्तियाँ शुंग और गुप्त-काल की थीं।

देख-देखकर मेरा मन अधिकाधिक खिन्न और उदास होता चला जाता था। मुझे लग रहा था जैसे मैं मृतकों, भूतों और प्रेतों के देश में विचरण कर रहा होऊँ, जिनका इस लोक से किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है; जो इस जीवित जगत् के वर्तमान में प्रतिपल अनुभूत सजीव पीड़ा के प्रति कण-मात्र भी सहानुभूति का अनुभव नहीं कर सकते और न भविष्य के लिए ही किसी प्रकार की कोई प्रेरणा देने में समर्थ हैं। नीरजा मुझे समझाती हुई निरन्तर बोलती जाती थी और मैं सुनता जाता था। लगता था जैसे जीवित लोक के उस पार किसी अलक्षित बिन्दु पर स्थित कोई भूतात्मा किसी अदृश्य माइक्रोफोन से बड़बड़ाती चली जा रही है।

उस कमरे से बाहर निकलकर हम लोग एक चौड़-से बारजे पर आए जहाँ करीने से रखे हुए कई गमलों में विचित्र-विचित्र प्रकार की फूल-पत्तियाँ और पेड़-पौधे लगाए गए थे। कुछ गमले ऐसे थे जिनमें से प्रत्येक में एक बहुत बड़ा लाल फूल आग के गोले की तरह लगा हुआ था। कुछ गमलों में नागफणी-जातीय पौधे विविध मुद्राओं में कुण्डली मारे हुए कण्टकित साँपों की तरह लहरा रहे थे। कुछ में ताड़, खजूर, देवदारु, झाऊ आदि बड़े-बड़े वृक्षों के गमला संस्करण लगाए गए थे। उन महावृक्षों की महाशोभा को ड्राइंग रूम की शोभा में परिणत करने में आजकल वनस्पति-शास्त्रियों की सारी कला किस प्रकार खर्च हो रही है, इस उलटबाँसी का यह एक नमूना था।

मैं अब बहुत थक गया था और छुट्टी चाहता था, इसलिए जब नीरजा ने यह बताया कि अब कुछ देखना बाकी नहीं है तब मैंने चैन की साँस ली। वहाँ से वह मुझे फिर नीचे ड्राइंग रूम में ले गई। वहाँ दो-तीन युवक और दो-तीन युवतियाँ पहले ही से बैठे हुए थे। नीरजा ने उन सबसे मेरा परिचय कराया। उसके बाद मुझे उन लोगों के साथ ड्राइंग रूम में ही छोड़कर स्वयं भीतर चली गई। कुछ देर बाद लौटकर आई और मुझसे और दूसरे उपस्थित व्यक्तियों से बोली, "चलिए, खाना तैयार है।"

हम सब लोग उसका अनुसरण करते हुए पच्छिम की तरफवाले एक कमरे में गए। वहाँ एक बहुत बड़ी मेज के चारों ओर हम लोग बैठ गए। नीरजा भी बैठी और उसके भैया और भाभी भी, पर उसके पिताजी और माताजी वहाँ नहीं दिखाई दिए।

जब हम लोग खाना खा रहे थे तब उपस्थित सज्जन आपस में कुछ शिष्ट हास-परिहास करते रहे। महिलाएँ भी बीच-बीच में उसमें योग देती रहीं। मैं मौन भाव से धीरे-धीरे खाता रहा। नीरजा समय-समय पर मुझसे पूछती जाती थी कि क्या चाहिए और कुछ विशेष व्यंजनों के लिए आग्रह करती जाती थी। मैं केवल 'हाँ' या 'ना' कहकर रह जाता था।

भोजन के बाद हम लोग फिर ड्राइंग रूम में चले आए। तब तक पाँच-छः व्यक्ति और आ पहुँचे थे, जिनमें अधिकांश अधेड़ या वृद्ध थे। मेरी उदासी बढ़ती चली जाती थी और मैं चाहता था कि नीरजा मुझे जल्दी ही डेरे पर पहुँचा दे, पर नीरजा की तरफ से इस प्रकार का कोई भी प्रस्ताव नहीं आ रहा था। मैं केवल शिष्टाचार निभाने के लिए चुपचाप एक सोफा पर बैठ गया।

थोड़ी देर बाद मैंने देखा, दो अधेड़ महिलाओं और दो वृद्ध सज्जनों के साथ एक जटा-जूटधारी बाबा साक्षात् दुर्वासा ऋषि की-सी मुद्रा बनाए आ पहुँचे। वह ताजा रँगे हुए गेरुआ वस्त्र पहने थे और उनके हाथ में यम के कालदण्ड के समान प्रायः दो फीट लम्बा, कुटिल काँटेदार एक मोटा-सा डण्डा था। उन्हें देखते ही सभी अधेड़ और वृद्ध सज्जन और सभी महिलाएँ बड़े आदर से हाथ जोड़ते हुए उठ खड़े हुए। जो युवक बैठे रह गए (जिनमें मैं भी एक था) उन पर अपनी जलती हुई आँखों से अग्नि-वृष्टि करते हुए बाबा एक सोफा पर विराजमान हुए।

बाबाजी के आसनासीन होने पर कुछ देर तक सारी सभा में स्तब्धता छा गई। उसके बाद एक किनारे से धीरे-धीरे कुछ आवाजें उठने लगीं, कुछ काना-फूसी-सी होने लगी। मेरी बगल में नीरजा की माताजी बैठी थीं। उन्होंने बहुत ही धीमी आवाज में मुझसे कहा, "यह बाबा बड़े ही सिद्ध और पहुँचे हुए हैं।" मैं चुप रहा। तत्कालीन स्थिति में मौन दर्शक या श्रोता बने रहने के सिवा मेरे लिए और कोई दूसरा रास्ता था भी नहीं।

जिस किनारे से धीरे-धीरे अस्पष्ट आवाज उठ रही थी वह उत्तरोत्तर स्पष्टतर होती चली जाती थी। कुछ ही क्षण बाद सबके आगे यह साफ हो गया कि बात-चीत का विषय गोवध-निवारण है।

"गोविन्द ! गोविन्द ! तू ही रक्षक है !" कालदण्ड को अपनी टाँगों के बीच में रखे हुए, दोनों हाथों को जोड़कर, ऊपर छत पर पंखे की ओर अपनी यौगिक

दृष्टि को केन्द्रित करते हुए बाबा बोल उठे। वह ध्यानमग्न दशा में तीव्र गति से चलते हुए पंखे की ओर इस तरह देखते रहे जैसे वह गोविन्द का साक्षात् सुदर्शन-चक्र हो।

फिर एक बार सभा में स्तब्धता छा गई और सब लोग एकटक बाबा को देखते रहे। अधेड़ अथवा वृद्ध महिलाओं और वृद्ध सज्जनों की भक्ति-भरी आँखों में पुलक-विह्वल भाव छाया हुआ था और युवकों की आँखों में व्यंग्य-भरी मुस्कान। युवतियों की स्थिति कुछ बीच की-सी थी।

उसी पंखे की ओर मग्न-भाव से देखते हुए उसी तरह हाथ जोड़े हुए बाबा बोल उठे, "हे दैत्यविनाशन मधुसूदन! अब कब यह शाप छूटेगा? हे गोपाल! अब जल्दी मुक्ति दो। अब यह पाप-दृश्य अधिक नहीं देखा जाता। अपने चक्र द्वारा जल्दी ही दुरात्माओं का संहार करो। पाप के महाभार में यह पृथ्वी अब बहुत ही अधिक बोझिल हो गई है। हे कृष्ण! अब धर्म-संस्थापन के लिए शीघ्र आओ और मुझे भी अपने साथ ले चलो। हम दोनों की द्वापर की मैत्री क्या तुम सचमुच ही भुला दोगे? मेरा प्रायश्चित्त क्या अभी तक पूरा नहीं हुआ? ऐसे निर्दयी न बनो प्रभु!"

काफी देर बाद बाबा की दृष्टि चक्राकृति पंखे से नीचे उतरी और कालदण्ड पर आकर ठहरी। तब तक सब लोग एकदम मौन रहे। यह स्पष्ट था कि क्या विस्मय-विह्वल और भक्ति-गद्गद वृद्ध और क्या विनोदित युवा सभी कुतूहली होकर बाबा की रहस्यमयी वाक्यावली का समाधान चाहते थे। पर किसी को भी जैसे कुछ प्रश्न करने का साहस नहीं होता था। अन्त में एक प्रायः सत्रह-अठारह वर्षीय गोरे और सुदर्शन लड़के ने, जो कुछ ही समय पहले आया था और एक सोफा के पीछे खड़ा था और केवल बनियाइन और धोती पहने था, सहसा मौन भंग करते हुए बाबा को लक्ष्य करके कहा, "अच्छा बाबा, आपको तो द्वापर युग की बातें अच्छी तरह याद होंगी!" उसका स्वर जितना ही निर्भीक था वैसा ही मीठा भी। उसकी आँखों में और ओठों के इर्द-गिर्द एक अव्यक्त-सी व्यंग्यात्मक मुस्कान खेल रही थी।

"उन सुखमय दिनों की याद दिलाकर क्यों मर्म-पीड़ा जगा रहे हो, बच्चा!" बाबा ने अपने भैरव-स्वर में यथासम्भव कोमलता घोलने का प्रयास करते हुए कहा।

"हम लोगों के मन में यह जानने की बड़ी उत्सुकता है बाबा, कि कृष्ण जी से आपकी मैत्री किस रूप में थी," लड़का बोला।

"कृष्ण मेरे बचपन के साथी थे बच्चा! हम दोनों बचपन में बहुत ही नटखट थे। हमारी शरारतों से हमारे माता-पिता अक्सर बहुत तंग आ जाया करते थे।"

"अच्छा तो माखन-चोरी में आप भी कृष्ण के सहायक रहा करते थे?" सहज भाव से मुस्कराते हुए लड़के ने पूछा।

मैं डरा कि कहीं इस प्रश्न से क्रुद्ध होकर बाबा कालदंड ही न उठाने लगें; पर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही जब सहसा बाबा की विकराल गंभीरता एक भोले से हास्य में बदल गयी। "हीं-हीं-हीं-हीं!" बाबा दाँत दिखाते हुए फूटी हुई ढोलक की-सी आवाज में हँस पड़े और किसी प्रहसन के अभिनेता की-सी विचित्र मुद्रा से आस-पास बैठी हुई महिलाओं की ओर देखते हुए बोले : "देखो इस बालक की दुष्टता? अभी यह निष्पाप है। इसलिए इसके विमल चेतस् में सत्य का प्रतिबिंब पड़ ही गया।" उसके बाद कुछ गंभीर होकर लड़के को संबोधित करते हुए बोले : "तुम ठीक कहते हो बच्चा, मैं भी शरीक था कृष्ण की उस माखन-चोरी में। मैं गोपाल को अपने कंधे पर चढ़ा लेता। मैं आयु में उनसे बड़ा था और बलवान था। गोपाल इस प्रकार छींका पकड़ लेते थे। पर तब मैं नहीं जानता था कि यह सब उस जगदाधार की लीला है। मैं तब अपने बाल-सुलभ नटखटपन के कारण उसका साथ दे रहा था। उनका असली रूप तो जाना मैंने महाभारत-युद्ध के अवसर पर।"

"जब भगवान् अर्जुन को गीता-ज्ञान सुना रहे थे तब?" लड़के की मुस्कराती हुई आँखों में शरारत भरी थी।

"सत्य कहते हो तुम," बाबा सहज गम्भीर भाव से बोले। "यह मेरा सौभाग्य ही था कि मैं कुतूहल-वश ठीक उस समय अर्जुन के रथ के पीछे छिपकर खड़ा हो गया था जिस समय अर्जुन को सहसा व्यामोह उपस्थित हो गया था। चारों ओर सैनिकों का अथाह सागर उमड़ रहा था। शंखों, दुन्दुभियों, नगाड़ों और दूसरे मारू बाजों के साथ ही हाथियों के चिंघाड़ने और घोड़ों के हिनहिनाने का शब्द बड़े-बड़े वीरों के हृदयों को दहला देता था। सारा गगन-मण्डल धूल से छा गया था, मानो यह सम्पूर्ण विश्व धूलिमय हो। रथ के ऊपर रथ चढ़े चले जा रहे थे और हाथी-पर-हाथी। करोड़ों-अरबों-खरबों रथ, रथी, अश्वारोही, हाथियों

पर सवार रणबाँकुरे और पैदल सैनिक सारे भूमण्डल को कँपा रहे थे। मैं युद्ध का दृश्य देखने की उत्सुकता न रोक सकने के कारण कुरुक्षेत्र के उस सैकड़ों योजन व्यापी युद्ध-क्षेत्र में—वरंच धर्मक्षेत्र में—आ फँसा था। पर चारों ओर सहस्रों समुद्रों के उमड़ने का-सा दृश्य देखकर और तुमुल कोलाहल सुनकर मैं तो बच्चा, बुरी तरह घबरा गया। इसलिए कहीं रक्षा न देखकर मैं कृष्ण की शरण में जाने की आकांक्षा से उनकी खोज में बहुत देर तक इधर-उधर भटकता रहा। अन्त में मेरे परम सौभाग्य से वह विशाल रथ मुझे दिखाई दिया जिसकी ऊँची ध्वजा पर महावीर हनुमान जी विराजमान थे। मैं मारे हर्ष के तत्काल चिल्ला उठा, 'बोल बजरंगबली की जय !' उस समय वह रथ स्थिर खड़ा था। मैं भी चुपचाप उसके पीछे जाकर खड़ा हो गया।"

"पर बाबा, उस समय तो लोग संस्कृत बोलते थे। आपको द्वापर में भी हिन्दी का ज्ञान कैसे हो गया ?" लड़के ने पूछा। मैंने गौर किया कि अब बड़े-बूढ़े भी, जो कुछ समय पूर्व लड़के के प्रश्नों से कुछ घबराए-से जान पड़ते थे, दिलचस्पी लेने लगे थे।

बाबाजी स्पष्ट ही इस प्रश्न के लिए तैयार न थे। सहसा पकड़े जाने पर वह क्षण-भर के लिए कुछ हतप्रभ-से हुए। पर चूँकि उनकी प्रतिभा का भंडार अक्षय था, इसलिए सँभलने में उन्हें देर न लगी। बोले, "तुम अभी निपट अज्ञान के अन्धकार से घिरे हो बच्चा, इसलिए सत्य के मर्म को नहीं समझ पा रहे हो। अरे, तुम इतना भी नहीं जानते कि द्वापर के गर्भ में कलि निहित था ? जिनकी अन्तर्दृष्टि योग-सिद्ध होती है, गर्भ के भीतर का भी सारा रहस्य उनके भीतर दर्पणवत् स्पष्ट हो उठता है। उसी प्रकार मेरी विरुद्ध अन्तरात्मा से कलियुग की भाषा अपने आप बाहर निकल पड़ी। सुनकर मुझे स्वयं भी आश्चर्य हुआ था। जो भी हो, जब मैं रथ के पीछे खड़ा हुआ तब मैंने भगवान् को यह उपदेश देते हुए सुना :

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

"सुनकर मैंने गहराई से अपने मन में सोचा कि देखो, सबसे पहली बात जो भगवान् के मुख से निकली थी 'परित्राणाय साधूनाम्', अर्थात् साधू-संन्यासियों की रक्षा करना ही भगवान् का और मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है। हे दीन-बन्धो ! आज साधु-संन्यासियों की और गो-ब्राह्मण की जो दुर्दशा हो रही है उसे

स्वर्ग से देखते हुए भी तुम मौन क्यों साधे बैठे हो ? जल्दी अवतरो प्रभो ! और दुष्टों और नास्तिकों पर चक्र-प्रहार करो !" कहकर बाबा ने फिर एक बार तेज चाल से चलते हुए पंखे की ओर भाव-मग्न आँखों से देखकर हाथ जोड़े।

जब उनकी स्वर्ग-दर्शी आँखें फिर भूमि पर लौट आईं तो सामने बैठा हुआ एक नवयुवक बोल उठा, "अच्छा बाबा, हम लोग तो समझते थे कि भगवान् सर्वत्र विराजते हैं, घट-घटव्यापी हैं, पर आपकी बातों से पता चलता है कि वह हर समय अपने स्वर्ग-स्थित सिंहासन पर ही बैठे रहते हैं।"

इतने में एक दूसरा नवयुवक बोल उठा, "मालूम होता है कि एटम बम और हाइड्रोजन बम के आविष्कार से अपने सुदर्शन-चक्र के तेज का प्रभाव क्षीण होते देखकर वह आजकल कुछ खिन्न हो गए हैं, इसलिए चौबीसों घण्टे अपने बैकुण्ठ-स्थित सिंहासन पर ही बैठे-बैठे सोचते रहते हैं और नीचे मनुष्य-लोक में अवतरित भी नहीं होते।"

"बस, ठीक यही बात है," बाबाजी ने ऐसी फुर्ती से कहा जैसे किसी कठिन प्रश्न का उत्तर सहसा किसी दूसरे के माध्यम से मिल जाने पर उनके रुद्ध विचार को गति मिल गई हो। "नर जब नारायण की करनी करने का हठ करने लगता है तब भगवान् को ऐसी ही पीड़ा होती है। वह निश्चय ही नर का गर्व चूर करने का कोई उपयुक्त उपाय सोच रहे हैं।"

"अच्छा तो बाबा, आपने भगवान् का विराट् रूप भी निश्चय ही देखा होगा, जो उन्होंने अर्जुन को दिखाया था ?" उसी गोरे-उजले लड़के ने कहा, जिसने सबसे पहले बाबाजी से प्रश्न पूछा था।

"बच्चा, मैंने उस समय भगवान् का विराट् रूप नहीं देखा। झूठ बात मैं नहीं बोल सकता। उस समय तो भगवान् ने केवल अर्जुन को वह रूप देखने की दिव्य-दृष्टि दी थी। अर्जुन के सिवा सब लोग उस समय भी भगवान् को उनके साधारण मनुष्य-रूप में ही देख रहे थे। पर एक दिन भगवान् ने मुझे अलग बुलाकर मुझे दिव्य-दृष्टि प्रदान की थी और फिर अपना विराट् रूप दिखाने की असीम कृपा की थी। अर्जुन को उस रूप के दर्शन-मात्र से ही उसी क्षण मोक्ष प्राप्त हो गया था। वह जीवन्मुक्त अवस्था में ही लड़ा था और उसी अवस्था में हिमालय में उसने अपने शरीर को गलाया था। पर मुझ अभागे को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका।"

"आप कैसे उस सौभाग्य से वंचित रह गए ?" एक वृद्धा महिला ने भक्ति-भाव से पूछा।

"मैं पहले ही अभिशप्त हो चुका था, बचा !" आन्तरिक दुःख की मुद्रा में बाबाजी बोले।

"हम लोगों को बड़ी उत्सुकता है बाबाजी," एक नवयुवक ने कहा, "आपके अभिशप्त होने का किस्सा सुनने की।"

"तुम उसे 'किस्सा' कहते हो बच्चा ? मेरी मर्म-कथा का इस तरह उपहास करते हो ? यह दुर्बुद्धि विनाश की निश्चित सीढ़ी है बच्चा, इसे त्यागो।"

"किस्से से इनका आशय प्रकरण से है," एक सयाने सज्जन ने बड़ी विनम्रता से प्रश्न को सुधारते हुए कहा। "हम लोग सभी स्वामीजी के श्रीमुख से यह सुनना चाहते हैं कि किस अभिशाप से ग्रस्त होकर स्वामीजी भगवान् के दिव्य रूप के दर्शन के बाद भी इस मर्त्यलोक में पधारे।"

"वह बड़ा दुःखद प्रसंग है बचा, उसे सुनकर क्या करोगे ?"

"यदि स्वामीजी सुनाने की कृपा करें तो हम लोगों को शिक्षा मिले और सबका बड़ा कल्याण हो," उन्हीं सयाने सज्जन ने कहा।

"यदि सुनना ही चाहते हो तो सुनो बचा ! बात यह हुई कि द्वापर में जब मैं जवान था तब एक दिन मुकुटबिहारी बनवारी मोरमुकुटधारी गिरधारी के साथ ही वन में गायें चरा रहा था। गायें पास ही चर रही थीं और हम लोग—मैं और गोपाललाल—नीचे दूब पर बैठे हुए थे। अचानक ब्रजविहारी मुरली बजाने लगे। उस वंशी की धुन सुनकर मैं ऐसा मस्त हो गया कि मुझे स्वयं अपनी भी सुध न रही। सहसा पास ही एक गाय बड़े जोरों से कराह उठी। भगवान् ने वंशी बजाना बन्द कर दिया और हम दोनों उस ओर देखने लगे जहाँ वह गाय खड़ी थी। उसकी बगल से एक साँप भागा चला जा रहा था। वह गाय हम दोनों के देखते-देखते जमीन पर गिर पड़ी और छटपटाती हुई मेरी ओर देखकर सुस्पष्ट मनुष्य-वाणी में बोली, 'तुम वन में गायों की रखवाली करने के लिए आए थे, पर वंशी की धुन में ऐसे बेसुध हो गए कि एक साँप से मेरी रक्षा करने में असमर्थ रहे, इसलिए मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि इस जन्म में तुम मोक्ष प्राप्त न कर सकोगे। कलिकाल में तुम्हें फिर जन्म लेना पड़ेगा और भरत-खण्ड में म्लेछों और शूद्रों द्वारा धर्म का नाश और गायों का अपार कष्ट देखकर सन्तापित होना होगा। मैं शाप-

भ्रष्टा ऋषि-कन्या गोष्पदी हूँ, इसलिए मेरी वाणी वृथा नहीं जायगी।' इतना कह-कर उसने सदा के लिए आँखें मूँद लीं। मैं रोता हुआ भगवान् के चरणों पर गिर पड़ा और बोला, 'हे कृष्ण ! हे करुणानिधान ! मेरी रक्षा कीजिए। इस शाप से मुझे बचाइए !' भगवान् ने कहा, 'ऋषि-कन्या की वाणी मृषा नहीं हो सकती। इसलिए कलिकाल में तुम्हें जन्म लेना ही पड़ेगा। मैं केवल इतना कर सकता हूँ कि तुम जब बहुत सन्तापित हो जाओगे, तब एक बार तुम्हें दर्शन देकर, तुम्हें मोक्ष-पद का अधिकारी बनाकर फिर अन्तर्हित हो जाऊँगा।' यही कारण है कि मैं प्रतिक्षण भगवान् के दर्शनों की प्रतीक्षा उत्सुक नयनों से करता रहता हूँ।"

"स्वामीजी, मेरी एक शंका है। यदि धृष्टता न समझें तो उसका समाधान करने की कृपा करें," एक नवयुवक ने कहा।

"कहो बच्चा, निर्भय बताओ कि वह शंका क्या है।"

"साँप तो एक साधारण मदारी की वंशी के स्वर से इस कदर मुग्ध हो जाता है कि उतने समय के लिए किसी को काटने की बात ही भूल जाता है। तब भग-वान् की वंशी उस साधारण से सर्प को क्यों मोहित न कर सकी ? ठीक उसी समय गाय को काटने की उसे क्यों सूझी ?"

"तुम्हारी शंका उचित ही है बच्चा, पर वह साँप निश्चय ही राक्षस-योनि का कोई मायावी जीव रहा होगा।"

"अच्छा बाबाजी," वही गोरा-उजला लड़का जो कुरसी के पीछे खड़ा था, बोला, "आप जब भगवान् के साथ रह चुके हैं तब भी शूद्रों से क्यों चिढ़ते हैं। भगवान् ने तो गीता में स्पष्ट ही कहा है कि :

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥

जब पंडितों की दृष्टि में विद्वान् ब्राह्मण और कुत्ते का मांस पकाकर खानेवाला चांडाल दोनों समान हैं तब शूद्रों से चिढ़ने की क्या बात है ?"

प्रश्न सुनकर बाबाजी एक बार घृणापूर्वक हँसे। उसके बाद लड़के की मूर्खता पर तरस खाते हुए-से बोले, "देखो बचा, अभी तुम गीता-ज्ञान के अधिकारी नहीं हुए। अभी तुम्हें बहुत सीखना बाकी है। तुम क्या, इस कलिकाल में बड़े-बड़े पण्डित गीता का ठीक-ठीक अर्थ समझने में अशक्य हैं। कलि के पण्डितों ने केवल गीता के अर्थ का ही अनर्थ नहीं किया है बल्कि उसका मूल पाठ भी बदल डाला

है। वह शब्द 'श्वपाके' नहीं 'स्वपाके' है जिसका अर्थ है स्वयं पकाकर भोजन करनेवाला और किसी का छूआ न खानेवाला साधू या ब्राह्मण। और 'शुनि' शब्द से कुत्ते का बोध नहीं होता। शौनक ऋषि के पूर्वज का नाम 'शुन' था। ये 'शुन' बड़े भारी महात्मा हो गए हैं। तुम लोग आजकल शूद्रों की रची टीकाएँ पढ़कर अपने को भारी पण्डित समझने लगते हो!"

सभी बड़े-बूढ़े बाबाजी की विद्वत्ता देखकर पुलकित भाव से विविध मुद्राओं द्वारा उन पर अपनी श्रद्धा प्रकट कर रहे थे।

बाबाजी कहते चले गए, "बच्चा, यह शूद्र-युग है। इस युगमें शूद्रों के विविध प्रकार के अत्याचारों से पृथ्वी भारग्रस्त हो रही है। अब ये शूद्र इस सीमा तक मदोन्मत्त हो उठे हैं कि मन्दिरों में बलपूर्वक प्रवेश करने लगे हैं। गो-जाति का जो विविध प्रकार से निर्यातन हो रहा है उसके मूल में यही शूद्र हैं। आज देश में सर्वत्र जो दुबली-पतली, रुग्ण और मरियल गायें दिखाई देती हैं, उनके पीछे भी इन्हीं का षड्यन्त्र है। गोवध-प्रथा के आविष्कारक तो वे हैं ही, सारे संसार में आज जो कमऊनसम का मत फैलने जा रहा है..."

"आपका आशय क्या कम्युनिज्म से है?" गोरा-उजला लड़का बीच ही में बाबाजी की बात काटकर बोल उठा।

"हाँ-हाँ," बाबाजी खीझ-भरे स्वर में बोले, "तुम अर्द्ध-शिक्षित लोग उसे इसी नाम से प्रचारित करते हो। यह कमऊनसम शूद्रों के मत के सिवा और क्या है? जब ब्रह्मा ने सृष्टि रची थी, तब प्रारम्भ में ब्राह्मण-युग की स्थापना की थी। उस वैदिक युग में ब्राह्मणों का ही प्राधान्य था। उसके बाद क्षत्रियों का युग आया, जब सारे भूमण्डल पर क्षत्रियों का साम्राज्य स्थापित हो गया। उसके बाद आया वैश्य-युग, जब व्यवसायी लोगों ने संसार के सभी राजाओं या राष्ट्रीय नेताओं को अपनी आर्थिक शक्ति के बल पर उँगलियों से नचाना आरम्भ कर दिया। और अब आया है शूद्र-युग। अब जल्दी ही सारे संसार में शूद्रों का ही एकच्छत्र राज्य स्थापित होने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। हे शूद्रहन्ता कृष्ण! जल्दी अवतरो प्रभो!" कहते हुए बाबाजी ने फिर उसी पंखा-रूपी चक्र की ओर ध्यानपूर्वक हाथ जोड़े।

"कृष्ण ने तो कभी शूद्रों की हत्या नहीं की बाबाजी," एक नवयुवक बोल उठा। "उन्होंने तो दुराचारी क्षत्रियों का ही संहार किया था। वह तो शूद्रों के

बहुत बड़े प्रेमी थे। क्षत्रिय दुर्योधन के हाथ का भोजन न कर उन्होंने शूद्र विदुर के यहाँ भोजन करना अधिक पसन्द किया था। वह यदि फिर कभी अवतार लेंगे तो निश्चय ही शूद्रों का साथ देंगे।"

"मैं जानता हूँ तुम लोग सब कमऊननष्ट हो गए हो। हरे कृष्ण ! हरे कृष्ण ! क्या समय आया है ! न जाने इन अभिशप्त आँखों को अभी क्या-क्या देखना बाकी है !"

बाबाजी इस तरह विलाप कर ही रहे थे कि भीतर से एक वृद्ध सज्जन ने आकर हाथ जोड़ते हुए बाबाजी से कहा "स्वामी जी, चलिए भोजन कर लीजिए।"

"हरे कृष्ण ! हरे कृष्ण !" की रट लगाते हुए बाबाजी उठ खड़े हुए और वृद्ध सज्जन के साथ भीतर चले गए।

बाबाजी के चले जाने पर नवयुवकगण हँसते हुए आपस में बातें करने लगे और उनपर फबतियाँ कसने लगे। किसी ने कहा, "बड़ा धूर्त है !" कोई बोला, "बड़ा घाघ है। पेट-पूजा के लिए कैसे-कैसे रूपक रचना जानता है !" वृद्ध सज्जनों में से कोई कह रहा था, "बड़े सिद्ध महात्मा हैं !" कोई कहता था, "त्रिकालदर्शी हैं ! शूद्र-युग की बात कैसी सच्ची कही !"

मैं हँसूँ कि रोऊँ कुछ समझ में नहीं आ रहा था, इसलिए बीच की स्थिति में बैठा हुआ इस बात की प्रतीक्षा कर रहा था कि नीरजा मुझे छुट्टी दे। पर वह अपनी बगल में बैठी हुई एक युवती के साथ किसी गम्भीर विषय पर बातें करती हुई-सी दीखती थी। जब काफी देर हो गई और मैं सीमा से अधिक उकता गया तब सहसा उठ खड़ा हुआ और नीरजा के पास जाकर उन दोनों के वार्तालाप में विघ्न डालता हुआ बोला, "मैं चलता हूँ। देर हो गई है।"

"चलिए, मैं आपको पहुँचा आती हूँ," कहकर नीरजा उठ खड़ी हुई।

कमरे से बाहर निकलने पर मेरी जान-में-जान आई। मुझे लगा जैसे दीर्घ कारवास के बाद मुक्त हुआ होऊँ। हम दोनों एक 'कार' में बैठ गए और 'कार' चल पड़ी। मैं उस समय कुछ भी बोलने की मनःस्थिति में नहीं था। मनो भारी उदासी का बोझ जैसे मेरी छाती को दबाए हुए था। बहुत दिन बाद ऐसी घुटन का अनुभव मुझे हो रहा था। सहसा नीरजा ने बाबाजी की चर्चा छेड़ दी। बोली, "कैसे लगे आपको बाबाजी ?"

मैं बड़ी रूखी हँसी हँसा। उसके बाद बोला, "यही प्रश्न मैं तुमसे करना चाहता था। क्या यह बाबाजी अक्सर तुम लोगों के यहाँ आते रहते हैं?"

"हाँ, बीच-बीच में आते तो हैं।"

"किसलिए? इसी तरह के 'ज्ञान' की बातें सिखाने के लिए? अपने अग्रगामी नारी-संघ में भाषण देने के लिए तो तुमने उन्हें बुलाया ही होगा?"

नीरजा कुछ देर तक बड़े आश्चर्य से मेरी ओर देखती रही। शायद वह समझ नहीं पा रही थी कि मैंने गम्भीर रूप से वह प्रश्न किया है या हँसी में, अथवा व्यंग्य में।

"आप तो हम लोगों से बहुत नाराज मालूम पड़ते हैं," उसने धीरे से कहा।

"नाराज होने की बात नहीं है, मेरे मन में केवल एक कुतूहल जगा है।"

"बाबाजी की बातें सुनने के बाद भी आपने जो इस तरह का प्रश्न किया है उससे स्पष्ट है कि आप हमारे 'नारी-संघ' को किस हद तक प्रतिक्रियावादी समझते हैं।" उसकी मुद्रा कुछ गम्भीर हो आई थी।

मैंने कहा, "नीरजा, मैं साधारण बुद्धि का आदमी हूँ। और सीधी-सी बात को सीधे ही ढंग से समझ पाता हूँ। मैं जानता हूँ कि तुम 'अग्रगामी नारी-संघ' की एक प्रमुख सदस्या हो। साथ ही मैंने यह भी देखा है कि तुम्हारे घर में ये बाबाजी बड़े आदर से पूजे जाते हैं। इसलिए मैं यदि यह अनुमान लगाऊँ कि···"

"देखिए," बीच ही में मेरी बात काटती हुई नीरजा बोल उठी, "हमारे घर में अगर बाबाजी का सम्मान होता है तो आप जैसे लोगों का भी कुछ असम्मान नहीं होता। इसलिए केवल इतनी ही बात से यह अनुमान लगाना उचित नहीं है कि बाबाजी को हम लोग 'नारी-संघ' में भाषण देने के लिए आमन्त्रित कर सकते हैं। और फिर, आप स्वयं ही देख रहे थे, कि बाबाजी की बातों को नवयुवकगण किस व्यंग्य और विनोद के रूप में ले रहे थे। जो लड़का पीछे खड़ा था, वह मेरा छोटा भाई है। वह किस तरह बाबाजी को बना रहा था, यह आप देख ही रहे थे। हाँ, यह ठीक है कि कुछ बड़े-बूढ़े अभी तक पुराने संस्कारों से प्रभावित होने के कारण बाबाजी के प्रति सच्ची श्रद्धा रखते हैं, पर इस बात से आप हमारे समाज की नई पीढ़ी के सम्बन्ध में गलत धारणा लेकर न जायँ, यह मेरा एकान्त अनुरोध है।"

आवेश के कारण उसका मुँह तमतमा उठा था, जिससे उसके मुख की सहज सुन्दरता कई गुना अधिक बढ़ गई थी।

'कार' लीला के मकान की बरसाती पर आ लगी। मैं उतर गया। नीरजा ने कहा, "नमस्ते! दो-एक दिन बाद आपसे फिर मिलूँगी।"

मैंने भी प्रत्यभिवादन करते हुए हाथ जोड़ दिए। 'कार' चली गई और मैं सीधे ऊपर अपने कमरे में जा पहुँचा।

लीला मेरे कमरे में लेटी हुई कोई एक पुस्तक पढ़ने में तल्लीन दिखाई दी। उसके सिर पर से साड़ी खिसक गई थी और ताजा धुले-से, खुले हुए बाल तकिए पर अस्त-व्यस्त माँग के दोनों ओर लहरा रहे थे। उसके चेहरे पर एक सौम्य, शान्त, गम्भीर तथापि प्रसन्न भाव झलक रहा था। मेरे पहुँचने की चेतना उसे न हुई हो, इस बात की सम्भावना कम थी। फिर भी मैं कुछ देर तक कमरे के भीतर ही, दरवाजे के पास, चुपचाप खड़ा रहा और उसका ध्यान-मग्न भाव भंग न करता हुआ उसकी चिर-परिचित-सी मुखाकृति की ओर एकटक देखता रहा।

कुछ क्षण बाद उसने, जैसे अनजाने ही, मेरी ओर देखा। उसके मुख का सहज-स्निग्ध भाव सूर्योदय के पहले प्राची की क्षितिज-रेखा की तरह धीरे-धीरे उत्त-रोत्तर खिलता चला गया। वह, जैसे अनिच्छा से, धीरे से उठ बैठी और बड़े ही मीठे स्वर में बोली, "बड़ी देर लगा दी तुमने लौटने में!" और वह पलंग पर ही बैठी रही।

मैं सामने एक सोफा पर हाथ-पाँव पसारकर और पीठ पीछे को झुकाकर इस तरह बैठ गया जैसे दिन-भर के परिश्रम से थका हुआ होऊँ और पहली बार मुझे अवकाश का अवसर प्राप्त हुआ हो।

"व्यर्थ के चक्कर में फँस गया था," कुछ झुँझलाए हुए-से स्वर में मैंने कहा।

"बहुत थके हुए-से लगते हो, क्या बात हो गई?" कुछ घबराई हुई-सी मुद्रा में लीला ने पूछा।

"बात तो कुछ विशेष नहीं हुई। द्वापर-युग की सजीव स्मृति लिये हुए एक बाबाजी आ गए थे, उन्हीं के पूर्व-जन्म के संस्मरण सुनते-सुनते इतनी

देर हो गई।"

"द्वापर-युग के संस्मरण! क्या हँसी की बात करते हो तुम?"

"हो सकता है, बाबाजी जान-बूझकर अपने श्रोताओं को हँसाने के उद्देश्य से इस तरह की बातें करते हों। पर उनके कहने के ढंग से तो यही लगता था कि वह बहुत ही गम्भीर भाव से अपने पूर्व-जन्म का इतिहास हम लोगों को सुना रहे थे।"

"आखिर क्या कहा उन्होंने? कुछ मैं भी तो सुनूँ।"

जो कुछ बाबाजी ने कहा था मैं वह सब विस्तार से लीला को बताने लगा। लीला के भीतर कौतुक और कुतूहल दोनों साथ-साथ जाग उठे थे।

"अच्छा, क्या इस तरह की बात किसी भी हालत में सम्भव हो सकती है? तुम्हारा क्या खयाल है?" सब-कुछ सुन चुकने के बाद लीला ने कहा।

मुझे हँसी आ गई। मैं आशा करता था कि सारा किस्सा सुन चुकने के बाद वह उसे एक अच्छा विनोद समझकर खिलखिला उठेगी। पर जब उसने अकृत्रिम उत्सुकता के साथ वह प्रश्न किया तब मैं दुःख में भी हँस पड़ा।

"धूर्तता और मूर्खता का ऐसा जोड़ मिलना मुश्किल है लीला," मैंने कुछ झुँझलाहट के साथ कहा। "साधारणतः यह देखा जाता है कि धूर्त लोग मूर्ख नहीं होते और न मूर्ख ही धूर्त हो पाते हैं। पर कुछ व्यक्ति ऐसे भी देखे जाते हैं जिनमें धूर्तता और मूर्खता का एक अजीब सम्मिश्रण पाया जाता है। ऐसे लोग भयंकर रूप से खतरनाक होते हैं। आश्चर्य और दुःख इस बात पर अधिक होता है जब यह देखा जाता है कि इस तरह के धूर्त मूर्ख आज के युग में भी समाज के एक बहुत बड़े स्तर को बरगलाने में समर्थ हैं, जब कि आज के विषम सामाजिक जीवन की बड़ी-बड़ी, विकट उलझन-भरी समस्याएँ चरम संकट की स्थिति को पहुँच चुकी हैं। आज भी ये लोग ब्राह्मणत्व और शूद्रत्व के आधार पर मानवीय वर्ग-विभाजन की बात सोच रहे हैं। चारों ओर की पागल शक्तियाँ जिस विश्वव्यापी नर-वध की विराट् हिंसक योजनाओं में जुटी हुई हैं उसकी ओर से एकदम उदासीन होकर ये लोग पशु-वध की (पशु-पालन की नहीं) समस्या का हौवा खड़ा करके आकाश को गुँजाना चाहते हैं और इस प्रकार साम्प्रदायिक नेतृत्व की बाग-डोर अपने हाथों में लेकर कलि का संयोजन द्वापर से करने का दम भर रहे हैं। मैं स्वयं गो-वध का बड़ा विरोधी हूँ लीला, पर गोवध की समस्या से मैं गो-पालन

की समस्या को अधिक महत्त्व देता हूँ। मैंने देश-भर में जहाँ-जहाँ भी भ्रमण किया है, हृष्ट-पुष्ट, स्वस्थ और सबल गायों को देखने के लिए मेरी आँखें तरसती रह गई हैं। सर्वत्र गायों के जीवित कंकाल मुझे दीखते हैं। यदि इन लोगों ने साम्प्रदायिक राजनीति का मोह त्यागकर ईमानदारी से शहर-शहर में और गाँव-गाँव में जाकर गो-पालन की वैज्ञानिक पद्धति के प्रचार का आन्दोलन उठाया होता तो मैं इन लोगों के चरण छू लेता। पर तुम देखती हो कि बात कुछ दूसरी ही है और इन धूर्त मूर्खों को प्रश्रय देनेवाले लोग आज भी समाज में विद्यमान हैं। सोच-सोचकर मैं हैरान हूँ लीला, कि आज भी यह देश इतने बड़े अज्ञान के अन्धकार की गहन छाया के नीचे मोह-निद्रा में मग्न है!"

"पर मैं तो इतनी बड़ी निराशा का कोई कारण नहीं देखती हूँ," लीला ने जैसे मुझे दिलासा देते हुए कहा। "यह ठीक है कि कुछ लोग अब भी जीवन को संकीर्ण धार्मिक या साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से देखते हैं, पर सभी तो ऐसे नहीं हैं। मैं तो यही देखती हूँ कि समाज धीरे-धीरे बदल रहा है और प्रगतिशील शक्तियाँ ऊपर को उठती चली आ रही हैं।"

"यह मैं भी मानता हूँ, पर साथ ही यह भी देख रहा हूँ कि एक बहुत बड़ा समुदाय अभी तक उसी आदिम अन्धकार की स्थिति में पड़ा हुआ है जहाँ वह पहले था। यह चेतना उसमें जाग ही नहीं पाती कि आज इस देश के लोग किस काल में और किस जमीन पर खड़े हैं। इस बार की स्थिति बिलकुल दूसरी ही है, लीला। इस बार जो विश्व-विनाशी शक्तियाँ चारों ओर से घिर रही हैं वे इस भूमि को प्रारम्भ ही में अपनी लपेट में लेकर उसे समूचा लील जाने के प्रयत्नों में कोई बात उठा न रखेंगी, इस आग की तरह ज्वलन्त सत्य की ओर किसी का ध्यान जा नहीं रहा है। जो महासंकट इस देश पर जल्दी ही घहराने जा रहा है उसका अनुमान पिछले किसी भी अनुभव से नहीं लगाया जा सकता। पिछले महायुद्ध में सभी देशों की तरह यह देश भी संकटग्रस्त रहा, संदेह नहीं, पर अबकी बार जो स्थिति आने जा रही है उसकी तुलना में वह पिछला अनुभव एकदम नगण्य सिद्ध होगा। इस बार जिन प्रलयकालीन भूकम्पी धक्कों से, विनाश और विध्वंस के जिस नंगे नाच से यह भू-भाग डोल उठेगा उसे तुम 'न भूतो न भविष्यति' ही समझो। इस प्रचण्ड वास्तविकता की ओर से आँखें मूँदकर जो लोग प्रकट में बन्द ज्वालामुखियों के ऊपर हाथ-पाँव पसारे लेटे हैं और जम्हाइयाँ ले रहे हैं वे

देश को किस रसातल की ओर घसीट रहे हैं, उसकी कल्पना-मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं।"

मेरी बातों के साथ ही मेरे मुख की मुद्रा में भी निश्चय ही तदनुरूप परिवर्तन आ गया होगा, लीला के मुख के भाव से मैंने इस बात का अनुमान लगाया। वह बहुत ही घबराई हुई दिखाई दे रही थी।

"आनेवाला संकट चाहे कैसा ही विकट क्यों न हो," मैं कहता चला गया, "मैं उससे नहीं डरता। दुखः मुझे तब अधिक होता है जब मैं अपने चारों ओर के जीवन का निरीक्षण करता हुआ, उस पर विचार करता हूँ। एक ओर मैं देख रहा हूँ कि संसार की सामूहिक संगठित और समर्थ शक्तियाँ एकदम पागल हो उठी हैं; दूसरी ओर देखता हूँ कि व्यापक जन-जीवन किस तरह विपन्न और उपेक्षित अवस्था में अमानुषिक शोषण का शिकार बनकर सिसक रहा है; तीसरी ओर देखता हूँ कि समाज का तीन-चौथाई भाग अभी तक अज्ञानान्धकार की कैसी सघन छाया के नीचे मोहमग्न अवस्था में पड़ा हुआ बहकी-बहकी बातें कर रहा है; और चौथी ओर देख रहा हूँ कि इस देश का बौद्धिक वर्ग भी चक्करदार भूल-भुलैया में भटकता हुआ उससे उबरने का कोई रास्ता खोज नहीं पाता। सोच-सोचकर मुझे कहीं कोई कूल-किनारा नहीं दिखाई देता और एक घना अवसाद सारे मन को कुहरे से ढकने लगता है।"

लीला एकान्त मनोयोग से मेरी बातें सुन रही थी। कुछ क्षण तक वह उसी उत्सुक और गम्भीर दृष्टि से मेरी ओर देखती रही। उसके बाद धीरे से बोली, "सचमुच तुम इधर कुछ दिनों से बहुत सुस्त दिखाई देने लगे हो। जिस दिन मैंने तुम्हें पहली बार देखा था तब तुम्हारे मुख पर एक उदास छाया घिरी रहने पर भी तुम स्वस्थ और सुन्दर दिखाई देते थे। पर इधर दिन-पर-दिन तुम्हारे चेहरे का रंग ही जैसे धीरे-धीरे उड़ता चला जा रहा है। तुम्हारे दुःख का कारण मैं खूब समझ रही हूँ। फिर भी मैं कहती हूँ कि समाज, देश और संसार की चिन्ता से इस कदर घुलते रहने से किसको क्या लाभ हो सकता है? इससे न समाज सुधरेगा, न देश, न संसार। केवल तुम्हारा ही स्वास्थ्य चौपट होता चला जायगा—तन भी नष्ट होगा और मन भी। इसलिए मैं कहती हूँ कि व्यर्थ की चिन्ता छोड़कर खाओ, पियो और सुखी रहो।"

"हुँह !" करते हुए मैं अत्यन्त म्लान भाव से हँसा।

"क्यों, क्या कोई बहुत बड़ी हँसी की बात मैंने कह दी?" भौंहों को नचाती हुई, आँखों की पुतलियों को घुमाती हुई लीला बोली।

"न—हीं," मैंने अत्यन्त उदासीन भाव से कहा, "तुमने ठीक ही कहा। व्यर्थ की चिन्ताओं में पड़कर घुलते रहने से सचमुच किसी का कोई लाभ नहीं हो सकता, यह मैं मानता हूँ। केवलमात्र चिन्ता, चाहे वह विश्व-कल्याण की ही क्यों न हो, एक मानसिक बीमारी है और इधर कुछ समय से मैं अपने को इसी बीमारी का शिकार पाता हूँ। मेरे पास क्षमता कुछ नहीं है, पर अनुभूति इतनी प्रबल है कि मैं विषम सामाजिक परिस्थितियों की उलझनों के सम्बन्ध में चिन्ता किये बिना रह नहीं पाता—केवल चिन्ता ही नहीं करता, अत्यन्त मार्मिक पीड़ा का भी अनुभव करता हूँ। सामाजिक कर्तव्यों को भुलाकर मैं निजी सुख-सुविधाओं में, जो तुम्हारे यहाँ मुझे सहज-सुलभ हैं, डूबा रहूँ और बिना तनिक भी संकोच के उनका उपभोग करता चला जाऊँ यह मुझसे हो नहीं पाता। साथ ही यह भी जानता हूँ कि मेरा यह मनोभाव दुनिया की, और स्वयं मेरी नजर में एक प्रकार का ढोंग ही है। इन कारणों से मेरी आत्म-ग्लानि की सीमा नहीं है।"

"यह तुम्हारा घर है," लीला ने भावावेश के साथ कहा, "और अपने घर में आत्म-ग्लानि का कोई सवाल ही नहीं उठना चाहिए। जानते हो मुझे कितनी पीड़ा होती है, जब मैं देखती हूँ कि बार-बार विश्वास दिलाने का प्रयत्न करने पर भी मैं तुम्हारे मन में यह बोध नहीं जगा पाती की मेरा यह घर मुझसे भी अधिक तुम्हारा अपना है। बल्कि मेरी तो यह आन्तरिक आकांक्षा है कि इस पर तुम अपना ही अधिकार समझो, मेरा नहीं।"

"तुम्हारे इस मनोभाव से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ लीला," मैं बोला, "और यही कारण है कि यह चिर-दिन का निर्बन्ध पंछी तुम्हारी कृपा के इस सोने के पिंजड़े में अपने पंखों को बँधा हुआ पाता है।"

सहसा लीला का चेहरा इस तरह मुरझा गया कि जैसे हवा के आकस्मिक झोंके से दीया बुझ जाता है। अत्यन्त उदास आँखों से मेरी ओर देखती हुई मार्मिक वेदना-भरे स्वर में बोली, "मेरे प्रति तुम्हारा यह कटु व्यंग्य क्या किसी प्रकार भी उचित है?"

उसकी बात का आशय तनिक भी न समझकर मैंने बड़े ही दुःख और

आश्चर्य से कहा, "मैंने तो अपने अन्तर की अनुभूति की बात कही है लीला, व्यंग्य की तो कोई बात नहीं कही !"

" 'तुम्हारी कृपा का सोने का पिंजड़ा' यह व्यंग्य नहीं तो और क्या है ?" भारी और भाव-बोझिल स्वर में लीला ने कहा, जिसे सुनकर लगता था कि अब वह रो ही पड़ेगी। "मैंने क्या किसी भी इंगित से, परोक्ष रूप से भी, कभी तुमसे यह कहा या जताया कि तुम पर कृपा कर रही हूँ, जो आज तुम इस तरह की बात कर रहे हो ?" और सचमुच उसकी आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़े।

मैं घबरा उठा। सान्त्वना के रूप में या अपनी सफाई में क्या कहूँ, यह सोच ही रहा था कि आँसू पोंछती हुई लीला फिर बोल उठी, "मुझे चाहे और जो दण्ड दो, पर इस तरह बोलियाँ न सुनाओ, मेरी यह सविनय प्रार्थना तुमसे है। जब से तुम यहाँ आए हो, मैं हर समय सच्चे मन से यही सोचती हूँ कि तुम मुझ पर असीम कृपा कर रहे हो। मैं तुम पर कृपा कर रही हूँ, यह धारणा कभी स्वप्न में भी मेरे मन में नहीं जाग सकती। मुझे अचरज होता है कि मनुष्य के मन की गहराइयों का इतना अधिक ज्ञान रखते हुए भी तुम ऐसी गलत बात सोच सकते हो ! यह मेरे ही भाग्य का दोष है।"

बाँध इस कदर टूट चुका था कि उसके आँसुओं का वेग थमना नहीं चाहता था। मुझे पीड़ा होने लगी। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि उस रहस्यमयी नारी के साथ किस कौशल से बातें करनी चाहिए और किस प्रकार का बर्ताव कायम रखना चाहिए। मैं अपने को एक अजीब-सी उलझन में पा रहा था। कहाँ से कहाँ आकर किस चक्कर में—किस मायाजाल में—आकर फँस गया, यह सोचकर हैरान था। अपने दायें हाथ से जेब से रूमाल निकालकर मैं धीरे से उसकी आँखों से आँसू पोंछता हुआ आन्तरिक सान्त्वना से भरे कोमल और स्नेह-सने स्वर में बोला, "मेरी बात का विश्वास करो लीला, मैंने वह बात व्यंग्य में नहीं कही थी। तुमने 'कृपा' को शाब्दिक अर्थ में ग्रहण कर लिया है, इसीसे गलतफ़हमी हुई। अगर तुम उस शिष्ट शब्द के भीतर निहित मेरे मर्म की सुकुमार भावनाओं का क्षीणतम आभास भी पकड़ पातीं तो मुझसे नाराज होने के बजाय अपने नारी-हृदय की सारी स्नेह-वेदना को मुझ पर उँडेल देतीं।"

"मैं जन्म की मूर्ख हूँ," रह-रहकर उमड़ उठनेवाली सिसकियों को बरबस दबाने का विफल प्रयत्न करती लीला बोली। "तुमसे अब कुछ छिपा भी नहीं रह गया है। इसलिए जब मैं किसी बात के भीतर छिपे आशय को समझने में भूल

कर जाऊँ, तब तुम्हें अपने अन्तर की सहज उदारता से मुझे क्षमा कर देना चाहिए।"

"ओफ्फोह! लीला, तुम्हारा यह असीम भोलापन कभी-कभी मार्मिकता की सीमा को चीरकर आगे निकल जाता है। इतने दिनों के अनुभव से मैं भली भाँति जान गया हूँ कि तुम मूर्ख किसी भी हालत में नहीं हो। इस देश की औसत शिक्षित नारी की तुलना में तुम्हारा बौद्धिक स्तर कुछ ऊँचा ही है, नीचा नहीं। इसके अलावा एकमात्र बौद्धिकता ही नारीत्व की परख के लिए पर्याप्त मापदण्ड नहीं है। सच्चा नारीत्व बौद्धिकता की अपेक्षा कई गुना ऊँची और गहरी चीज है। नारीत्व की अनुभूति तुममें जितनी ही तीव्र है उतनी ही उन्नत भी। इसलिए तुम्हारे चारों ओर के सामाजिक वातावरण के बावजूद मैं तुम्हें किसी भी हालत में उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख पाता। व्यक्तिगत रूप से तुमने मेरे मन में श्रद्धा की भावना जगा दी है। यही कारण है—मेरी बात का गलत अर्थ न लगाना—कि तुम्हारे यहाँ आने पर मैं जीवन में पहली बार अपने को एक ऐसे बन्धन से बँधा पा रहा हूँ जिसे खोल पाना मेरे लिए एक बहुत बड़ी परीक्षा सिद्ध हो रही है।"

लीला एकान्त तन्मयता से मेरी बातें सुन रही थी। लगता था जैसे वह उन शब्दों के भीतर छिपे हुए यथार्थ तत्त्व को दूध में से मक्खन की तरह निकालने का प्रयास भीतर ही भीतर कर रही है। उस शब्द-जाल में कुछ-न-कुछ सार-तत्त्व अवश्य है, इतना विश्वास हो गया था। उसकी आँखों के भाव से यह बात मेरे लिए स्पष्ट हो गई थी।

कुछ देर तक हम दोनों उसी मोहाविष्ट-सी अवस्था में चुपचाप बैठे रहे। उसके बाद सहसा लीला उठ खड़ी हुई। "तुमने अभी तक चाय ही नहीं पी; मैं नीचे जाकर चाय भेजती हूँ," कहकर वह तेज चाल से बाहर निकल गई।

मैं जानता था कि चाय वहीं बैठे-बैठे भी आ सकती थी; घण्टी का बटन दबाकर शम्भू को वहीं बुलाया जा सकता था। पर यह सोचकर कि इस बहाने लीला को कुछ स्थिर होने और चित्त की क्षणिक चंचलता से उबरने का अवकाश मिल जायगा, मैंने उसकी बात का कोई विरोध नहीं किया।

कुछ ही देर बाद जब वह लौटकर शम्भू के साथ ऊपर आई तब सहज प्रसन्नता, बल्कि उल्लास का भाव उसकी आँखों में नाच रहा था और ओठों पर

थिरक रहा था। शम्भू ने चाय का 'ट्रे' मेज पर रख दिया। उसके बाद वह चुपचाप एक किनारे खड़ा हो गया।

जब हम लोग चाय पी चुके और शम्भू सभी प्लेटों और तश्तरियों को उठाकर नीचे ले गया, तब मैं सहसा अपनी जगह पर से उठ खड़ा हुआ और कमरे में टहलने लगा। तरह-तरह के विचार मेरे मन में उठ रहे थे और बिना किसी क्रम के पिछली बातें याद आ रही थीं। धीरे-धीरे मैं विचारों में इस कदर डूब गया कि अपने आस-पास के वातावरण की कोई सुधि ही जैसे मुझे नहीं रही। काफी देर के बाद लीला ने, जो अभी तक अपनी ही जगह पर बैठी थी और एक किताब हाथ में लेकर उसे पढ़ने में व्यस्त-सी दिखाई देती थी, मौन भंग करते हुए कहा, "तुम फिर किसी भयानक चिन्ता में डूब गए हो, ऐसा लगता है। क्या हो गया है आज तुम्हें? इस कदर अपना जी क्यों खराब कर रहे हो?"

उसकी बात से मेरा ध्यान टूटा। मुझे लगा, जैसे किसी ने मुझे चोरी करते हुए पकड़ लिया। मैं आज भरसक उसका जी दुखाना नहीं चाहता था, पर साथ ही मेरे मन की स्थिति कुछ ऐसी हो उठी थी कि मैं उसके साथ हँस-बोल भी नहीं पाता था। जी को दुखाने और झकझोर देनेवाले सभी पुराने प्रसंग मुझे याद आ रहे थे।

मैं चक्कर काटना छोड़कर कुछ झेंपता हुआ-सा लीला के सामने बैठ गया। बोला, "तुम ठीक ही कहती हो लीला, आज सचमुच कुछ भयानक ही किस्म की चिन्ताएँ मेरा माथा जकड़ रही हैं। मैं बार-बार उन्हें भूलना चाहता हूँ, पर किसी तरह भी मन से उनको निकाल ही नहीं पाता। रह-रहकर मुझे उस दुनिया की याद आ रही है जिसे कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण छोड़कर मैं तुम्हारे यहाँ आया हूँ। बड़ा ही दर्दनाक किस्सा है वह, लीला। मानव-समाज के चरम पतन का ज्वलन्त दृष्टान्त है।"

"उस परिस्थिति पर कुछ प्रकाश तो डालो," लीला ने बड़े ही आग्रह के साथ अनुनय के स्वर में कहा। "तुमने अपने पिछले जीवन की कोई भी बात मुझे अभी तक नहीं बताई। मुझे अभी तक तुम अपने से बहुत दूर, अलग और बिरानी मानते हो।" उसके स्वर में मान का भाव स्पष्ट झलकता था।

"नहीं, ऐसी बात नहीं," मैंने आन्तरिक पीड़ा-भरी गम्भीरता के साथ कहा। "पर इतना मैं अवश्य सोचता रहा हूँ कि अपने जीवन के दुःख-दर्द-भरे और बहुत

कड़वे अनुभवों को सुनाकर तुम्हारा जी क्यों खराब करूँ।"

"यह सरासर मेरे साथ तुम्हारा अन्याय है। अगर मैं तुम्हारे सुख-दुःख की भावनाओं का साझीदार ही न बन पाई तो तुम्हारे निकट संसर्ग में रहने के सौभाग्य का अर्थ ही मेरे लिए क्या रह गया?" उसकी आँखों से लगा कि उसकी शिकायत केवल मौखिक ही नहीं है, बल्कि उसकी किसी भीतरी वेदना के बाँध को तोड़कर बाहर निकली है।

मैंने कहा, "यदि तुम जानना ही चाहती हो तो अच्छी बात है। आज मैं भी इस कदर उदास हूँ कि अपने भीतर की सारी कड़वाहट को किसी के आगे बाहर निकालने के लिए बेचैन हो उठा हूँ।"

इतनी-सी भूमिका के बाद मैंने अपने कलकत्ता के जीवन के सभी अनुभवों को एक-एक करके, विस्तार के साथ, भीतरी पीड़ा के गाढ़े रंगों के मिश्रण से सुनाना आरम्भ कर दिया। सुनाते-सुनाते मेरी भावुकता में ज्वार आ गया। मेरे अन्तर की सारी संचित वेदना सौ-सौ उच्छ्वासों में उमड़ उठी। मेरे अन्तर का सारा अवरोध ढह गया। न जाने कब और कैसे मेरी आँखें गीली हो आईं। इस तथ्य की ओर मेरा ध्यान तब गया जब मैंने लीला की वेदना-विकल आँखों के चमकीले दर्पण के भीतर अपनी आँखों का प्रतिबिम्ब देखा।

"ऐसी हालत में तुम्हीं बताओ लीला," अपना गला साफ करते हुए मैंने कहा, "कि तुम्हारे या तुम्हारे वर्गवालों के वैभव के बीच में कैसे सुखी या सन्तुष्ट रह सकता हूँ! यहाँ प्रतिक्षण मुझे यही अनुभव होता रहता है कि मैं अपने लोगों के साथ विश्वासघात कर रहा हूँ।"

लीला कुछ देर तक उसी पीड़ा, भय और आश्चर्य-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखती रह गई। प्रारम्भ में उसकी आँखों के जो कोने गीले हो आये थे उसकी सजलता जैसे मानव की चरम दुर्गति का पूरा इतिहास सुनने पर एक अपरिसीम आतंक के स्पंज से एकदम सूख गई थी। उसकी स्तब्ध दृष्टि से अब केवल पत्थर के आँसू निकल रहे थे।

जब वह उस अप्रत्याशित धक्के से कुछ सँभली तब सहसा उसके मुँह से अपरिस्फुट स्वर में निकल पड़ा, "मुझे भी तुम अपने ही लोगों के साथ जानो। इससे अधिक इस समय मैं और कुछ नहीं कह सकती।" कहती हुई वह अचानक उठ खड़ी हुई और नीचे चली गई।

मैं एक नई रहस्यमयता के भँवर में गोते खाता हुआ सन्नाटा खींचकर ज्यों-का-त्यों बैठा रह गया। जब काफी देर हो जाने पर भी लीला न लौटी तब मैं उठकर टहलने लगा। टहलते-टहलते शरीर से भी अधिक मेरा मन थकने लगा। सूरज डूब चुका था और धीरे-धीरे अँधेरा छाने लगा था। बत्ती जलाकर मैं एक किताब उठाकर कौच पर बैठकर अनमने भाव से पढ़ने लगा। इतने में शम्भू ने आकर बड़े ही शिष्ट भाव से बताया कि "बीबीजी आपको नीचे बुलाती हैं। गाड़ी तैयार है।"

एक बार इच्छा हुई, कह दूँ कि मुझे कहीं नहीं जाना है, पर फिर दूसरे ही क्षण कुछ सोचकर नीचे चला गया। लीला सहज भाव से मिली। बोली, "बैठे-बैठे जी उकता गया है। मैदान की तरफ निकला जाय, जिससे मन कुछ शान्त हो।" साथ ही उसने यह भी पहले ही बता दिया कि मुझे हर हालत में साथ चलना ही होगा। मैंने मौन सम्मति जता दी।

तब से लीला एक घनिष्ठ आत्मीय की तरह से मेरे निकट-से-निकटतर आती चली गई। धीरे-धीरे उसके अन्तर की बाधाओं की सारी गाँठें एक-एक करके खुलती चली गईं। मेरे मन में जैसे बरबस यह भाव अधिकाधिक दृढ़ता से जमती चली जाती थी कि मैं उसी घर का आदमी हूँ। घर से सम्बन्धित छोटे-से-छोटे विषय से लेकर किसी बड़े-से-बड़े सामाजिक कार्यक्रम तक प्रायः सभी विषयों में वह मुझसे बिना पूछे, बिना मेरी राय लिये कोई काम नहीं करना चाहती थी। मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता था, पर मैं उसका जी दुखाना भी नहीं चाहता था, इसलिए जैसा-कुछ भी ठीक समझता राय दे देता।

एक दिन सुबह शम्भू मेरे पास आया और दोनों हाथ जोड़कर ससंकोच से मुस्कराता हुआ बड़े ही विनम्र स्वर में बोला, "हुजूर, सात दिन की छुट्टी चाहता हूँ; छोटे भाई की शादी में घर जाना है।"

सुनकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। आज यह बिलकुल नई बात थी। इसके पहले शम्भू ने कभी छुट्टी आदि के लिए मुझसे नहीं पूछा था। मुझसे पूछने में कोई तुक ही नहीं था। मैं कुछ देर तक गौर से उसकी ओर देखता रहा,

फिर बोला, "मुझसे क्यों पूछ रहे हो ? मालकिन से पूछो ।"

"नहीं हुजूर, मालिक तो आप ही हैं," दाँत निपोरते हुए शम्भू ने कहा ।

यह परिहास है या क्या है और यदि परिहास है तो उसका उद्देश्य क्या है। मैं कुछ भी ठीक से नहीं समझ पा रहा था । शम्भू का मुझे 'हुजूर' कहकर सम्बोधित करना भी मुझे एक नया शिगूफा-सा लग रहा था । पर मैं शम्भू पर अपने आश्चर्य का प्रभाव अधिक नहीं छोड़ना चाहता था, इसलिए भरसक सहज भाव से बोला, "अच्छी बात है । कुछ देर बाद बताऊँगा । तुम जाओ और लीला को ऊपर भेज दो ।"

शम्भू चला गया । कुछ ही देर बाद लीला मुस्कराती और आँखें विचित्र ढंग से नचाती हुई ऊपर चली आई ।

"यह क्या नया तमाशा खड़ा किया है तुमने ?" मैं अपनी परेशानी को छिपाने के लिए प्रयत्नपूर्वक मुस्कराता हुआ बोला ।

"क्या ?" मुँह मटकाती हुई और जानकर अजान-सी बनती हुई लीला बोली ।

"अभी शम्भू मुझसे यह अनुरोध करने आया था कि उसे सात दिन की छुट्टी दे दी जाय, उसके छोटे भाई की शादी है ।"

"तब ?" उसकी कृत्रिम गम्भीरता उसकी चंचल आँखों में स्थिर ही नहीं रह पाती थी ।

"मूर्ख है वह ! मुझसे पूछने की क्या आवश्यकता थी ? कहता था कि 'मालिक आप ही हैं ।' अच्छा परिहास है यह !"

"इसमें परिहास की क्या बात है ? मालिक तो तुम हो ही । वह क्या गलत कह रहा था ?" मेरी ओर न देखकर, अपने बाएँ हाथ की बहुत ही छोटी घड़ी का 'चेन' ठीक करते हुए लीला ने कहा । इस बार कुछ अधिक गम्भीर बनने के प्रयत्न में उसकी मुस्कान जैसे फट पड़ने को हो गई ।

"लीला, सचमुच तुम्हारी लीला का पार पा सकना मेरे लिए सम्भव नहीं हो रहा है । तुम्हारी दुष्टता जैसे दिन-दिन बढ़ती चली जाती है !"

"जाओ ! तुम सभी बातों में मुझ ही को दोष देते हो," मचलती हुई लीला बोली । उसकी रस-भरी आँखों की तिरछी चितवन में दुष्टता-भरी मुस्कान अधिकाधिक प्रस्फुटित होती चली जाती थी ।

क्रोध करने की इच्छा होने पर भी मैं मुस्करा कर रह गया । अबकी मेरी

मुस्कान में निश्चय ही सहज उल्लास का भाव निहित रहा होगा। लीला पर भी मेरे उल्लास का प्रभाव पड़े बिना न रहा। उसकी मुस्कान और अधिक चमक उठी।

"तब ? क्या सोचा तुमने शम्भू को छुट्टी देने के बारे में ?" फिर उसकी आँखों में वही शरारत खुलकर खेल रही थी।

"मैं क्या सोचूँ ? अजीब बात कर रही हो तुम ! जैसा उचित समझो वैसा उसे बता दो। अगर भाई की शादी है तो छुट्टी उसे देनी ही होगी।"

"ठीक कहते हो तुम ! यही मैं भी सोचती हूँ। पर तुम्हारी राय के बिना उसे छुट्टी नहीं दे सकती थी। अब तुमने राय दे दी है, इसलिए उसे सूचित कर दूँगी।"

घर में जो दो नौकर और थे उनसे शम्भू की पूर्ति नहीं हो सकेगी, यह मैं जानता था। शम्भू संकेत-मात्र से लीला के किसी भी आदेश का ठीक-ठीक आशय समझ लेता और उसके किसी भी काम में रंचमात्र भी त्रुटि मैंने कभी नहीं देखी। लीला को उसी को सब काम सौंपने की आदत पड़ी हुई थी। उस पर घर का सब काम छोड़कर वह निश्चिन्त रहती थी। उसके लौटने तक लीला को कई असुविधाओं का सामना करना पड़ेगा, यह सोचकर मैंने पूछा, "शम्भू का काम कौन करेगा ? किसी दूसरे आदमी का प्रबन्ध किया है ?"

"उसकी चिन्ता न करो; वह सब मैं सँभाल लूँगी।"

"मेरी सहायता लेना तो तुम पसन्द ही नहीं करोगी।"

"तुम घर के मालिक हो। तुम काम में मेरी क्या सहायता करोगे ? तुमसे तो केवल राय ली जायगी। आज से तुम्हारा नाम रख दिया गया राय साहब— अर्थात् राय देनेवाला साहब !" कहकर वह खिलखिलाकर हँस उठी।

उसकी छुतहा हँसी का प्रभाव मुझपर भी पड़ रहा था और मैं लाख चाहने पर भी अपनी गम्भीरता कायम नहीं रख पाता था।

"अच्छा राय साहब," मुझे मौन देखकर वह बोली, "इस समय आज्ञा दीजिए। मैं तनिक नीचे का काम देखकर आती हूँ।" और वह प्रायः भागती हुई-सी चली गई।

इस प्रकार मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध बलात् 'घर का मालिक' भी मान लिया गया और 'राय साहब' भी बन गया। फूलों और लताओं से भी सुकुमार हथ-

कड़ियाँ और बेड़ियाँ मुझे सुदृढ़ बन्धनों में बाँधती चली जा रही थीं। उस माया-जाल से छुटकारा पाने के लिए मेरा मन जितना ही छटपटाता उतना ही अधिक वह उलझता चला जाता था। ऊपरी मन से प्रसन्न रहने का प्रयत्न करता हुआ मैं लीला की प्रेरणा से उसके द्वारा आयोजित सभी प्रकार के कलात्मक और सामाजिक कार्यक्रमों में भाग लेता।

पर मेरे मन में तनिक भी शान्ति नहीं थी। मुझे लगता था जैसे मैं अपना सब-कुछ खोता चला जा रहा हूँ। एक दिन रात-भर की अशान्ति के बाद सुबह होने के कुछ ही पहले मेरी आँखें लगीं और मैं देर तक बेखबर सोता रहा। अन्त में जब लीला ने मुझे हिलाकर जगाया तब दिन काफी चढ़ चुका था। मैं हड़-बड़ाता हुआ उठा और आँखें मलकर इतमीनान से बैठ गया।

"तबीयत तो ठीक है?" चाय का एक प्याला मेरी ओर बढ़ाते हुए लीला ने कहा।

"ठीक ही है," मैंने उदासीनता से उत्तर दिया। "रात में देर से सो पाया था।"

"तुम बेकार दुनिया-भर की चिन्ताएँ अपने मन में लिये रहते हो, इसीलिए तुम्हें ठीक से नींद नहीं आ पाती।"

"तुम ठीक ही कहती हो," उसकी ओर देखे बिना ही, कुछ मुरझाए हुए स्वर मैंने कहा। "कल रात से एक नई चिन्ता मेरे सिर पर सवार हो गई है।"

"वह क्या?" लीला कौच पर पूरे आराम के साथ पीठ टेकती हुई बोली।

"लीला, मैं बहुत दिन से तुमसे एक आवश्यक विषय पर खुलकर बातें करने की इच्छा रखते हुए भी कई कारणों से एक शब्द भी उस सम्बन्ध में अभी तक न कह पाया; मेरी चिन्ता और अशान्ति का सबसे बड़ा कारण आंजकल यही है।" इस बार मैं पूरी दृष्टि से उसकी ओर देख रहा था।

लीला की आँखें एक मीठी लाज-भरे उल्लास से चमक उठीं। वह केवल अपनी दो सुन्दर, सहृदयतापूर्ण, उत्सुक आँखों की प्रश्न-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखती रही।

एक घूँट चाय लेकर मैं कहता चला गया, "जो बात मैं तुमसे कहने जा रहा हूँ उस पर बहुत गम्भीरता से विचार करके उत्तर देना। जल्दी मत करना। इस प्रश्न के उत्तर पर ही मेरा और···हाँ, मेरा ही···भविष्य निर्भर करता है।"

लीला की आँखों में उत्सुकता असाधारण रूप से चमक उठी थी। पर वह बोली एक शब्द भी नहीं। मैंने फिर एक घूँट चाय ली और पूरे आत्म-विश्वास के साथ धीरे-धीरे बोला, "पर मूल बात कहने के पहले एक बात मैं जान लेना चाहता हूँ। मेरे प्रश्न का कोई दूसरा अर्थ न लगाना। मैं केवल एक आवश्यक जानकारी के लिए यह अशिष्ट प्रश्न करना चाहता हूँ कि तुम्हारी सारी चल और अचल सम्पत्ति और बैंक-अकाउण्ट मिलाकर कुल कितने रुपये का ठिकाना तुम्हारे पास होगा? क्या मोटे अन्दाज से बता सकोगी?"

एक विचित्र सन्देह का-सा झीना—बहुत ही झीना—आवरण सहसा लीला के मुँह पर छा गया, ऐसा मुझे लगा।

"जानकर तुम क्या करोगे?" बड़े गम्भीर, रूखे और अस्पष्ट स्वर में लीला बोली। "पहले अपने कुतूहल का कारण मुझे बताओ, तब मैं भी बताऊँगी।"

उसका सन्देह देखकर मन-ही-मन मुझे हँसी आने लगी। बाहर से भी मैं कुछ मुस्कराया। साथ ही अपनी बात को वहीं समाप्त कर देने की इच्छा हुई। पर जो पहाड़ टूटकर इतनी दूर तक नीचे चला आया था उसे बीच ही में रोककर बाँध देना कोई आसान काम नहीं था। सारे प्रतिरोध को अपने भूकम्पी धक्के से ढाता हुआ वह जमीन की सतह पर जाने—बल्कि उसके भीतर धँसने—के लिए अत्यन्त अधीर हो उठा था।

"अपने कुतूहल के कारण को मैं कभी नहीं छिपाऊँगा, इस सम्बन्ध में तुम निश्चिन्त रहो। उसी को बताने के लिए मैं यह अप्रत्याशित प्रश्न तुमसे कर रहा हूँ।"

लीला कुछ क्षण तक अपने दाएँ हाथ की बीच की उँगली के नाखून से बाएँ हाथ की बीच की उँगली के नाखून को खुरचती रही। उसके बाद धीरेसे बोली, "मेरे खयाल से सब-कुछ मिलाकर करीब चालीस लाख तक का ठिकाना मेरे पास होगा।"

"ठीक है," मैंने शान्त भाव से कहा और चाय का खाली प्याला नीचे रख दिया! "अब मैं जो बात तुमसे कहने जा रहा हूँ उसे ध्यान से सुनो। साथ ही यह भी जाने रहो कि यह केवल मेरा एक सुझाव है—ईमानदारी से उपस्थित किया गया सुझाव। तुम्हारे ऊपर किसी भी तरह का कोई दबाव डालने का कोई उद्देश्य मेरा नहीं है। हाँ, तो मैं यह कहना चाहता था कि इतना रुपया तुम्हारे

अपने अकेले के लिए—या दुकेले के लिए भी—आवश्यकता से बहुत अधिक है। क्यों ? ठीक कह रहा हूँ न ? तुम्हारी क्या राय है ?"

"पहले तुम अपनी बात पूरी कर लो, तब मैं बताऊँगी।"

उसके कहने के ढंग से साधारण परिस्थिति में मेरा उत्साह ठण्डा पड़ जाता, पर उस समय मेरी मनोधारा असाधारण परिस्थितियों से गुजर रही थी, इसलिए मैं अपनी बात को अन्त तक पूरी तरह से साफ-साफ कहने के लिए कमर कसे था।

"देखो लीला," मैंने कहा, "उस दिन तुमने मेरी बातें सुनकर पूरी आन्तरिकता से यह कहा था कि 'मुझको भी तुम अपने ही लोगों के साथ समझो।' तुम्हारी उस बात का ठीक-ठीक और पूरा-पूरा अर्थ न समझने पर भी मेरे मन में यह धारणा जम गई थी कि उन अभागों के प्रति तुम्हारी सहानुभूति केवल मौखिक नहीं, बल्कि अन्तर्मन से है जो समाज द्वारा हर तरह से शोषित और प्रवंचित होकर कसाईखाने के पशुओं से भी अधिक निरीह और जड़-जीवन बिताने को बाध्य हैं। अगर उन लोगों के उद्धार के लिए तुम कम-से-कम अपनी आधी सम्पत्ति दान कर दो तो तनिक सोचो तो सही कि उन लोगों के जीवन में क्या परिवर्तन आ सकता है! उनमें से कइयों का तो एकदम कायाकल्प ही हो जायगा। रौरव नरक की घृणित पंकिलता से उबरकर वे जीवन के मुक्त प्रांगण में मनुष्यों की तरह विचरने लगेंगे। उन बीस लाख रुपयों से एक ऐसी संस्था की स्थापना हो सकती है जो उन जड़ आत्माओं को मनुष्य बनना सिखाएगी और उन सीखे हुओं में से निश्चय ही एक ऐसा दल उबरेगा जो अपने सुदृढ़ संगठन को धीरे-धीरे बढ़ाता हुआ सम्भवतः एक दिन इस पृथ्वीतल से मानवीय पतन का नामोनिशान मिटाने में समर्थ होगा। तब कितनी पीड़ित आत्माएँ तुम्हें अन्तर से आशीर्वाद देंगी और घोर पशुत्व की निपट जड़स्थिति से उबरी हुई विजयनी मानवता तुम्हारी उदारता का जो गुणगान गायगी उसकी तनिक कल्पना तो करो! भविष्य में फलने की पूरी सम्भावना रखनेवाला स्वप्न मेरी आँखों के आगे प्रत्यक्ष रूप में नाच रहा है।"

लीला बड़े गौर से, स्तब्ध दृष्टि से मेरी ओर देख रही थी। उसकी उस स्तब्धता से यह जान पाने का कोई उपाय नहीं था कि मेरी बात का ठीक क्या प्रभाव उसके मन पर पड़ रहा है। उस स्तब्धता से उसे जगाने के उद्देश्य से मैंने कहा, "क्या सोच रही हो ? मेरा प्रस्ताव तुम्हें कैसा लगा ?"

सहसा जैसे उसकी मोहाच्छन्नता भंग हो गई। वह तनिक सँभलकर बैठ गई

और नीचे की ओर मुँह करके अत्यन्त रूखे स्वर में बोली, "ऐसे गम्भीर प्रश्न का उत्तर एक क्षण के भीतर कैसे दिया जा सकता है! मैं सोचकर तुम्हें बताऊँगी।" यह कहकर वह उठकर सीधे नीचे चली गई।

इतने दिनों से जो बात प्रतिदिन, प्रतिपल मुझे अशान्त किये थी और बाहर निकलने के लिए छटपटा रही थी, वह जब अन्त में मेरे मुँह से निकल चुकी तब स्वाभाविक नियम से मेरे मन की बेचैनी दूर हो जानी चाहिए थी, पर ऐसा हुआ नहीं। मुझे लगा कि एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात को गलत मौके पर, गलत ढंग से कहकर मैंने उसे केवल व्यर्थ ही नहीं कर दिया, बल्कि उसके महत्त्व को भी घटा दिया। बड़ी ही ग्लानिजनक प्रतिक्रिया होने लगी मेरे मन पर। यह सोचकर अपनी मूर्खता पर मुझे घृणा होने लगी कि धन-सञ्चय की मनोवृत्ति के वातावरण में पली हुई एक नारी से अपनी आधी सम्पत्ति दान कर डालने का प्रस्ताव करके मैं यह आशा कर रहा था कि वह तत्काल प्रसन्न होकर मेरी बात मान लेगी। मैं केवल उसकी ऊपरी सहृदयता की बातों के बहकावे में आ गया। मानवीय सभ्यता के कई युगों के संस्कारों की 'रिइनफोर्स्‌ड कंक्रीट' द्वारा सुदृढ़ मनोवृत्ति में मैं केवल बातों द्वारा दरार पैदा करना चाहता था। मूर्ख! वज्रमूर्ख!

रह-रहकर लीला के उत्तर की रुखाई की याद मेरे अन्तर को बुरी तरह कचोट रही थी। मेरी बात सुनते ही उसका फूल-सा खिला हुआ मुख मुरझाकर किस तरह सूखे हुए चमड़े की तरह सिकुड़ गया था। और यह तनिक भी अप्रत्याशित प्रतिक्रिया नहीं थी। इस स्वाभाविक परिणाम की बात पहले ही मेरे ध्यान में क्यों नहीं आ गई, सोच-सोचकर मैं स्वयं अपने ही प्रति कुढ़ रहा था। "तुम्हीं तो हो इस घर के मालिक!" लीला के इस कथन की याद विकट व्यंग्यबाण की तरह मेरे मर्म को छेद रही थी।

मैं अनमने भाव से उठा और गुसलखाने में चला गया। कुछ देर बाद जब नहा-धोकर बाहर निकला तब तन में और मन में एक ताजगी और फुरती का अनुभव करने लगा। पर वह ताजगी और फुरती भी मेरी अस्तव्यस्त मानसिक स्थिति को शान्त न कर सकी। रह-रहकर केवल एक आवाज मेरे अन्तर्मन से निकल रही थी, "इस जटिल स्थिति से जितनी जल्दी मुक्त हो सके उतना ही अच्छा है। देर करने से तुम इसमें इतनी बुरी तरह जकड़ लिये जाओगे कि फिर लाख सिर पटकने पर भी छुटकारा न मिल सकेगा।"

ठीक है, मैं आज ही यहाँ से चला जाऊँगा—बल्कि अभी !" मैंने मन-ही-मन अपने-आप से कहा।

और मैं कपड़े बदलने लगा। लीला के पैसों से खरीदे गए वे कपड़े भी मुझे जैसे काटने लगे थे। जिन पुराने कपड़ों को मैं अपने साथ लाया था वे न जाने कहाँ गायब हो गए थे। अपनी इस गलती पर मैं बुरी तरह पछताने लगा कि मैंने अपने पुराने और मैले कपड़ों को प्रारम्भ ही में धोकर सँभालकर रख नहीं लिया। अब लीला के ही दिये कपड़ों को पहने रहने के सिवा दूसरा चारा नहीं था। एक गंजी, कुरता, एक धोती और चप्पल पहनकर भाग निकलने की तैयारी कर ही रहा था कि सहसा नीरजा के साथ लीला मेरे कमरे में आ पहुँची। इस बार उसके मुख पर वही सहज उल्लास व्यक्त हो रहा था जिससे मैं इतने दिनों के संसर्ग से अच्छी तरह परिचित हो चुका था। सुबह जो रुखाई गाढ़े काले रंग की तरह उसके मुख पर पुत-सी गई थी उसका लेश भी इस समय न दिखाई दिया और नीरजा तो जैसे प्रसन्नता की प्रतिमूर्ति बनी हुई थी।

"नीरजा अभी क्या कह रही थी जानते हो ?" परिहास-भरी मुस्कान से चमकती हुई आँखों से मेरी ओर देखती हुई लीला बोली। "यह कहती थी कि 'चलो, ऊपर चलकर साधू बाबा के दर्शन कर आएँ'।" कहकर वह खिलखिला उठी।

नीरजा संकोच और दुष्टता की मिश्रित मुस्कान मुख पर झलकाती हुई लीला को अपनी केहुनी से टहोकने लगी और बोली, "जाओ ! तुम्हें तो मनगढ़न्त नाटक रचने में आनन्द आता है !"

"अरे कह ही दिया तो तुमने क्या अन्धेर कर दिया ? व्यर्थ में झेंपती काहे को हो ! साधू बाबा तो यह हैं ही। कहिए बाबाजी, कितनी दूर चलने की तैयारी कर रहे हैं ?"

लीला के कहने का ढंग ऐसा निश्छल और सहज-स्वाभाविक था कि खीझने पर भी मैं बरबस मुस्करा पड़ा। पल में मेरा मुक्ति-सम्बन्धी सारा निश्चय बिखर कर रह गया और—जाने क्यों—मुझे लगा कि अब अनन्त काल तक मैं उस भूलभुलैया से छुटकारा न पा सकूँगा।

"कहीं नहीं, नहा-धोकर कपड़े बदल रहा था," मैंने तनिक संकोच के साथ कहा।

"तब बैठो। चाय आ रही है। आओ नीरा, साधू बाबा के आमने-सामने

बैठो और कुछ ज्ञान की बातें पूछो। मैं दो मिनट में आती हूँ।" कहकर लीला नीचे चली गई। मैं चुपचाप एक सोफा पर बैठ गया। नीरजा भी बगलवाले सोफा पर बैठ गई।

"आज एक विशेष निवेदन लेकर आप के पास आई हूँ," अत्यन्त शिष्ट भाव से नीरजा ने कहा।

"क्या ?" मैंने पूछा।

"हमारे कालेज की लड़कियाँ रवीन्द्रनाथ का नाटक 'नटीर पूजा' खेलने जा रही हैं। उसका संगीत-संचालक आप ही को बनना होगा। मैं आप की तरफ से वचन दे चुकी हूँ।"

इच्छा होती थी कि पूँछूँ, दूसरे की तरफ से वचन देने का अधिकार तुम्हें किसने दिया। पर फिर मैं उस उमड़ते हुए भाव को पी गया। शिष्टता की पूरी रक्षा करने का प्रयत्न करता हुआ धीरे से बोला, "तुमने व्यर्थ ही में अपने ऊपर संकट मोल ले लिया। अगर वचन देने के पहले तुमने एक बार मुझसे पूछ लिया होता तो मैं तुम्हें बता देता कि रवीन्द्रनाथ के गीतों को ठीक सुर, ताल और लय में बिठाना मेरे बूते की बात नहीं है और···"

"पर अब तो जो गलती हो गई सो हो ही गई। अब जैसे भी हो, आपको मेरे वचन की रक्षा करनी ही होगी।" उसके मुख पर घबराहट के चिह्न स्पष्ट झलक रहे थे।

"पर यह कैसे सम्भव हो सकता है ?" मैंने खीझ को बरबस दबाते हुए कहा।

"जैसे भी हो···"

"क्यों मुझे उस स्वर्गीय कवि की आत्मा के प्रति अपराधी बनाने पर तुली हो।"

"मैं आपको सम्मान देना चाहती हूँ।"

"माफ करना नीरजा, मैं ऐसा झूठा सम्मान नहीं चाहता।"

"अच्छी-खासी बहस छिड़ गई है तुम दोनों के बीच," लीला ने सहसा प्रवेश करते हुए कहा। उसके पीछे एक नौकर 'ट्रे' में चाय की सामग्री लिये चला आ रहा था।

"तुम्हीं राजी करा सकती हो इन्हें लीला बहन, मेरी प्रार्थना यह नहीं सुनना चाहते," बच्चों की तरह शिकायत-भरे स्वर में नीरजा बोली।

"मान लो न इसकी बात, बड़ी आशा से तुम्हारे पास आई है," कोच पर बैठते हुए, सहज आग्रह के साथ लीला ने कहा।

मैंने देखा कि बहस करना बेकार है, इसलिए मौन हो रहा। सम्भवतः मौन को सम्मति का लक्षण जानकर फिर किसी ने बात नहीं बढ़ाई। जब लीला चाय तैयार कर रही थी, तब किसी दूसरे विषय की चर्चा चल पड़ी, जिससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। बड़ी उदासीनता—बल्कि अनिच्छा—से मैंने चाय पी और किसी भी विषय की बातचीत में कोई भाग नहीं लिया।

लीला और नीरजा बात-बात में खिलखिला रही थीं। मैं अत्यन्त पीड़ित मनोदशा में तटस्थ भाव से दोनों की मानसिकता का लेखा-जोखा करने का प्रयत्न कर रहा था। मन ही-मन कह रहा था, 'तुम दोनों युगफैशन की पुतलियाँ हो। तुम दोनों का व्यक्तित्व मैंने तल से सतह तक परखकर देख लिया है। अपने वर्ग के संस्कारों से तुम्हारा अणु-अणु बँधा हुआ है। ईमानदारी और सहृदयता तुम में हो सकती है। पर वह केवल तुम्हारे व्यक्तित्व का बाहरी मुलम्मा मात्र है। यह ठीक है कि यह सब होने पर भी तुम नारी हो और मैं पुरुष। पर मेरे उस पौरुष को धिक्कार है जो तुम्हारे व्यक्तित्व के छिछले पानी में डूबने के लिए बेचैन हो उठा था। उसमें मेरा वह पौरुष डूब न पाता, केवल मेरे पैर उसकी रपटन में फिसलकर रह जाते। मैं बाल-बाल बच गया! मैं जी गया! नहीं तो तुम लोगों के संसर्ग में आने पर जो मीठा, हलका तेजाबी रस धीरे-धीरे मेरी अन्तरात्मा की नींव को अज्ञात में जीर्ण करता चला जा रहा था वह एक दिन मेरे सारे व्यक्तित्व को ही जर्जर और ध्वस्त किये बिना न छोड़ता। पर अब डर की कोई बात नहीं है। मैं अब तुम्हारे जादू से पूर्णतः मुक्त होकर तुम्हारी सारी माया पर जी खोलकर हँस सकता हूँ।'

उन दोनों के चले जाने पर मैं शीघ्र ही चुपचाप लीला के लीला-क्षेत्र से बाहर निकल गया। एक पत्र लीला के लिए अपने सिरहाने छोड़ गया। पत्र में मैंने अन्तर्मन से लीला को उस कष्ट के लिए आन्तरिक धन्यवाद दिया था जो उसने इतने दिन तक मुझे अपने पास रखकर स्वीकार किया था। साथ ही बिना किसी पूर्व-सूचना के उससे विदा होने के लिए क्षमा भी माँगी थी।

और उसके बाद एक दिन मैंने अपने को राँची में पाया। राँची में न मेरा कोई काम था, न वहाँ जाने का वह कोई विशेष अवसर ही था। फिर भी सब स्थानों को छोड़कर मैं उस विशेष स्थान में क्यों और कैसे पहुँचा, यह ठीक से मैं स्वयं भी नहीं जानता। केवल मन के भीतर अज्ञात में उत्पन्न एक कारण का अनुमान लगा सकता हूँ। वह यह कि अपने पिछले अनुभवों के फलस्वरूप मैं बाहर से और भीतर से इस कदर थक गया था कि कुछ समय के लिए किसी अपेक्षाकृत एकान्त में विश्राम की अनिवार्य-सी आवश्यकता पिछले कुछ दिन से मैं अस्पष्ट रूप से अनुभव करता चला आ रहा था।

राँची में दो-चार दिन तक इधर-उधर भटकने के बाद काँके को जानेवाली सड़क पर एक बरगद के पेड़ की छाया तले एक कुटिया में मुझे आश्रय मिल गया। उस कुटिया में एक स्वामीजी रहते थे। स्वामीजी से मेरा परिचय एक दिन सहसा राँची के सुप्रसिद्ध मानसिक अस्पताल में हो गया।

उस दिन मैं निपट कुतूहल से प्रेरित होकर सवेरे ही अस्पताल देखने के लिए चल दिया था। एक नव-परिचित सज्जन के साथ, जो अस्पताल में ही किसी एक विभाग में डॉक्टर थे, मैं सीधे यूरोपियन वार्ड में जा पहुँचा।

सबसे पहले हम लोग जिस कमरे में गये वहाँ बीच में एक मेजपर एक मरीज को लिटाया गया था। डॉक्टर के आने के थोड़ी देर बाद उसे क्लोरोफार्म की तरह की कोई चीज सुँघाई गई। जब यह जान लिया गया कि वह बेहोश हो गया है तब डाक्टर ने उसकी दोनों कनपटियों के ऊपर दो तार छुआ दिए, जिनसे बिजली की तीव्र शक्तिशाली तरंग प्रवाहित हो रही थी। उन तारों के छूते ही मरीज अपनी प्रकट में बेहोशी की हालत में भी अत्यन्त विकट रूप से छटपटाने लगा। छपपटाने के साथ ही उसकी मुखमुद्रा अत्यन्त विकृत हो उठी थी और उसके कपाल की नसें क्रम से फूलती और सिकुड़ती हुई दिखाई देती थीं। उसके अपरिसीम कष्ट का अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता था। क्लोरोफार्म के प्रभाव के कारण वह न अपने कष्ट की कथा कह पाता था, न चिल्ला पाता था। केवल तत्काल कटे हुए बकरे की तरह अत्यन्त भयंकर रूप से छटपट-छटपट कर रहा था। लगता था कि ऐसा विकट अमानुषिक निर्यातन किसी घोर बर्बर समाज में भी सम्भव नहीं हो सकता। नात्सी कन्सेन्ट्रेशन कैम्प के सञ्चालक-गण भी ऐसे निर्यातन की कल्पना शायद ही कर सके होंगे। जो कुतूहली दर्शक वहाँ

खड़े थे उनमें से एक व्यक्ति सहसा मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। उसे उठाकर बाहर ले जाया गया। डॉक्टर और उसके सहकारी निर्विकार भाव से अपनी-अपनी 'ड्यूटी' पर खड़े थे।

मैं कलेजे पर पत्थर रखकर अन्त तक वह अमानुषिक दृश्य देखता रहा। उसके बाद जब मानवीय पीड़ा की सीमा और उस पीड़ा को सहन करने की मानवीय क्षमता के सम्बन्ध में एक नई ही धारणा लेकर बाहर निकला तब मुझे लगा कि मेरे मन का रहा-सहा विकार भी जैसे साफ हो गया।

डॉक्टर से विदा होकर मैं अकेले ही अनमने भाव से चलता हुआ एक दूसरी इमारत में पहुँचा। वहाँ भीतर जाकर मैंने देखा कि एक बड़े हॉलनुमा कमरे में बहुत-से मरीज कताई, बुनाई, सिलाई और इसी तरह के दूसरे कामों पर जुटे हुए हैं। मैं बड़ी दिलचस्पी से प्रत्येक मरीज के काम करने के ढंग पर गौर करने लगा। किसी के भी काम से यह पता नहीं लग पाता था कि वह अपने काम को पूरे मनोयोग से नहीं कर रहा है। सभी अनुभव-सिद्ध और विशेषज्ञ व्यक्तियों की तरह अपना-अपना काम किए चले जा रहे थे। मुझे मन-ही-मन आश्चर्य हो रहा था कि ऐसे गम्भीर भाव से, लगन से और निपुणता से काम करनेवाले व्यक्तियों को क्यों पागल माना जाता है। असल बात यह थी कि पागलों के सम्बन्ध में एक दूसरी ही धारणा लेकर मैं आया था जिसका कुछ भी मेल वास्तविकता से बैठता हुआ मैं नहीं पा रहा था।

एक अधेड़ उम्र का ऐंग्लो-इण्डियन मरीज, जो उन काम करनेवालों के बीच में खाली बैठा हुआ सम्भवतः बीच में कुछ समय के लिए विश्राम कर रहा था, बड़े ध्यान से मेरी ओर देखता हुआ मन्द-मन्द मुस्करा रहा था। मैं कुतूहलवश उसके पास गया और बोला, "क्या तुम्हारा काम पूरा हो चुका?"

"पूरे-अधूरे का कोई सवाल ही नहीं है," उसने सहज भाव से कहा। "जब काम करने की इच्छा मन में जागी थी तब मैंने काम किया, अब आराम करने की इच्छा हो रही है, इसलिए आराम कर रहा हूँ।"

"तबीयत तो तुम्हारी ठीक है?"

"बिलकुल ठीक। देखते नहीं, मैं न रोता हूँ न तुम्हारे प्रश्न से खीझता हूँ।"

"हाँ, सो तो देखता हूँ। तुम बड़े मजे में मुस्करा रहे हो।"

"तुम बाहरवाले लोग समझते हो कि मुस्कराना बड़ा आसान काम है—

जब जी चाहा तब मुस्करा दिया। पर यह बात हमेशा के लिए जान लो कि मुस्कराना एक बहुत बड़ी कला है, जो कई सालों के अभ्यास के बाद सीखी जा सकती है। सारी उम्र बिता चुकने के बाद अब मैं इस कला को सीख पाया हूँ।"

"ठीक है। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई जानकर। मैं तुम्हें बधाई देता हूँ।" कह कर मैं मन्द-मन्द मुस्कराता हुआ जाने लगा।

"पर तुम इतनी आसानी से छुट्टी नहीं पा सकते, मिस्टर। तनिक सुनते जाओ।"

मैं दो कदम आगे बढ़ चुका था। उसकी बात सुनकर फिर लौटा। "क्या बात है?" मैंने पूछा।

अपना दायाँ हाथ आगे बढ़ाकर बीच की उँगली नचाते हुए उसने कहा, "एक सिगरेट निकालो।"

"सिगरेट तो मेरे पास नहीं है," आन्तरिक दुःख से मैंने कहा।

"अच्छा तब चार आना पैसा ही निकालकर दो।"

"मुझे बहुत दुःख है, मेरे पास एक भी पैसा नहीं है।" वास्तव में पैसा पास में न होने की इतनी बड़ी ग्लानि मुझे कभी नहीं हुई थी।

"ओह, मैं समझ गया। तब तुम भी पागल ही हो!"

मैं पिण्ड छुड़ाकर भागा।

कुछ दूर आगे चलने पर मैंने देखा, एक बेंच पर तीन स्त्रियाँ बैठी थीं। उनमें दो ऐंग्लो-इण्डियन थीं और एक हिन्दू। ऐंग्लो-इण्डियन स्त्रियों में से एक अधेड़ थी, जो कोई कपड़ा-सी रही थी और दूसरी युवती थी, जो देखने में सुन्दर भी लगती थी। युवती खाली बैठी हुई थी। वह अपनी बड़ी-बड़ी कुतूहली आँखों से मेरी ओर देख रही थी। मैं जब रुका तब उसने पूछा, "क्या तुम 'खेत्री' हो?"

मैंने कहा, "नहीं तो।"

"अच्छा 'खेत्री' लोग मछली क्यों नहीं खाते?"

"मुझे नहीं मालूम कि वे लोग मछली खाते हैं या नहीं और अगर नहीं खाते तो क्यों नहीं खाते।"

"हमारे पड़ोस में एक 'खेत्री' रहता था। उसके तालाब में बड़ी-बड़ी मछलियाँ थीं, पर वह उन्हें न तो स्वयं मारता था न किसी को मारने देता था।"

"अच्छा तो करता था; तुम इस बात के लिए उससे नाराज क्यों हो?"

"अच्छा यह बताओ कि मछलियों में काटें क्यों होते हैं ?"

"इसलिए कि मछलियाँ चाहती हैं कि आदमी उन्हें न खाएँ," कुछ उत्तर देना आवश्यक समझकर मैंने कहा ।

"क्यों ?" अकृत्रिम कुतूहल से युवती ने पूछा !

"इसलिए कि अपने-अपने प्राण सभी को प्यारे होते हैं ।"

"ठीक, अब समझी," सहज भोलेपन से उसने कहा । "इतने दिन तक मैं यही सोचती आती थी कि मछलियों में काँटे क्यों होते हैं । आज तुमने मेरा भ्रम दूर कर दिया । बहुत धन्यवाद है तुम्हें । अब से मैं उस 'खेत्री' से नाराज नहीं हूँगी ।"

जो अधेड़ महिला कपड़ा सी रही थी वह बीच-बीच में सिर उठाकर मेरी ओर देखती जाती थी । स्पष्ट ही वह हम लोगों की बातों में दिलचस्पी ले रही थी । सहसा वह मेरी ओर मुँह करके बोल उठी, "क्या तुम डॉक्टर हो ?"

"नहीं, मैं डाक्टर नहीं हूँ," मैंने कहा, "पर डॉक्टर का दोस्त अवश्य हूँ ।"

"तब अपने दोस्त से जाकर बोलना कि उसकी दी हुई दवा से मेरे सिर के बालों में कालापन क्यों नहीं लौट रहा है । जानते हो, मेरे सिर के बाल सफेद क्यों हो गए हैं ?"

"नहीं, मैं नहीं जानता ।"

"हमारे पड़ोस का गुण्डा सैम, जो अपने को एक इन्श्योरेन्स कम्पनी का एजेण्ट बताता है, एक दिन शराब पीकर मेरे पास आया और मेरे सिर के बालों को छूता हुआ बोला, जल्दी अपनी लाइफ इन्श्योर करा लो । तुम्हारे बाल पकने जा रहे हैं और एक दिन जल्दी ही तुम मर जाओगी । और सचमुच उस दिन से मेरे बाल जवानी में ही पकने लगे । मैं कभी उस बदमाश से अपना लाइफ इन्श्योर नहीं कराऊँगी, देख लेना । अब यह हाल है कि मैं जितना ही अपने बालों को धोती जाती हूँ उतना ही अधिक मेरे बाल पकते जाते हैं ।"

जो स्त्री साड़ी पहने थी वह अधेड़ महिला की बात सुन कर खिलखिला रही थी ।

मैं वहाँ से चुपचाप आगे बढ़ा । बाहर बरामदे में कई मरीज एक साथ बैठे हुए थे । बाद में पता चला कि डाक्टरी योजनानुसार उन लोगों को दिन में एक बार साथ-साथ बिठाया जाता है ताकि एक-दूसरे का बौड़मपन देखकर या सुनकर

हर मरीज को प्रतिक्रियावश अपने-अपने मानसिक सन्तुलन के लिए प्रेरणा मिलती रहे। कुछ लोग बेंचों पर बैठे थे और कुछ दीवार के सहारे खड़े थे। कुछ अपनी-अपनी धुन में बड़बड़ा रहे थे, कुछ प्रकट में दूसरों की बातों में दिलचस्पी लेते हुए दिखाई देते थे। और कुछ मौन बैठे हुए थे। उनमें अधिकतर चालीस वर्ष से ऊपर के ही आदमी थे। मैं जब उन लोगों के बीच में कुतूहलवश खड़ा हुआ तब एक मोटे और नाटे कद के आदमी ने, जिसका रंग साँवला था और जो 'हिरन हिज', 'हिरन हिज' रटता हुआ अपनी बात पर स्वयं ही हँस रहा था, सहसा मेरी ओर देखकर बोल उठा, "तुम देखने में पण्डित लगते हो। बताते क्यों नहीं कि 'हिरन हिज' के माने क्या होते हैं?"

"मुझे नहीं मालूम," मैंने शान्त भाव से उत्तर दिया।

"हाः हाः हाः यह भी 'हिरन हिज' के माने नहीं जानता। यह सचमुच का पागल मालूम होता है। देखते नहीं इसकी आँखें। पागलों की तरह हर समय न जाने क्या सोचता रहता है। हिः हिः हिः हिरन हिज! हिरन हिज!"

एक दूसरा आदमी जो एक तौलिए को पगड़ी की तरह अपने सिर पर लपेटे हुए था, बोला, "दुनिया-भर के जितने पागल हैं सबको यहाँ इकट्ठा किया जा रहा है। यह अस्पताल है या पागलखाना! मैं आज डॉक्टर से शिकायत करूँगा।"

"हिरन हिज! हिरन हिज! क्या अँधेर है कि कोई भी इसके माने नहीं बता पाता! हिरन हिज! ही रैन इज—न, इसके भी कोई माने नहीं होते। डॉक्टर गधा है। उससे शिकायत करने से क्या होगा!"

"अबे 'हिरन' नहीं 'हरेन' होगा," एक तीसरा आदमी, जो तब तक दीवार के सहारे खड़े-खड़े अत्यन्त अस्पष्ट स्वर में कुछ गुन-गुना रहा था, सहसा आगे बढ़कर बोला। "मैं अच्छी तरह जानता हूँ इन बंगालियों को। इन्होंने सारी दुनिया में पागलपन फैला रखा है।"

"हिः हिः हिः! बौरा गए हो क्या? हिरन और हरेन में क्या फरक है यह क्या मैं नहीं समझता? हिरन हिज! अरे, यह कोई आसानी से समझ में आनेवाली बात नहीं है। बड़े-बड़े पण्डित हार मान चुके हैं। जिस दिन लोग इसके माने जान जायँगे उस दिन दुनिया ही उलट जायगी। हिरन हिज! हिरन हिज!"

इतने में एक गेरुआ वस्त्रधारी सज्जन, जो देखने में एक सुशिक्षित संन्यासी की तरह लगते थे, वहाँ आ पहुँचे। उनकी आयु चालीस पैंतालिस के बीच की लगती

थी। उनका गोर-वर्ण, स्वस्थ ललाट जैसे चमक रहा था। उनके सिर के और दाढ़ी के बाल एकदम काले और घुँघराले थे। सुन्दर और भावपूर्ण आँखों में स्निग्धशान्त शोभा झलक रही थी।

"कहो तिवारी, क्या हाल है तुम्हारा ?" बेंच पर बैठे हुए एक आदमी को लक्ष्य करके स्वामीजी ने कहा। वह आदमी नीचे की ओर मुँह किये एकदम मौन बैठा हुआ मन्द-मन्द मुस्करा रहा था।

स्वामीजी की आवाज और अपना नाम सुनकर उसने धीरे से अपना सिर ऊपर उठाया। "अटक गई !" उसने उत्तर दिया।

"और बब्बूसिंह, तुम ?" जिस व्यक्ति ने तौलिए से अपना सिर लपेट रखा था उसकी ओर देखकर स्वामीजी बोले। "तुम्हारा क्या हाल है ?"

"अरे हाल क्या है, सब बेहाल है। देखते नहीं, दुनिया-भर के पागल यहाँ जमा हो गए हैं। आज यह एक नया पागल आकर भरती हुआ है," कहते हुए उसने मेरी ओर उँगली उठाई !

उसकी उँगली का अनुसरण करते हुए स्वामीजी ने मेरी ओर देखा।

मैं मन्द-मन्द मुस्कराने लगा। स्वामीजी भी जैसे मेरी मुस्कान का अर्थ समझते हुए मुस्कराने लगे। "आप क्या दर्शक के रूप में यहाँ आए हैं ?" बड़े ही स्निग्ध स्वर में स्वामीजी ने मुझसे पूछा।

"जी नहीं, आपको सूचना ठीक ही दी गई है। मुझे शायद यहाँ इलाज के लिए भरती होना होगा।"

"ओह ! पर···" वह कुछ कहते-कहते रुक गए और ध्यान से मेरी ओर देखने लगे। उनकी आँखों मे कुछ-कुछ विस्मय का-सा भाव झलक रहा था।

"हिरन हिज ! हिरन हिज !" वही मोटा और नाटा आदमी बोल उठा। "स्वामीजी, कुछ पता लगाया आपने ? क्या कहती है उस ज्योतिषी की भिर्गु-संहिता ? कब उलटनेवाली है दुनिया ?"

"भृगु-संहिता कहती है कि कामेश्वरप्रसाद का जो हिरन उसे तंग किया करता था वह मर गया है और 'हिज' भी लापता है, इसलिए अब दुनिया भी नहीं उलटेगी, कामेश्वर भी अच्छा हो जाएगा और फिर पहले की तरह अपने फार्म की देख-भाल करने लगेगा।"

"हिः हिः हिः ! पागल है वह। हिरन हिज ! हिरन हिज ! और ठग भी।"

मैं वहाँ से लौटकर बाईं ओरवाले बरामदे की ओर मुड़ ही रहा था कि पीछे से किसी ने कहा, "सुनिए।"

मैंने मुड़कर देखा, वही स्वामीजी मन्द गति से चले आ रहे थे। मैं रुक गया। स्वामीजी ने मेरे निकट आकर बड़े ही प्रेम से मेरे बाएँ कन्धे पर हाथ रखा, जैसे बड़ी पुरानी घनिष्ठता रही हो उनसे मेरी। उसके बाद अत्यन्त स्निग्ध और शान्त स्वर में बोले, "आपने कुछ बताया नहीं कि आप किस कष्ट से पीड़ित होकर यहाँ पहुँच गए हैं।"

जिस व्यक्ति को जीवन में कभी पहले देखा तक न हो, वह आपकी इच्छा या अनिच्छा की तनिक भी परवा किये विना ही आपके गले पड़ जाय और आपके सम्बन्ध में अकारण कुतूहल दिखाने लगे, उसके प्रति एक प्रकार के विरोध या प्रतिरोध की भावना आपके मन में जगना स्वाभाविक है। मेरे मन में पहली प्रति-क्रिया कुछ इसी तरह की हुई थी। इच्छा हुई कि पूछूँ, "मैं चाहे किसी भी कष्ट से पीड़ित होकर यहाँ आया होऊँ, आपको इससे क्या वास्ता?" पर स्वामीजी के असाधारण व्यक्तित्व में मुझे कुछ ऐसी विशेषता दिखाई दी, जिसने मुझे बरबस रोका। मुझे लगा कि इस व्यक्ति के भीतर कुछ ऐसी बात है जो इसे बिना पूर्व-परिचय के भी मेरे कन्धे पर हाथ रखने और मेरे जीवन के गोपन-से-गोपन रहस्य के सम्बन्ध में भी प्रश्न करने का सहज अधिकार प्रदान करती है।

फिर भी मैंने बात को भरसक टालने का प्रयत्न करने के इरादे से कहा, "कोई ऐसी खास बात नहीं है, स्वामीजी। मेरा जी कुछ दिनों से अकारण ही उच्चाट हो जाया करता था और मन हर समय उड़ा-उखड़ा-सा रहता था, इसीलिए कुछ मित्रों ने मुझे इस मानसिक अस्पताल में भरती हो जाने की सलाह दी। पर मैं स्वयं ही इस प्रकार की सलाह मानने के पक्ष में नहीं हूँ। मैं यहाँ भरती होने नहीं, केवल जानकारी प्राप्त करने आया हूँ।"

"पर इस अस्पताल में भरती होने की सलाह कोई भी मित्र यों ही नहीं दे सकता," एक विचित्र रहस्यमयी मुस्कान मुख पर झलकाते हुए स्वामीजी बोले। दूसरा कोई आदमी होता तो उसके मुँह से इस तरह की बात विशुद्ध विद्वेष-भरे व्यंग्य के सिवा और कुछ नहीं लग सकती थी—विशेष करके जब वह इस तरह की रहस्यभरी मुस्कान में लपेटी हुई हो। पर मैं खोजने पर भी स्वामीजी के मुख की अभिव्यक्ति में विद्वेष का लेश भी न पा सका। विद्वेष न हो, पर उनकी बात

में व्यंग्य तो निहित था ही, इसलिए मैं भीतर-ही-भीतर कुछ खीझ अवश्य उठा।

"क्षमा कीजिएगा, मैं आप के प्रश्न का इंगित ठीक समझ नहीं पाया।"

"मैं कह रहा था कि आपके मित्रों ने जब यह तय किया कि आपको राँची के मानसिक अस्पताल में भेजना आवश्यक है, तब निश्चय ही उन्हें लगा होगा कि आपकी मानसिक स्थिति उन लोगों की दृष्टि में...आप समझ रहे हैं न मेरा आशय ?" और फिर वही रहस्यपूर्ण मुस्कान कुछ अधिक स्पष्टता से उनकी आँखों में चमक उठी।

मैं कह नहीं सकता कि उनके उस तीव्र और अयाचित व्यंग्य के बावजूद मेरा मन क्यों यह मानने को तैयार नहीं हो पाता था कि वह कारण-रहित विद्वेष से अछूता नहीं है। फिर भी इतना तो मैं निश्चय समझ गया था कि दुष्टता की कोई कमी उनके प्रश्न में नहीं थी। आश्चर्य सबसे अधिक इस तथ्य पर मुझे हो रहा था कि उस दुष्टता के कारण मैं ऊपरी मन से चाहे कितना ही क्यों न खीझ रहा होऊँ, पर भीतर-ही-भीतर मुझे वह प्रिय लग रही थी। मेरी अन्तःप्रज्ञा मुझे बता रही थी कि उनकी वह सारी दुष्टता जीवन के गहरे अनुभवों के तपन से निखरी हुई है, उनका व्यंग्य अन्तर्ज्ञान के गहन अवगाहन से परिष्कृत होकर बाहर निकला है।

उनकी बात के उत्तर में मैंने झेंप-भरी मुस्कान के साथ केवल सिर हिला दिया—यह जताने के उद्देश्य से कि उनका संकेत मैं बहुत-कुछ समझ गया हूँ।

हम दोनों धीरे-धीरे बातें करते हुए आगे को बढ़े चले जा रहे थे। बाईं ओर मुड़ने पर हम जिस बरामदे में पहुँचे वहाँ मैंने देखा कि एक स्त्री एक तिपाई पर बैठी हुई अपने घने और लम्बे बालों से अपना सारा मुँह ढके हुए, सिर झुकाए बैठी थी। ऐसी सफाई से उसने अपना मुँह ढक रखा था कि कहीं किसी छिद्र से भी मुख का तनिक भी भाग नहीं दिखाई देता था। बिना उसका चेहरा देखे हुए यह बता सकना कठिन था कि उसकी उम्र क्या होगी। वह सोलह साल की लड़की भी हो सकती थी और तीस साल की परिणत-यौवना भी। चूँकि उसके सभी बाल काले थे, इसलिए इस बात की सम्भावना कम थी कि वह अधेड़ हो। वैसे मैं जानता था कि केवल बालों के कालेपन से उम्र का अन्दाज लगाने में भ्रम की काफी गुंजाइश रहती है। वह एकदम स्थिर और निश्चल बैठी थी, जैसे किसी 'पेन्टोमाइम शो' के लिए उसने वह रूप धारण किया हो। अथवा जैसे किसी

आधुनिकतम चित्रकार की सजीव कृति हो। जाने क्यों, उसे देखकर मेरा हृदय दहल-सा उठा। स्वामीजी भी सहसा गम्भीर हो गए थे। उनके मुख का व्यंग्या-त्मक भाव असीम करुणा में बदल गया था। मेरी विस्मित और पीड़ित आँखों की प्रश्न-भरी दृष्टि का उत्तर देते हुए वह धीरे से बोले, "यह सामाजिक क्रूरता का एक अत्यन्त करुण उदारण है। एक छोटी-सी भूल के कारण उसके जीवन की सारी गति ही उलट गई, सारा चक्र ही बदल गया, जिसके फलस्वरूप वह अपने घर से और समाज से तिरस्कृत और बहिष्कृत होकर अपनी लज्जा और ग्लानि को छिपाने का कोई स्थान सारे विश्व-ब्रह्माण्ड में कहीं न पा सकी। एक दिन सन्ध्या के समय वह आत्महत्या के इरादे से एक तालाब में कूद गई। संयोग से एक आदमी ने उसे देख लिया। वह भी पानी में कूद गया और इसे उबारकर ऊपर ले आया। उसकी उचित परिचर्या करके वह इसे बचाने में सफल सिद्ध हुआ और एक पादरी के पास इसे ले गया। कुछ दिन इसे अपने पास रखने के बाद पादरी ने देखा कि यह अपना मानसिक सन्तुलन खो चुकी है। उसने इसे यहाँ भेजने की व्यवस्था कर दी। तब से यह बराबर इसी तरह हर समय बालों से अपना मुँह ढके रहती है।"

उसी बरामदे में कुछ आगे चलने पर मैंने देखा कि तीन स्त्रियाँ एक दरी पर बैठी हैं और उनके आगे एक हारमोनियम रखा है। तीनों ऊपर से देखने में बहुत प्रसन्न लगती थीं। उनमें एक लड़की ऐंग्लो-इण्डियन मालूम होती थी और दो हिन्दू। पता नहीं, तीनों हमारे आने के पूर्व आपस में क्या बातें कर रही थीं। निश्चय ही कोई ऐसी बात रही होगी जिसमें तीनों समान रूप से दिलचस्पी ले सकती थीं। हम दोनों जब उनके निकट पहुँचे तब वे चुप हो गईं, पर प्रसन्नता अभी तक उनकी आँखों में चमक रही थी। स्वामीजी ने एक लड़की से, जिसकी उम्र पचीस के करीब लगती थी और जो एक सादी किन्तु साफ साड़ी पहने थी और जिसके मुख की कालिमा के ऊपर माँग में सिन्दूर की गाढ़ी लालिमा सद्यस्फुटित रक्त-धारा की तरह दिखाई दे रही थी, कहा, "बीना, एक गाना सुनाओ।"

लड़की एक बार स्वामीजी की ओर और एक बार मेरी ओर देखकर खुलकर मुस्कराई और फिर बिना बहस के उसने हारमोनियम खींच लिया। एक अभ्यस्त नायिका की तरह सधे हुए हाथों की उँगलियों को हारमोनियम के परदे पर फेरती हुई झट से रवीन्द्रनाथ का यह गीत गाने लगी :

जदि वारण कोरो तबे गाहिबो ना
जदि सरम लागे मुखे चाहिबो ना
जदि तोमार नदी कूले भूले केऊ ढेऊ तुले
आमार तरणीखानि बाहिबो ना !

उसका गला आश्चर्यजनक रूप से सुन्दर था और वह भाव-मग्न होकर गा रही थी। उसके मुख का भाव धीरे-धीरे गम्भीर से गम्भीरतर होता चला जा रहा था। मैं मुग्ध भाव से सुन रहा था। सहसा मैंने देखा कि गाते-गाते उसकी आँखों से आँसुओंकी झड़ी लग गई। आँसुओं को बिना पोंछे ही वह गाती चली गई। जब स्वामीजी ने अत्यन्त कोमल और स्नेह-सने स्वर में उससे कहा, "बीना, बस अब बन्द करो, तुमने काफी गा लिया," तब उसने उसी क्षण गाना बन्द करके हारमोनियम अपने आगे से हटाकर धीरे से अलग रख दिया और अपने आँचल से आँसू पोंछने लगी।

उसके साथ जो दूसरी हिन्दू स्त्री बैठी थी उसकी उम्र पैंतीस के करीब लगती थी। वह बीना को दिलासा देती हुई बोली, "रोती क्यों हो ? गाना क्या रोने के लिए गाया जाता है ? हँसी-खुशी के लिए ही लोग गाते हैं। वह भकुवा अगर तुम्हें छोड़कर चला गया और उसने दूसरी शादी कर ली तो क्या हुआ ? तुम भी दूसरी शादी कर लो। तुम्हारा गाना सुनकर एक-से-एक सुन्दर जवान तुमसे शादी करने को दौड़ पड़ेंगे। औरत जात की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि उसके दिल में जल्दी रहम उमड़ आता है। उसे चाहिए कि दिल मजबूत करे और एक कोड़ा हर वक्त हाथ में लिये रहे। जब कोई मर्द कमीनेपन पर उतर आए तो मारे सटाक्-सटाक्-सटाक्-सटाक् !"

एंग्लो-इण्डियन लड़की खिलखिलाकर हँस पड़ी और बीना भी अपने साँवले मुँख के भीतर से संगमरमर से भी सफेद दाँत बाहर निकालकर पहले की ही तरह मुस्कराने लगी।

स्वामीजी ने मुझसे कहा, "चलिए तनिक बाहर घूमा जाय।" मैं चुपचाप उनके साथ हो लिया।

बाहर लॉन में बैठी हुई प्रायः पचास साल की एक अधेड़ स्त्री, जो गाउन के ऊपर एक सफेद दुपट्टा ओढ़े थी, मेजपोश की तरह के एक सफेद कपड़े पर बेल-बूटे काढ़ रही थी। "सलाम, मिस पवार," कहकर स्वामीजी ने उसका अभि-

वादन किया। "वाह क्या सुन्दर फूल काढ़ रही हो तुम !"

सचमुच फूल बहुत ही सुन्दर कढ़े हुए थे ! नीचे की ओर बाएँ सिरे पर गुलाब के फूलों का गुच्छा पत्तियों सहित काढ़ा गया था। फूल और पत्तियाँ दोनों वास्तविकता की अविकल प्रतिकृति लगते थे। "कपड़े पर ऐसा सुन्दर चित्र उतारनेवाली यह औरत भी पागल है ! आश्चर्य है !" मैंने मन-ही-मन कहा, "ठीक जिस तरह वैसा सुन्दर गाना गानेवाली वह जवान लड़की पागल है !"

"सलाम !" उस स्त्री ने सिर ऊपर उठाकर स्वामीजी का प्रत्यभिवादन किया और साथ ही एक विचित्र मुस्कान-भरी दृष्टि से एक झलक मेरी ओर देखा।

"तुम्हें तो मेरे फूल ही पसन्द हैं, मैं पसन्द नहीं हूँ," कहती हुई वह उसी विचित्र मुस्कान के साथ आधी दृष्टि से, स्वामीजी की ओर देख रही थी और आधी से मेरी ओर।

उसके मुस्कराने से उसकी दोनों आँखों के और गालों की उभरी हुई हड्डियों के नीचे रेखाएँ खिंच जाती थीं।

"तुम भी बहुत अच्छी हो, मिस पवार—बहुत ही भोली और बहुत ही भली," स्वामीजी ने स्नेह-घुले स्वर में कहा।

"तब मुझसे शादी क्यों नहीं करते ?" उसी मुस्कान के साथ, एक निराली ही अदा से आँखें नचाती हुई मिस पवार बोली।

"हम लोग साधु-संन्यासी हैं मिस पवार, हम लोग शादी नहीं करते।"

"तुम करोगे मुझसे शादी ?" सहसा पूरी दृष्टि से और उसी मुस्कान के साथ मेरी ओर देखती हुई वह अधेड़ नारी बोल उठी। "मैं सच कहती हूँ, शादी हो जाने पर मैं फिर तुम्हें छोड़कर और कहीं नहीं जाऊँगी और इसी तरह के फूल तुम्हारे लिए रोज काढ़ा करूँगी। बोलो करोगे मुझसे शादी ?" अन्तिम वाक्य कहते हुए उसकी मुस्कान अत्यन्त करुण हो उठी।

उसकी बातों से मेरे रोंगटे खड़े हो रहे थे। करुणा और आतंक की मिश्रित भावना ने मुझे मूक बना दिया था। मैं केवल स्तब्ध दृष्टि से उसकी ओर देखता रह गया। मेरी तरफ से स्वामीजी ने ही उत्तर दिया। बोले, "वह भी मेरी तरह है, मिस पवार। पर तुम शादी के लिए तनिक भी चिन्ता न करो। भगवान् तुम्हारे लिए शादी का प्रबन्ध कर रहे हैं। और—कौन जाने—तुम्हारी शादी एक दिन स्वयं भगवान् से हो जाय !"

"जाओ, तुमने फिर चुहल शुरू कर दी !" कहते हुए उसके मुख का प्रसन्न भाव फिर करुणा में बदल गया।

"नहीं, मैं चुहल नहीं करता," स्वामीजी ने गंभीर भाव से कहा। "भगवान् करुणामय हैं और उनकी लीला भी अपार है। इसलिए उनकी इच्छा से कुछ भी संभव हो सकता है। इसलिए दूसरी चिन्ताओं में अपने को भटकाने के बजाय तुम सब समय केवल उन्हीं का ध्यान करती रहो। एक दिन तुम्हारी मनोकामना निश्चय ही सफल होगी।"

इस बार मिस पवार मारे प्रसन्नता के खिलखिला पड़ी।

"अच्छा मिस पवार, सलाम, फिर मिलेंगे।"

"सलाम !" कहकर मिस पवार फिर अपने काम में लग गई।

स्वामीजी और मैं आगे की ओर बढ़े। कुछ दूर चलकर एक एकान्त स्थान में, इमली के पेड़ के नीचे हम दोनों बैठ गए।

"यह है मानव-जीवन," स्वामीजी ने लम्बी साँस खींचते हुए कहा। "न जाने कितनी आशाओं पर पानी फिरने, कितने अरमानों के कुचले जाने के बाद यह दशा हुई है इन मरीजों की !"

"अच्छा आप क्या सचमुच यह विश्वास करते हैं कि मानवीय आत्मा दुलहिन है और भगवान् दूल्हा के रूप में उसे वरण करने के लिए हर समय तैयार बैठे रहते हैं ?"

"नहीं, इस तरह की पौराणिक कथाओं पर मेरी कोई आस्था नहीं है," स्वामीजी ने व्यंग्य-भरी मुस्कान से कहा।

"तब आपने क्यों मिस पवार के मन पर एक गलत विश्वास जमाने का प्रयत्न किया ?" मेरे प्रश्न में खीझ का भाव दबा हुआ था।

सहसा स्वामीजी की मुख-मुद्रा गम्भीर हो उठी। अत्यन्त शान्त किन्तु भावपूर्ण स्वर में धीरे से बोले, "इसके सिवा उस पीड़ित और असंतुलित विचारोंवाली नारी को सान्त्वना देने का और क्या उपाय मेरे पास था ? आप देख ही रहे थे कि किसी विचित्र मनोभावना की शिकार बनी हुई है वह, जिसकी जड़ें उसके मन के किसी गहरे स्थान में जमी हुई हैं। न जाने कितने वर्षों से चौबीसों घण्टे, प्रतिपल यही एक रटन उसके मन पर छाई हुई है। आज पचास-पचपन वर्ष की उम्र में भी उस भावना की तीव्रता उसके भीतर वैसी ही बनी हुई है जैसी विफल जवानी के दिनों

में रही होगी। यह तो निश्चित है कि उससे शादी करने के लिए आज कोई तैयार नहीं हो सकता। और यह भी उतना ही निश्चित है कि अब मरते दम तक उसके मन पर से यह रटन कभी दूर न हो सकेगी। तब ऐसी हालत में यदि उसकी इस रटन को धार्मिक भावना में बदला जा सके तो यह सुन्दर भ्रम उसके मन में कुछ-न-कुछ सन्तुलन अवश्य ही ला सकेगा। मानसिक उपचार में कभी-कभी भ्रमपूर्ण विश्वासों का भी सहारा लेना ही पड़ता है।"

"तब आपका यह विश्वास है कि उसका यह रोग बहुत पुराना है?"

"हाँ। बड़ी ही करुण कथा है इसके जीवन की। इसकी माता कट्टर हिन्दू थी। इसके पिता भी कट्टर हिन्दू-परम्परा में बड़े हुए थे। पर बाद में सवर्ण हिन्दुओं की सामाजिक क्रूरता के कई प्रत्यक्ष उदाहरण सामने आने से उनका मन विद्रोही हो उठा और वह ईसाई बन गए। अपनी पत्नी के अनुनय-विनय और रोने-धोने पर तनिक भी ध्यान उन्होंने नहीं दिया। फल यह हुआ कि वह अपने समाज से बहिष्कृत हो गए। आठ-दस वर्ष की रही होगी तब यह। इससे दो साल बड़ा इसका एक भाई भी था। अपने जिन साथियों के साथ वे दोनों खेलते थे उन्होंने अपने घरवालों के सिखाने पर उन दोनों भाई-बहनों के साथ हिलना-मिलना, उठना-बैठना, खेलना-कूदना सब बन्द कर दिया। दूर ही से वे लोग उन्हें 'ईसाई! किरन्ट! अछूत!' कहकर चिढ़ाते थे। इधर उन बच्चों की माँ पति के विरोध के बावजूद हिन्दू धर्म के अनुसार पूजा-पाठ, व्रत-उत्सव और धर्म-कर्म में पहले से भी अधिक उत्साह से मन लगाने लगी। ईसाइयों के पड़ोस में रहने को बाध्य होने पर भी उन्होंने अपने बच्चों को ईसाई बच्चों से मिलने की सख्त मनाही कर दी। बच्चे सामाजिक और पारिवारिक विविध द्वन्द्वों के बीच में पिसने लगे। जब वे बड़े हुए तब उनकी माँ ने उनसे यह वचन ले लिया कि चाहे आजीवन अविवाहित रहना पड़े, किसी ईसाई परिवार में विवाह कभी नहीं करेंगे। फल यह हुआ कि न भाई ने कभी विवाह किया, न बहन ने। दोनों अजीब-सी कुण्ठित मनोवृत्ति से पीड़ित रहने लगे। माँ-बाप मर चुके थे। एक दिन भाई भी बिना कुछ कहे-सुने घर से भाग निकला और फिजी में जाकर बस गया। मिस पवार अकेली रह गई। माँ और बाप के बीच के विरोध और द्वन्द्व के कारण उसकी शिक्षा का भी कुछ ठीक प्रबन्ध नहीं हो पाया था। इसलिए जीविका का भी कोई साधन वह जुटा न सकी। एक दयालु ईसाई परिवार ने उसे अपने यहाँ रहने के लिए स्थान दे दिया। उन

लोगों के यहाँ काम करके वह किसी तरह अपनी गुजर करने लगी। पर माँ की बात बराबर उसके मन में बनी रही और किसी ईसाई से विवाह करने के लिए वह राजी न हुई। कोई हिन्दू भी उसके साथ विवाह के लिए तैयार न हुआ। फलतः वह अविवाहित बनी रही। बचपन से सामाजिक घृणा की पात्री बनी रहने, माता-पिता की मृत्यु और भाई के लापता हो जाने से अपने को अनाथ समझने के कारण और कुछ दूसरे कारणों से भी उसमें धीरे-धीरे मानसिक जड़ता आती चली गई। उस जड़ता की प्रतिक्रिया अन्त में इस रूप में हुई जिस रूप में अभी आपने उसे देखा है।"

"जो लड़की पहले हँस रही थी, फिर गाना गाने के बाद रोने लगी थी, उसके जीवन के इतिहास से भी आप परिचित होंगे?"

"विवाह होने के पूर्व वह एक दूसरे लड़के को चाहती थी। जब उसके माँ-बाप ने उसकी इच्छा के विरुद्ध एक दूसरे लड़के से, जिसने आई० सी० एस० की परीक्षा में अच्छा स्थान प्राप्त किया था, उसका विवाह कर दिया, तब वह अपनी अन्तर्भावना को पारिवारिक दबाव और सामाजिक अनुशासन की वेदी पर बलि चढ़ाकर अपने आँसुओं को बरबस पी गई। पर एक वर्ष पूरा होते-न-होते उसका आई० सी० एस० पति उससे उकता गया और उसे छोड़कर एक एँग्लो-इण्डियन लड़की के साथ जाकर रहने लगा। इधर जिस लड़के को बीना चाहती थी वह किसी कालेज में अध्यापक नियुक्त हो गया था। उसने विवाह ही नहीं किया। बीना को वह जिस शुद्ध हृदय से पहले चाहता था उसी सच्ची स्नेह-भावना से बाद में भी उसे चाहता रहा। बीच-बीच में वह बीना से मिलने—केवल उसे देखने—के लिए आता था और बिना अधिक बातें किये चला जाता था। बीना के पति ने और ससुरालवालों ने यह झूठी बदनामी फैला दी कि उस अध्यापक से बीना अनैतिक सम्बन्ध स्थापित किए हुए है। एक तो सामाजिक कारण से मन-चाहा पति न मिल पाना, दूसरे पति द्वारा परित्यक्त होना और तीसरे झूठी बदनामी का फैलना, इन तीन-तीन कारणों की सम्मिलित मार को बीना का भाव-प्रवण मन सहन न कर सका। उसके मस्तिष्क की नसों पर बहुत जोर पड़ने लगा। चौथा कारण इनसे भी विकट था। पति ने उस समय उसे त्यागा था जब वह गर्भवती हो चुकी थी। पति के छोड़ने के प्रायः सात महीने बाद उसने एक बहुत ही कम-जोर बच्चे को जन्म दिया। समाज की विद्वेष-जीवी जीभों ने यह विषैली अफ-

वाह फैला दी कि वह बच्चा अध्यापक का है। बीना अपने भोले और दुर्बल स्वभाव के कारण ठीक से आत्महत्या भी न कर सकी। एक बार मालिश के लिए घर पर रखा हुआ एक हलके ढंग का विष पीकर वह केवल अपनी तबीयत खराब करके रह गई, मरी नहीं। दूसरी बार गले में फाँसी लगाने के प्रयत्न में भी वह अनाड़ीपन के कारण नितान्त असफल रही। पाँचवें कारण ने पूर्णाहुति का काम किया। उसका कमजोर बच्चा, जिसका पालन वह अपनी अव्यवस्थित मानसिक स्थिति के कारण ठीक ढंग से नहीं कर पाई थी, एक दिन जाता रहा। जब तक वह नहीं मरा था तब तक वह स्वयं चाहती थी कि वह मर जाय। वह पूर्णतया निर्दोष होने पर भी अपने को कलंकिनी और उस निष्पाप बच्चे को अपने कलंक का कारण समझने लगी थी। दो-एक बार उसके हिस्टिरिया-ग्रस्त मन में किसी अज्ञात मनोवैज्ञानिक कारण से यह लहर उठी थी कि बच्चे को उठाकर खिड़की से बाहर फेंक दे, पर ऐसी भावना उठते ही वह फिर उसी क्षण सँभल जाती और बच्चे को दूने आवेग से चूमने लगती। जब बच्चा अपनी जन्मजात कमजोरी के कारण बीमार होकर एक दिन चल बसा तब बीना को लगा कि बच्चे के प्रति उसकी लापरवाही ही उसकी मृत्यु का प्रधान कारण है और वह अपने को हत्यारी समझकर अपनी छाती पीटने लगी। उसका मानसिक संकट बहुत बढ़ गया और अन्त में उसके चाचा ने—उसके पिता की मृत्यु हो चुकी थी—उसे यहाँ लाकर भरती कर दिया।

"आपको बीना के जीवन के विस्तृत इतिहास का पता कैसे लगा?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

"कुछ तो उसके चाचा ने बताया था, जब वह भरती कराने आए थे और कुछ स्वयं बीना ने। एक दिन जब उसका जी किसी कारण से कुछ हलका दिखाई देता था, किसी अज्ञात प्रेरणा से, वह मेरा संकेत पाकर मेरे आगे खुल पड़ी थी।"

"आपके स्वभाव से ऐसा लगता है कि आप इस अस्पताल के बहुत से पुरुष रोगियों के जीवन-इतिहास से भी अवश्य ही परिचित होंगे," मैंने कहा।

"जहाँ स्त्री-रोगिणियाँ अधिकतर दाम्पत्य-जीवन-सम्बन्धी कारणों से मानसिक सन्तुलन खोए बैठी हैं वहाँ पुरुष रोगी अधिकांशतः आर्थिक कारणों से दिमाग की बीमारी से पीड़ित दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए 'हिरन हिज! हिरन हिज!' रटते रहनेवाले व्यक्ति का 'केस' लीजिए। बंगाल के अकाल के अवसर पर चावल

के चोर-बाजारियों के साथ मिलकर संयुक्त कारोबार द्वारा उसने लाखों रुपया कमाया था। उसके बाद भी उसने बड़े ही अन्यायपूर्ण तरीकों से रुपया कमाया था। उसने दरभंगा जिले में एक बहुत बड़ा फार्म खरीद लिया। अपने असामियों को वह बहुत परेशान किया करता था; उनके साथ अमानुषिकता से पेश आता था। प्रकृति ने उससे जल्दी ही बदला ले लिया—जब कि साधारणतः वह देर से बदला लेती है। उसका एक जवान लड़का एक दिन अचानक दिल की धड़कन बन्द होने से मर गया। दूसरा लड़का जिसे उसने फार्म की व्यवस्था सौंप रखी थी, ऐयाश निकल आया और बाप की पाप की कमाई में उसने ऐसा गुप्त छेद करना शुरू कर दिया कि पता नहीं चल पाता था कि कहाँ से रुपया निकलता चला जा रहा है। जिन-जिन व्यापारों में उसने रुपये लगा रखे थे उन सबमें मन्दी आ गई और बेहद घाटा होने लगा। मन खराब हो जाने से वह फार्म की देख-रेख ठीक से न कर सका, फलस्वरूप वह भी चौपट होता चला गया। फार्म को सँभालने के लिए एक बड़ी रकम की जरूरत थी। जितनी नकदी थी उसे लड़का तीन-तेरह कर चुका था। सारा कारोबार बिगड़ जाने पर अब कहीं से कर्ज भी नहीं मिल पाता था। एक दिन सहसा पता चला कि जितने का फार्म नहीं था उतने से ज्यादा रुपयों का कर्जा फार्म पर चढ़ चुका है। यह सब उस ऐयाश लड़के की लापरवाही, कुप्रबन्ध और खर्चीली आदतों के कारण हुआ। लड़का सब-कुछ समाप्त करके एक दिन भागकर कलकत्ता चला गया और अन्त में एक दिन यह समाचार मिला कि कलकत्ता में ही उसने आत्महत्या कर ली है। यह आखिरी धक्का 'हिरन हिज' के लिए असहनीय सिद्ध हुआ और परिणाम आपने देख ही लिया है।"

"अच्छा, वह जो हर समय 'हिरन हिज', 'हिरन हिज' रटता जाता है इसके पीछे भी कोई इतिहास है क्या ?"

"होगा," इस बार अत्यन्त उदासीनता से स्वामीजी बोले। "इतनी सब बातों का पता मुझे नहीं है। पर वह एक लक्षण है, कारण नहीं।"

इसके बाद कुछ देर तक हम दोनों मौन बैठे रहे। सहसा मैं बोल उठा, "आपसे इतनी बातें हुईं, पर असली बात तो रह ही गई।"

"क्या ?"

"आपने यह नहीं बताया कि आप कैसे यहाँ चले आए, कितने दिन से और

क्यों यहाँ पड़े हुए हैं ?"

स्वामीजी की जो मुखमुद्रा किसी कारण से गम्भीर होने लगी थी उसमें फिर धीरे-धीरे एक व्यंग्य-भरी मुस्कान खेलने लगी। उसके बाद फिर उसी क्रम से उनके मुख पर का व्यंग्य-भाव विलीन होता चला गया और एक पीड़ा-भरी भावपूर्ण अभिव्यंजना उनके मुख पर छा गई। अत्यन्त शान्त किन्तु धीमे स्वर में बोले, "मैं प्रायः डेढ़ साल से यहाँ भरती हुए रोगियों की सेवा का व्रत लिये हूँ।"

"यह तो मैं देख ही रहा हूँ," मैंने कहा, "पर मैं जानना यह चाहता था कि आप किस हैसियत से यह सेवा-कार्य करते हैं ? जहाँ तक मैं समझता हूँ, इस अस्पताल के 'स्टाफ' से आपका कोई सम्बन्ध नहीं है।"

"आपने ठीक ही समझा है; मैं इस अस्पताल का कोई कर्मचारी नहीं हूँ," कहते हुए स्वामीजी की मुस्कान में फिर व्यंग्य उभर उठा।

"तब आप कैसे और कहाँ से इस अस्पताल में पहुँच गए ? क्योंकि आप कोई मरीज भी नहीं हैं।"

"मरीज हूँ भी और नहीं भी," उसी रहस्य-भरी मुस्कान के साथ स्वामीजी बोले।

"मैं समझा नहीं। क्या आप अपनी बात तनिक और स्पष्ट करने की कृपा करेंगे ?"

"आपके मनमें जब इस हद तक मेरे सम्बन्ध में कुतूहल बढ़ गया है तब सुनिए..." सहसा स्वामीजी के मुख पर से मुस्कान इस तरह गायब हो गई, जैसे उसका कभी अस्तित्व ही न रहा हो। "किस्सा तनिक लम्बा है, आपको धीरज रखना होगा।"

"जब मैं नवयुवक था तभी से मेरे मन में वैराग्य की भावना धीरे-धीरे जमने लगी थी," स्वामीजी कहते चले गये। "मेरे पिताजी मध्यप्रदेश की एक काफी बड़ी रियासत के मालिक थे। सामन्ती-युग की सभी अच्छी-बुरी प्रवृत्तियाँ उनमें कूट-कूटकर भरी थीं। असामियों के प्रति उनके अत्याचार की विचित्र कहानियाँ चारों ओर फैली हुई थीं, जो समय-समय पर मेरे सुनने में आती थीं। सुन-सुनकर

मेरे मन में दुःख, ग्लानि और विद्रोह की भावनाएँ जमने लगती थीं। मैं अपने माँ-बाप का इकलौता बेटा था, इसलिए बचपन ही से बड़े लाड़-प्यार से पाला गया था। जो नौकर-चाकर हर समय मेरी सेवा में रहते थे उनसे मैंने दादा-भाई का-सा सम्बन्ध स्थापित कर रखा था, इसलिए वे मुझसे डरते नहीं थे, बल्कि मेरे आगे अपने दुःख-सुख प्रकट करते रहते थे। वे ही लोग पिता के अत्याचारों की कहानियाँ भी समय-समय पर दबी जबान से मुझे सुनाया करते थे। सुनकर मैं बहुत बेचैन हो उठता। मेरे अबोध मन में उन लोगों के प्रति दया और अपने पिता के विरुद्ध घृणा की भावना उमड़ने लगती थी, पर सामाजिक और पारिवारिक बन्धनों में मैं इस कदर बँधा हुआ था कि मन-ही-मन कुढ़ते रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाता था। शैशव पार करके मैं ज्यों-ज्यों बड़ा होता चला गया त्यों-त्यों वे बन्धन मुझे अधिकाधिक तीव्रता से काटने लगे। जब मैं प्रायः बीस वर्ष का हुआ तब मेरे लिए विलासिता के साधन जुटाते रहनेवाले व्यक्तियों की कोई कमी मुझे नहीं दिखाई दी। कुछ समय तक मैं बुरी तरह विलासिता में डूबा रहा, पर शीघ्र ही प्रतिक्रिया आरम्भ हुई और किसी भी प्रकार के विलास या मनोरंजन के साधन में मुझे कोई दिलचस्पी न रह गई। एक बार मेरे एक चचेरे भाई के षड्-यन्त्र से मुझे विष पिलाने का प्रबन्ध किया गया। यदि मेरे एक विश्वासी नौकर को ऐन मौके पर उस षड्यन्त्र की सूचना न मिल गई होती तो मैंने निश्चय ही विष पी लिया होता और इस धराधाम से मेरा अस्तित्व ही एकदम लुप्त हो गया होता। अपने चचेरे भाई से मेरा कोई वैर नहीं था। मैं हृदय से उसे चाहता था और प्रकट में मेरे प्रति उसका व्यवहार स्नेहपूर्ण ही लगता था। बाद में पता लगा कि उसके कुछ साथियों ने उसे यह सिखा-पढ़ाकर भड़का दिया था कि मेरी हत्या करके, मेरे पिता को निःसन्तान अवस्था में छोड़ने पर उनके बाद गद्दी का हक-दार वही हो जायगा। बाद में वह मेरे पाँव पकड़कर बहुत रोया था और मारे ग्लानि के आत्महत्या करने पर उतारू हो गया था। मैंने उसे बहुत समझाया-बुझाया और फिर पहले की ही तरह उसे भाई का सच्चा प्यार देने का प्रयत्न किया, पर उस घटना के बाद मैं चाहने पर भी उसे सच्चा प्यार न दे सका। सारे रिया-सती षड्यन्त्रों से मैं उकता गया और एक दिन किसी को कुछ न बताकर मैं घर से भागकर बाहर निकल पड़ा।

"कुछ दिन तक इधर-उधर निरुद्देश्य भटकता रहा। इतने दिनों तक एक

विशेष ढंग के जीवन का अभ्यास बना हुआ था। उसके छूटने पर प्रारम्भ में कुछ कठिनाई का अनुभव मुझे अवश्य हुआ, पर जल्दी ही मैंने नई स्थिति की आदत डाल ली। अन्त में एक दिन जब मैं हरिद्वार पहुँचा तब एक बाबा से मेरी भेंट हो गई। ऋषिकेश तपोवन के पास ही बाबा का आश्रम था। वहाँ वह अपने पाँच शिष्यों के साथ रहते थे। मेरे अनुरोध करने पर उन्होंने मुझे छठे शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया। बाबा निःसन्देह बहुत बड़े पण्डित थे। भारतीय वेद-वेदांग, धर्म, दर्शन और साहित्य-सम्बन्धी उनका ज्ञान अगाध था। उन्होंने अपने दूसरे शिष्यों की तरह मुझे भी इन सभी विषयों में शिक्षित करने का निश्चय कर लिया। प्रायः छः वर्ष मैं उनके साथ रहा। इन छः वर्षों में उन्होंने मुझे भारतीय सांस्कृतिक परम्परा-सम्बन्धी सभी विषयों में पारंगत बना डाला। मुझसे वह बहुत प्रसन्न रहते थे और बड़े-बड़े गम्भीर विषयों में मुझसे तर्क करने में उन्हें विशेष सुख मिलता था। अपने दूसरे शिष्यों को वह जड़बुद्धि बताया करते थे और मेरी बुद्धि की तीव्रता की प्रशंसा अक्सर करते रहते थे। उनके शिष्यों की संख्या निरन्तर बढ़ती चली जाती थी और उन सब की समुचित व्यवस्था एक समस्या हो उठी थी। सातवें वर्ष बाबा की मृत्यु हो गई। वह मरने के पहले मुझे अपना उत्तराधिकारी चुन चुके थे। फलतः मेरे ऊपर आश्रम की देख-रेख, गुरुभाइयों और नए छात्रों के अध्यापन और रहन-सहन का भार आ पड़ा। प्रारम्भ में मुझे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बाद में एक बार एक सेठ मेरे यहाँ आए और आश्रम में ऊँचे स्तर की शिक्षा की व्यवस्था, प्राचीन भारतीय आदर्श का अनुगमन और अनुशासन देखकर वह बहुत प्रभावित हुए। मैंने जब उनसे आर्थिक कठिनाई का उल्लेख किया तब उन्होंने एक काफी बड़ी रकम आश्रम के नाम कर दी। इस प्रकार आर्थिक असुविधा दूर होने पर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। धीरे-धीरे आश्रम की चर्चा दूर-दूर तक फैल गई। छात्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई। मैं और मेरे गुरुभाई पहले ही से अध्यापन का काम करते थे, बाद में कुछ अध्यापक, जो हमी लोगों की तरह संन्यासव्रत लिये हुए थे, और आ जुटे।

"नये अध्यापकों में एक महाशय ऐसे थे, जिनका व्यक्तित्व भी प्रभावशाली था और तथाकथित 'पाण्डित्य' में भी कोई कमी नहीं थी। हिन्दूधर्म और हिन्दू-संस्कृति के सम्बन्ध में वह अपना एकदम स्वतन्त्र मत रखते थे। वह बड़े महत्त्वाकांक्षी थे। प्रारम्भ ही में उनकी बातों से मुझे यह आभास मिलने लगा था कि

हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति की विशेषता के सम्बन्ध में उनका एक निजी दृष्टिकोण है और अपने कुछ चुने हुए शिष्यों का एक दल संगठित करके हिन्दू धर्म के उस संकीर्ण और साम्प्रदायिक, किन्तु इस देश की मूर्ख जनता के लिए आकर्षक रूप का प्रचार वह सारे देश में करना चाहते हैं। कुछ समय तक वह मुझे भी अपने मत में परिवर्तित करने का प्रयत्न करते रहे। पर जब उन्होंने देखा कि मैं भारतीय संस्कृति की महानता का कायल बिलकुल भिन्न कारणों से हूँ और उसके साम्प्रदायिक रूप में मुझे तनिक भी दिलचस्पी नहीं है, तब वह मुझसे कतराने लगे। उन्होंने सीधे सेठजी के पास जाकर उन्हें पट्टी पढ़ाना आरम्भ कर दिया। सेठजी को अपनी मुट्ठी में करने में उन्हें तनिक भी देर न लगी। सेठजी भी समझ गए कि उनके मन के अनुकूल व्यक्ति उनसे अच्छा उन्हें दूसरा नहीं मिल सकता। फल यह हुआ कि धीरे-धीरे सारे आश्रम के हर्ता-कर्ता वही नये स्वामीजी बन गये। मेरे गुरु-भाई भी धीरे-धीरे उन्हीं के चंगुल में आ गए। स्वामीजी इस बीसवीं शताब्दी में से ब्राह्मण्य धर्म और वर्णाश्रम की पुनःप्रतिष्ठा करना चाहते थे। वह घर-घर में मन्दिरस्थापना, गो-ब्राह्मणों की सेवा, पूजा-पाठ, हवन-कीर्तन और अछूतों के दमन का स्वप्न देख रहे थे। जब मैंने 'हिन्दूधर्म के पुनरुद्धार' के उद्देश्य से स्वामीजी और सेठजी का यह अपूर्व सम्मिलन और सहयोग देखा तब उस आश्रम में अपनी कोई उपयोगिता न देखकर एक दिन मैं चुपचाप वहाँ से चल दिया।

"कुछ समय तक इधर-उधर भटकते रहने के बाद मुझे संवादपत्रों द्वारा यह सूचना मिली कि हमारे सेठ-पूजित स्वामीजी अब इस देश की अन्ध-विश्वास धार्मिक जनता के लिए 'देशमान्य' नेता बन चुके हैं। मैंने एक लम्बी साँस खींची। धीरे-धीरे मैंने देखा कि स्वामीजी अपनी 'धर्मपरायणता' को राजनीतिक अस्त्र के रूप में व्यवहृत करने लगे हैं। देश में जो अशिक्षांधकार छाया हुआ था, लाखों-करोड़ों आदमी बेकारी से परेशान थे, सर्वत्र अन्न-वस्त्र के लिए जो हाहाकार मचा हुआ था, उसकी तनिक भी चिन्ता स्वामीजी को नहीं थी, क्योंकि इन सब बातों का 'धर्म' से कोई सम्बन्ध न था। स्वामीजी तो 'धर्म' की ग्लानि होने पर फिर नये सिरे से इस देश में 'धर्म' की संस्थापना के लिए अवतरे थे, इसलिए जगह-जगह मन्दिरों का निर्माण हो रहा था, स्थान-स्थान में हरि-कथा हो रही थी, घर-घर में कीर्तन-भजन हो रहे थे और आश्रम-आश्रम में हवन के सुगन्धित धुएँ से अन्धकार छा रहा था। धार्मिक मेलों के प्रति जनता का उत्साह बढ़ता चला जा रहा था और

गंगा-स्नान का पुण्य लूटनेवालों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जा रही थी। इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती थी। इस तरह स्वामीजी और उनके द्वारा प्रचारित धर्म की जय-जयकार के नीचे अन्न-वस्त्र-पीड़ित जनता का हाहाकार एकदम दबा जा रहा था।

"ये सब ढंग देखकर मुझे संवादपत्रों द्वारा प्रचारित प्रसिद्धि से एकदम घृणा हो गई। मैंने चुपचाप देहाती जनता के बीच में जाकर अपनी शक्ति और समर्थता के अनुसार निरक्षरों के शिक्षण का व्रत ले लिया। बीच-बीच में अकाल, महामारी आदि सामूहिक कष्टों के अवसरों पर कुछ स्वयंसेवकों के साथ पीड़ितों के सेवा-कार्य में भी हाथ बँटा लेता था। बीच-बीच में जब कोई सहृदय और समझदार व्यक्ति मिल जाते तब उनके आगे धर्म के सच्चे रूप के सम्बन्ध में अपने सुस्पष्ट विचार और अन्तर की यथार्थ भावना भी व्यक्त कर दिया करता। वे विचार किसको अच्छे लग रहे हैं और किसको नहीं इस बात की तनिक भी परवा मैं न करता।

चूँकि मैं अपनी बातचीत में साम्प्रदायिक और सांस्कारिक धर्म को तनिक भी प्रश्रय न दे पाता, इसलिए एक विशेष वर्ग मुझसे बहुत नाराज रहने लगा और धीरे-धीरे मेरे विरुद्ध उस देहाती क्षेत्र की भोली जनता को भड़काया जाने लगा जहाँ मैं शिक्षण-कार्य करता था। यह प्रचारित किया जाने लगा कि मैं अ-धार्मिक हूँ और नास्तिकता की भावना फैलाकर अनाचार और अनैतिकता का प्रचार करता हूँ। मेरे न चाहने पर भी कुछ लोग मेरे उपदेश सुनने के लिए प्रति-दिन मेरी कुटिया में संध्या के समय जुट जाया करते थे; उनमें पुरुष भी होते और स्त्रियाँ भी। मैं उन लोगों को कभी कृष्ण द्वारा प्रचारित कर्म-योग का तात्पर्य सरल व्याख्या के साथ देहाती भाषा में सुनाता और कभी औपनिषदिक धर्म का तत्त्व भी उसी देहाती शैली में समझाने का प्रयत्न करता। कहना न होगा कि गीता और उपनिषदों की वह व्याख्या मेरे अपने दृष्टिकोण के अनुसार, जैसा कि अपनी बुद्धि से उन्हें समझ पाया था, होती थी। इसी प्रकार रामायण, महाभारत और पुराणों की व्यवस्था भी मैं अपने ढंग से करता था। लोग प्रेम-पूर्वक सुनते थे, सुनकर प्रसन्न होकर घर लौट जाते थे और दूसरे दिन फिर चले आते थे।

"पर एक विशेष दल के विरोधी प्रचार के फलस्वरूप धीरे-धीरे लोगों का आना-जाना कम होने लगा। मुझे इस बात से कोई विशेष दुःख नहीं हुआ। पर

एक दिन मेरे समान शान्त और धीर-प्रकृति व्यक्ति का भी चित्त अशान्त हो उठा। मेरा एक अनुगत बहुत घबराया हुआ मेरे पास आया और काँपती हुई आवाज में बोला कि एक विशेष स्त्री के साथ (जिसका नाम उसने लिया) मेरे अनुचित सम्बन्ध की बात मेरे विरोधी दल द्वारा आस-पास के गाँवों में फैलाई जा रही है। सुनकर मेरा कलेजा धक् से रह गया। मैं अपने लिए उतना चिन्तित नहीं हुआ जितना उस निरीह और निश्छल हृदय नारी के लिए, जिसका नाम मेरे शिष्य ने लिया था। वह एक भोली विधवा युवती थी। दूसरे बहुत से लोगों की तरह वह भी अक्सर मेरे उपदेश सुनने के लिए मेरे यहाँ आया करती थी। मेरे लिए जैसी ही दूसरी स्त्रियाँ थीं, वैसी ही वह भी थी। हो सकता है कि वह मुझे विशेष भक्ति-भाव से देखती रही हो, पर इस बात की ओर मेरा ध्यान कभी नहीं गया, क्योंकि मुझे यह जानने की कभी कोई आवश्यकता नहीं रही कि कौन मुझे अधिक मानता है और कौन कम। पर जब अचानक मैंने सुना कि मुझे जलील करने के उद्देश्य से उस निरपराध नारी पर एकदम निराधार लांछन लगाया जा रहा है, तब मैं आतंकित हो उठा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि झूठी बदनामी पहले दूसरे गाँवों में फैलाई गई थी, उस गाँव में नहीं जहाँ वह स्त्री और मैं दोनों रहते थे। क्योंकि जिस गाँव में हम दोनों रहते थे वहाँ निकट से देखते रहनेवाले लोग एकदम से इस मिथ्या आरोप पर विश्वास न कर पाते। अक्सर देखा गया है कि निन्दकों की मनोवैज्ञानिक बुद्धि बड़ी प्रखर होती है। बाद में जब वह अफवाह दूसरे गाँवों से फैलती हुई उस विशेष गाँव में पहुँची तब प्रारम्भ में कुछ समझदार और सयाने लोगों ने उसे असत्य बताकर उसका खण्डन किया, पर चूँकि दूसरे गाँवों में उस पर सत्य की मुहर लगा दी जा चुकी थी, इसलिए धीरे-धीरे उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव उस विशेष गाँव के अविश्वासी लोगों पर भी पड़ने लगा। फल यह हुआ कि उस असहाय नारी पर उसके 'रखवालों' द्वारा बुरी मार पड़ी और उसे सीमातीत रूप से जलील किया गया। उसके बाद मेरे और मेरे मित्रों के विरोध का कोई प्रभाव गाँव की जनता पर न पड़ सका और गाँववालों ने हमें बहिष्कृत कर दिया। इसके बाद उसी गुप्त विरोधी दल ने एक और षड्यन्त्र रचा जिसने मेरी 'चरित्र-हीनता' पर मुहर लगा दी।" कहते हुए स्वामीजी अत्यन्त करुण भाव से मुस्कराए। "किसी दूसरे गाँव की एक परित्यक्ता और सम्भवतः पतिता नारी को सिखा-पढ़ाकर एक दिन उन

लोगों ने मेरे पास भेज दिया। उसकी गोद में एक दूध-पीता बच्चा था। उसने मेरे पास आकर रोते-पीटते और चीखते-चिल्लाते हुए यह कहना शुरू किया कि वह बच्चा मेरा है और मैंने उसका चरित्र नष्ट करके उसे त्याग दिया है। मैंने उसके पहले उसे कभी देखा तक न था। देखते-देखते कई लोग इकट्ठा हो गए और गाँव में बड़ा शोर हो गया। मैंने अत्यन्त मार्मिक दृष्टि से एकटक उसकी ओर देखते हुए कहा, 'भोली नारी, अज्ञान के पथ पर भटककर तुम अपना भविष्य भी नष्ट करने जा रही हो!' वह सहम गई और सहसा गायब हो गई।

"मित्रों से विदा होकर मैंने वह गाँव छोड़ दिया। निरुद्देश्य और अनमने भाव से एक स्थान से दूसरे स्थान में भटकता हुआ मैं प्रयाग क्यों और कैसे पहुँच गया, यह स्वयं नहीं जानता। वहाँ कुम्भ के लिए माघ-मेले की विशेष तैयारियाँ हो रही थीं। संगम पर लाखों आदमियों के जमघट के लिए विराट् आयोजन हो रहे थे। अधिकारी वर्ग प्रचार द्वारा इस बात के लिए विशेष प्रयत्न कर रहा था कि अधिक-से-अधिक संख्या में उस अवसर पर लोग संगम पर आकर जुटें और पुण्य-लाभ करें। प्रारम्भ में बाहर से आनेवाले यात्रियों को हैजे का टीका लगाने और मेला-कर देने के लिए विवश किया जा रहा था, पर बाद में दोनों बन्धनों से यात्रियों को मुक्त कर दिया गया। एक तो कुम्भ का अवसर, दूसरे यह प्रचारित किया जाना कि यात्रियों के लिए बहुत अच्छा प्रबन्ध किया गया है और देश के बड़े-बड़े नेता लोग भी उस अवसर पर स्नान द्वारा पुण्य-लाभ के लिए प्रयाग आ रहे हैं और तीसरे सभी प्रकार के बन्धनों का हटाया जाना, इन सम्मिलित कारणों से यात्रियों का मेला दिन-पर-दिन बढ़ता चला जा रहा था। मैंने भी झूसी की तरफ एक कुटिया में डेरा डाल दिया—पुण्य-लाभ के लिए नहीं, बल्कि मेला देखने के लिए। देशभर के भोजनभट्ट अकर्मण्य नागा साधु वहाँ आकर जुट गए थे। अनेक धार्मिक संघों ने संगम पर अपने-अपने झंडे गाड़ दिए थे। सभी झोपड़ियाँ कल्पवासियों द्वारा भर गई थीं। दिन-रात हरि-भजन, कीर्तन, कथावाचन और धार्मिक भाषणों का अटूट क्रम चलता रहता था। बड़ी चहल-पहल मची हुई थी। मैं मिथ्या-कलंक की जो ग्लानि लेकर आया था उसे उस आन्दोलन के बीच में कुछ भूलने-सा लगा था।

"अन्त में वह महादिन आ ही पहुँचा जिसके लिए महीनों से आयोजन और प्रचार हो रहा था। पचास लाख से अधिक जनता की भीड़ चारों ओर से

महा-जनसागर की तरह उमड़ पड़ी। जिधर दृष्टि जाती थी उधर चलते-फिरते नरमुण्ड-ही-नरमुण्ड दिखाई देते थे। मैं किसी तरह एक कोने में कीचड़-स्नान करके अपनी कुटिया में लौटा ही था कि सहसा चारों ओर से हाहाकार का महा-भैरव-रव सुनाई दिया। आसपास के लोगोंसे कारण पूछने पर भी काफी देर तक कुछ पता न लग सका। बाद में सुना कि हजारों आदमी कुछ ही क्षणों के भीतर कुचलकर मर गए हैं। सहसा इस विकटरूप से और इतने कम अरसे में कुचले जाने का क्या कारण आ गया, जब यह जानना चाहा तब तरह-तरह की बातें सुनने के बहुत देर बाद यह पता लगा कि एक ओर नागा लोगों की और दूसरी ओर नेता लोगों की सवारी जा रही थी। भीड़ से नेताओं की रक्षा के लिए घुड़-सवार पुलिस ने बाँध से आते हुए महा-जनप्रवाह को सहसा रोक दिया। लोगों के कुचलकर मरने का यही कारण था। घटना के काफी देर बाद मैं भीड़ को चीर उस स्थान तक पहुँच पाया जहाँ एक सिरे से दूसरे सिरे तक मृतकों की कतार लगी हुई थी।

"दूसरे दिन जो सरकारी सूचना छपी उसके अनुसार हजार नहीं कुछ ही सौ आदमी कुचल कर मरे थे। पर कुछ ही सौ हों या हजार, मैं सोचने लगा कि इतने आदमियों के मरने की आवश्यकता क्या आ पड़ी थी? किस महाविश्वास की इतनी बड़ी शक्ति थी जो देहातों के इतने आदमियों को यात्रा के अपार कष्ट झेल-कर, अनेक कष्टों से संचित टूटी पूँजी को गंगा में बहाने की प्रेरणा देकर, इस दुर्गति के साथ कुचले जाने के लिए यहाँ घसीट लायी? क्या गंगास्नान का सचमुच इतना बड़ा महत्त्व है? और उस महत्त्व का लाभ केवल एक विशेष अवसर पर पचास-साठ लाख की भीड़ के बीच में कुचले जाकर और भीड़ द्वारा गँदला किये गए पानी में नहाकर ही उठाया जा सकता है? जब भीड़ नहीं रहेगी तब नहाने से वह महत्त्व नष्ट हो जाता है? अवश्य यही बात होगी, अन्यथा इतने बड़े-बड़े प्रगतिशील नेतागण इस विशेष अवसर पर ही क्यों पुण्य लूटने की लालसा से चले आये? जब विद्वान् नेताओं का यह विश्वास है तब अपढ़ देहाती जनता से भिन्न विश्वास की आशा कैसे की जा सकती है?

"इस तरह के विचार मेरे मन में उठने लगे। इस विराट् देश की धर्मपरा-यणता का इतना बड़ा उदाहरण प्रत्यक्ष देखकर मुझे पुलकित होना चाहिए था, पर हो नहीं पाता था। आप कहेंगे कि मेरे पुलकित न हो सकने का कारण इतनी बड़ी

दुर्घटना थी। पर मैं कहता हूँ कि यदि मैं सचमुच में 'धर्मपरायण' होता तो उस दुर्घटना को भी इस रूप में लेता कि धर्म के लिए जान-बूझकर सहर्ष अपनी बलि देना इस देश की विशेषता बराबर रही है और जन-महासागर के बीच में कूदकर इतने लोगों ने अपनी बलि देकर महापुण्य लूटा है। या इस रूप में इस तथ्य को ग्रहण करता कि गंगामैया किसी महान् उद्देश्य से इतने लोगों की बलि चाहती थी, इसलिए इतनी बड़ी बलि का फल निश्चय ही महान् होगा। पुराने जमाने के लोग ऐसे अवसरों पर इसी तरह सोचा करते थे। जान-बूझकर, धार्मिक कारणोंसे गंगा को बलि चढ़ाए जाने के उदाहरणों की कोई कमी इस देश के धार्मिक इतिहास में नहीं पाई जायगी। आज भी इस तरह से सोचनेवालों की कमी नहीं है; पर विश्वास की कमी होने के कारण मैं इस तरह नहीं सोच पाता था।

"अधिक-से-अधिक आदमियों को संगम के तटपर खींचने का आयोजन महीनों पहले जब सब-कुछ जान-बूझकर किया गया था तब बलि तो हर हालत में चढ़नी ही थी, क्योंकि यदि इतने आदमी कुचल कर न मरे होते तो मेले की अन्तिम स्थिति में और उसके बाद इससे दसगुना अधिक आदमी हैज़े से मरते।

"तब जिस धार्मिक उद्देश्य से इतनी बड़ी बलि का खतरा उठाया गया, जिसे इतने बड़े-बड़े नेताओं का सहयोग और समर्थन प्राप्त हुआ, उसकी उपयोगिता कहाँ पर है, यह प्रश्न रह-रहकर मेरे मन को कुरेदने लगा। क्या उससे कोई आध्यात्मिक लाभ जनता ने उठाया या कोई महान् राष्ट्रीय या सामाजिक हित उससे हुआ? भीड़ में कुचलकर लाखों आदमियों के शरीर की धोवन से शुद्ध जल में नहाकर कौन-सा आध्यात्मिक ज्ञान या आत्मिक तृप्ति लेकर जनता लौटी, यह बात मेरी समझ में नहीं आ पाई। और राष्ट्रीय या सामाजिक हित की बात तब सोची जाती जब उस सामूहिक पुण्य-स्नान द्वारा देशव्यापी बेकारी और अन्न-वस्त्र के अभाव से पीड़ित जनता के हाहाकार में कुछ कमी आई होती। मैं सोचने लगा कि अन्ध-धार्मिक विश्वास की जो महाशक्ति इतनी विशाल जनता को संगम में खींच लाई उसे यदि उपयुक्त दिशाओं की ओर परिचालित किया गया होता तो उसके द्वारा कितनी प्रबल राष्ट्रीय तथा सामाजिक शक्ति का संचयन हो सकता था, जो केवल इसी राष्ट्र की नहीं बल्कि विश्व-मानवता की जड़ता को तल से सतह तक हिला सकती थी। पर ऐसा न करके हमारे राष्ट्र के नेताओं और विद्वानों ने भी कोई सुधार का प्रयत्न न कर जनता के अन्ध-विश्वास की भावना को ही

बढ़ावा देने में कल्याण माना, यह क्यों ?

"सोच-सोचकर मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि या तो मैं ही पागल हूँ जो अकेला इस तरह से सोच रहा हूँ, या ये सब नेता और विद्वान् पागल हैं। पर इतने बड़े-बड़े विद्वान् लोग पागल नहीं हो सकते, इसलिए मैं ही पागल हूँ; मेरे दिमाग की बनावट में ही कुछ गड़बड़ी है अन्यथा मैं जहाँ जाता हूँ वहीं लोग मेरे विचारों का विरोध क्यों करने लगते; मेरे विरुद्ध तरह-तरह के षड्यन्त्र क्यों रचते, जब कि मैंने कभी किसी का अहित नहीं चाहा ? निश्चय ही मेरे भीतर ही कोई बहुत बड़ी कमी है, कोई ऐसा विकार है जो मुझे सामूहिक जनता और उनके नेताओं के साथ किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर सहमत नहीं होने देता।

"इस तरह सोचता हुआ मैं प्रयाग से पटना पहुँचा। पटना में मेरे लिए न कोई काम था, न कोई आकर्षण। मैं अमृतसर भी जा सकता था। मेरे लिए दोनों स्थान समान थे, पर चूँकि ऐन मौके पर पटना की ही ओर मन झुक गया, इसलिए वहीं की गाड़ी पकड़ ली। वहाँ गुरुद्वारे के पास कुछ दिन रहा। कुछ लोगों से, जिनमें सिक्ख भी थे, मेरी जान-पहचान और मित्रता हो गई। पर मेरे मन में चैन नहीं था और तरह-तरह की आवश्यक तथा अनावश्यक चिन्ताओं के दबाव से सिर की नसों में बहुत अधिक तनाव आ गया था। अक्सर मैं सिर पर ही हाथ लगाए रहता और फूली हुई-सी नसों को दबाए रहता। गुरुद्वारे के एक सरदारजी ने मेरा यह हाल देखकर मुझे राँची आकर इलाज कराने की सलाह दी। पहले कुछ दिन तक मैं उनकी बात को हँसी में टालता रहा। पर उनके बार-बार सुझाने पर मैंने सोचा कि राँची आने में हानि ही क्या है ? मेरे लिए जैसा वहाँ वैसा ही यहाँ भी। बल्कि यहाँ कुछ अपने ही ढंग से सोचनेवाले साथियों के मिलने की सम्भावना अधिक है, इसलिए मुमकिन है यहाँ मैं वहाँ की अपेक्षा अच्छी तरह समय बिता सकूँ; यह सोचकर मैं यहाँ आने के लिए राजी हो गया। सरदारजी बहुत भले आदमी थे और प्रभावशाली भी। उन्होंने अपने एक धनी मित्र के द्वारा मेरे यहाँ आने का प्रबन्ध कर दिया। यहाँ के वातावरण में, पता नहीं कैसे, मेरा खोया हुआ आत्म-विश्वास फिर जाग उठा। बिना डॉक्टरी इलाज के ही मेरा चित्त ठिकाने आ लगा। मैंने डॉक्टर को साफ बता दिया कि दूसरे किसी भी इलाज के लिए मैं राजी नहीं हो सकता; यहाँ का वातावरण ही मेरे इलाज के लिए काफी है। तब से—प्रायः अठारह महीनों से—मैं यहीं पड़ा हूँ। अस्पताल के भीतर

मैं केवल एक ही महीने रहा। उसके बाद अस्पताल के पास ही एक टीले में एक छोटी-सी कुटिया बनाकर रहता हूँ। यहाँ प्रायः प्रतिदिन एक बार चला आता हूँ और यहाँ के साथियों से मिल लिया करता हूँ।"

मैं आदि से अन्त तक तन्मय भाव से स्वामीजी का किस्सा सुनता रहा। सुनने के बाद भी मेरा कुतूहल शान्त न हुआ। उनके स्वभाव और चरित्र में एक ऐसी विचित्रता मैं पा रहा था जो मुझे साधारण जन-स्तर से बहुत ऊपर उठी हुई मालूम होती थी। मैं काफी देर तक आश्चर्य और श्रद्धा-मिश्रित भावना से उनके सुन्दर व्यक्तित्व पर दृष्टि गड़ाए रहा। जब सम्मोहन की स्थिति से उबरा तब बोला, "भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के सम्बन्ध में आपके अपने विचार क्या हैं, यह जानने के लिए मैं बहुत उत्सुक हो उठा हूँ।"

"गॉड मेड मैन एण्ड मैन मेड गॉड," कहता हुआ नीले रंग की फटी कमीज, नीचे के सिरों पर फटे हुए सफेद पैण्ट और भूरे रंग और पुराने घिसे हुए पम्प-शू पहने एक ऐंग्लो इण्डियन हम दोनों की बगल से होता हुआ चला गया। एक चील बहुत ही तीखे और कर्कश स्वर में चीखती हुई हमारे ऊपर से चली गई। क्षण-भर के लिए ऊपर की ओर देखकर अपनी दृष्टि से चील का अनुसरण करने के बाद स्वामीजी ने मेरी ओर दृष्टि की और अत्यन्त धीर तथा शान्त स्वर में बोले, "मेरा यह निश्चित विश्वास है कि एक दिन सारे संसार की युग-युग से विकसित सांस्कृतिक धाराएँ भारतीय संस्कृति से मिलकर एकाकार हो जायँगी। अनेक धाराएँ पहले ही उसमें घुल-मिल चुकी हैं और शेष धाराएँ बहुत-से टेढ़े-मेढ़े चक्करों के बाद अन्तर्धाराओं के रूप में उस विराट् सांस्कृतिक महासागर में सम्मिलित होने के लिए निरन्तर अलक्षित रूप से बढ़ी चली जा रही हैं। मानवीय बुद्धि और चेतना का चरम विकास जीवन के जिस अन्तिम महासत्य तक पहुँच सकने में समर्थ है, गीता और उपनिषदों के युगों में भारतीय संस्कृति वहाँ तक हजारों वर्ष पहले ही पहुँच चुकी थी। चूँकि साधारण मानवीय बुद्धि उस महासत्य को अपना सकने में समर्थ नहीं थी, इसलिए इतने युगों तक इस देश की जनता गलत रास्तों में भटकती रही है। समग्र मानवता को युगों तक भटकते रहने के बाद फिर उसी ओर लौटना होगा, क्यों कि सभी संस्कृतियों के चरम विकसित रूप उसमें निहित हो चुके हैं।

"इस देश की सांस्कृतिक परम्परा विराट् और बहुमुखी रही है। युग-युग से

मानवता जिन विभिन्न दिशाओं में भौतिक अथवा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करती रही है वे सब भारतीय सांस्कृतिक धारा के अन्तर्गत प्रारम्भिक काल से ही समाहित होते चले आए हैं। विराट् और महामानववादी आदर्श को अपनाने का ही यह फल था कि इस देश में संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टिकोण कभी स्वामित्व प्राप्त न कर सका। सभी परस्पर-विरोधी धर्मों और मतों की मान्यता यहाँ समान रूप से स्वीकृत की गई। आर्य और अनार्य, वैदिक और बौद्ध संस्कृतियाँ एक-दूसरे से मूलगत विरोध रखने पर भी धीरे-धीरे रहस्यमयी रासायनिक क्रियाओं द्वारा परस्पर घुल-मिलकर, नये-नये, उन्नततर, धार्मिक और दार्शनिक मतों और मतवादों के रूप में प्रकट होने लगीं। बाहर से यवन, शक, हूण आदि जो-जो जातियाँ यहाँ आईं उन सबकी संस्कृतियाँ यहाँ की विराट् संस्कृति के महासागर में मिलकर एकाकार हो गईं। विश्व के जिस किसी भी कोने में किसी भी जाति द्वारा जो भी नया सांस्कृतिक तत्त्व या भौतिक सत्य आविष्कृत हुआ उसे इस देश की महासंस्कृति ने चुम्बक के-से आकर्षण से खींचकर अपने में मिला लिया। इसलिए यहाँ परस्पर-विरोधी खण्ड-सत्य बिलकुल पास-पास रहते हुए लम्बे अर्से तक स्वतन्त्र रूप से टिके रहे और फिर धीरे-धीरे, बेमालूम ढंग से एक-दूसरे में घुल-मिलकर एक महासत्य में विलीन होते चले गए।

"इन्हीं सब कारणों से भारतीय संस्कृति की परम्परा और विशिष्टता के महत्त्व को समझ पाना कोई आसान काम नहीं रह गया है। विराट् के सभी पहलुओं को पूर्णतया देख सकने के लिए दृष्टि भी विराट् ही चाहिए, अन्यथा उसके छिट-फुट और परस्पर-विरोधी पहलू ही सामने आयँगे, जिनसे उलझन घटने के बजाय बढ़ती ही चली जायगी। जब से यह देश विराट् के आदर्श से च्युत हुआ तब से यहाँ नाना मत-मतान्तर खड़े हो गए और क्या भौतिक और क्या आध्यात्मिक, सभी दृष्टियों से इसका ह्रास और पतन आरम्भ हो गया।

"फिर भी मेरा विश्वास है कि इस देश की संस्कृति का विराट्वादी आदर्श, जिसका उद्देश्य समग्र मानवता को ऊपरी प्रभेदों के बावजूद एक सूत्र में बाँटने का है, आज भी नष्ट नहीं हुआ है। अन्तर्धारा की तरह वह अज्ञात रूप से आजके विश्व की परस्पर-विरोधी, अपने ही द्वारा रचे गए विषम आर्थिक और राजनीतिक बन्धनों में स्वयं उलझी हुई शक्तियों को एक मूल महाधारा में संयोजित करने की ओर निरन्तर सचेष्ट है। वह दिन दूर नहीं है जब इस देश की जनता

संकीर्ण धार्मिक उलझनों और सामाजिक विषमताओं से मुक्त होकर भौतिक उन्नति और आर्थिक समस्थिति प्राप्त कर लेने के बाद सारे संसार को अपने महान् आदर्श की छत्रच्छाया में खींचकर पीड़ित विश्व मानवता के अन्तिम उद्धार का बीड़ा उठाएगी। आज संसार में सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में जितने भी महत्त्वपूर्ण और परस्पर-विरोधी लगनेवाले 'वाद' फैले हुए हैं वे इस देश की महासंस्कृति के मूल सूत्र में गुँथकर एक दिन एक महावाद की ओर समग्र मानवता को सामूहिक रूप से, समान उद्देश्य से, आगे बढ़ाने में समर्थ होंगे, यह ज्वलन्त सत्य कल आनेवाले प्रभात की तरह निश्चित है।"

स्वामीजी का चेहरा तमतमा उठा था और वह भाव-मग्न दृष्टि से शून्य की ओर देख रहे थे, जैसे भविष्य में सफल होनेवाले स्वप्न को प्रत्यक्ष देख रहे हों।

तब से स्वामीजी से मेरी घनिष्ठ मित्रता हो गई। वह प्रायः प्रतिदिन अस्पताल में आते थे और अपने सभी 'साथियों' से कुशल-मंगल पूछने के बाद मेरे साथ काफी देर तक एकान्त में विविध विषयों पर बातें करते थे। उनकी बातें मुझे बहुत ही रोचक और साथ ही ज्ञानवर्द्धक लगती थीं। उनके आगे मैं अपने जीवन की कोई भी बात छिपा न सका। प्रतिदिन अपने किसी-न-किसी कटु या मीठे अनुभव की बातें उन्हें विस्तार से सुनाता। वह बड़े ध्यान से सुनते और सुनकर बहुत प्रभावित लगते। एक दिन जब मैं उन्हें राँची आने के पहले तक का अपना अन्तिम किस्सा सुना चुका तब स्वामीजी अत्यन्त करुण मुस्कान मुख पर झलकाते हुए बोले, "लगता है, मित्र, कि सारा संसार, सारा युग ही जैसे पागल हो उठा है। साधारण-से-साधारण व्यक्तियों के प्रतिदिन के छोटे-मोटे व्यवहारों से लेकर बड़े-से-बड़े और समर्थ-से-समर्थ राष्ट्रों के सामूहिक व्यवहारों तक जहाँ-कहीं भी दृष्टि डालो सर्वत्र आपको ऐसे लक्षण दिखाई देंगे जिन्हें पागलपन के सिवा और क्या कहा जाय, मेरी समझ में नहीं आता। यही देखो न, जो राष्ट्र अणु-अस्त्रों का अधिक-से-अधिक निर्माण और संचय करते चले जा रहे हैं वे ही शान्ति का नारा भी सबसे ज्यादा लगा रहे हैं। शान्ति के प्रयत्नों का अर्थ ही आज दूसरे राष्ट्रों से सैनिक गठबन्धन माना जाता है। अधिक उत्पादन-शक्तिवाले राष्ट्र यदि अपने अतिरिक्त उत्पादन

को अभावग्रस्त राष्ट्रों में बाँट दें तो संसार से तीन-चौथाई से भी अधिक भौतिक विषमता नष्ट हो जाय। पर ऐसा नहीं किया जाता, बल्कि अतिरिक्त उत्पादन को नष्ट कर देना अधिक उपयुक्त माना जाता है; और यह सब 'शान्ति' के नाम पर होता है। यही हाल व्यक्तियों के क्षेत्र में है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के प्रति सहानुभूति और समवेदना के नाम पर अपना उल्लू सीधा करने के फेर में दिखाई देता है। हालाँकि परिणाम अन्त में उसका उल्टा ही होता है। फल यह दिखाई देता है कि अत्याचार करनेवाले और अत्याचारग्रस्त, दोनों पागलखाने में भरती होने योग्य बन जाते हैं—केवल इस अन्तर के साथ कि अत्याचार करनेवाले को रक्त-चाप का रोगी बताया जाता है और अत्याचारग्रस्त को साफ शब्दों में पागल कह दिया जाता है। एक और विरोधाभास यह देखने में आता है कि अन्तराष्ट्रीय राज-नीति को महाविनाश की ओर संचालित करनेवाले पागलों को आज महानेता कहा जाता है और उस पागलपन का विरोध करनेवालों को पागलखानों में भरती करने की सलाह दी जाती है।"

"हिरन हिज! हिरन हिज! कहो स्वामीजी, कहाँ भगा दिया हिरन?" कहता हुआ मोटा और नाटा कामेश्वर सहसा हम दोनों के बीच में आकर खड़ा हो गया। स्वामीजी के कुछ उत्तर देने के पहले ही वह सामने की ओर देखकर अचानक बोल उठा, "वह देखो, भागा जा रहा है हिरन! पकड़ो साले को!" और ठीक हिरन की तरह ही तेज चौकड़ी भरता हुआ वह जल्दी ही आँखों से ओझल भी हो गया।

"यह वही सोने का मायामृग है, मित्र, जिसने राम को भी धोखे में डाल दिया था," स्वामीजी बोले। "दुनिया आज भी उसी के पीछे पागल होकर दौड़ी चली जा रही है। इतने युगों के बाद भी अभी तक इस विचित्र मानवीय मनो-वृत्ति में कोई अन्तर नहीं आ पाया। कभी-कभी बिजली के-से प्रकाश में यह सत्य मेरे आगे कौंध जाता है कि जब तक मानवता इस सोने के हिरन के मोह से मुक्त नहीं हो पाती तब तक उसकी एक-दूसरे से जुड़ी हुई असंख्य व्याधियों का भी अन्त नहीं हो सकता। सारे संसार के पागलपन के मूल में यही सोना है। जिन राष्ट्रों के पास अधिक-से-अधिक सोना संचित है आज वे ही दूसरे सभी राष्ट्रों को, सम्पूर्ण मानवता को, कठपुतलियों की तरह नचा रहे हैं और स्वयं भी उसके मद से मस्त होकर नाच रहे हैं। यह सबसे अनावश्यक धातु पक्की मिट्टी की तरह ही केवल

कलात्मक कारीगरी के लिए उपयुक्त है। उसके अतिरिक्त जब तक उसकी कुछ भी उपयोगिता शेष रहेगी तब तक मानवता का कल्याण मैं सम्भव नहीं देखता।"

जब स्वामीजी को पता चला कि मेरा कहीं कोई ठौर-ठिकाना नहीं है तब वह परम आनन्दपूर्वक मुस्कराए। बड़ा ही मीठा व्यंग्य उनकी आँखों में और होठों के इर्द-गिर्द सुस्पष्ट झलक उठा। उसके बाद बोले, "एक छोटी-सी कुटिया मैंने अपने हाथों से पास ही एक बरगद के पेड़ के नीचे बनाई है। उस बिल के भीतर दो आदमी आसानी से घुसकर पाँव फैला सकेंगे। चलिए वहीं। मुझे भी एक साथी की जरूरत है। अकेलेपन से इधर मैं भी बहुत घबरा गया हूँ।"

तब से मैं स्वामीजी के साथ उसी 'बिल' में रहने लगा। पर हर समय मन बहुत ही भारी और एक स्पष्ट ग्लानि से भरा-सा रहता था। संघर्ष से मुँह मोड़-कर, राँची आकर मैं जो रणछोड़दासजी का अनुगामी बन गया था, अपनी वह नई प्रवृत्ति—चाहे वह कैसी ही अस्थायी क्यों न हो—मुझे रह-रहकर कचोट रही थी।

इसी मनःस्थिति में एक दिन अचानक मानसिक अस्पताल के फाटक पर मुझे लीला के मुनीम मगनलालजी एक मोटर पर बैठे दिखाई दिए। उनके साथ दो-तीन आदमी और भी थे। मुझे लगा कि मगनलाल जी ने एक झलक मुझे अच्छी तरह देख लिया और वह मुझे अप्रत्याशित स्थान में देखकर चकित से लगते थे। सम्भवतः वह मुझे आवाज देने ही जा रहे थे कि कार बड़ी तेजी से फाटक के भीतर घुस गई।

प्रायः डेढ़ घण्टे बाद जब उनकी कार लौटकर आई तब मैं अपनी (अर्थात् स्वामीजी की) कुटिया के बाहर अनमने भाव से खड़ा था। स्वामीजी उस समय भीतर खिचड़ी बना रहे थे। मुझे देखकर सहसा मगनलालजी ने 'कार' खड़ी करवाई और बाहर निकलकर उन्होंने कहा, "नमस्कार! कहिए, आप यहाँ कहाँ और कैसे?"

मैंने अति संक्षेप में उनकी बात का उत्तर देते हुए कहा, "आप बताइए, आप यहाँ कैसे?"

"मेरे एक रिश्तेदार हैं, उन्हें दिमाग की बीमारी हो गई है। उन्हें अस्पताल में भरती कराने आया हूँ।"

"कलकत्ता में सब लोग कुशल से तो हैं ?"

"जी हाँ। आप अचानक चले आए, इसलिए लीला बहन बहुत चिन्तित थीं। चलिए न कलकत्ता मेरे साथ। क्यों, चलेंगे ?"

"जी नहीं ! अभी कुछ दिन यहीं आराम करूँगा।"

हम लोगों की बातें सुनकर स्वामीजी बाहर निकल आए थे।

"आप इसी कुटिया में रहते हैं क्या ?" मगनलालजी ने पूछा।

"जी हाँ, स्वामीजी के साथ," मैंने रूखे भाव से कहा।

मगनलालजी कुछ क्षण तक चुपचाप खड़े-खड़े मेरी ओर देखते रहे। मेरा रूखा भाव देखकर उन्हें अधिक बातें करने का साहस नहीं होता था। मैं उनकी आवभगत के लिए और उनके साथ शिष्टाचार बरतकर व्यर्थ की बातों में अपने को और उनको उलझाए रखने के लिए तनिक भी उत्सुक नहीं था, इसलिए मगनलालजी के लिए उस अशोभन मौन के बाद चुपचाप वापस चले जाने के सिवा और कोई दूसरा रास्ता मैंने नहीं छोड़ा था।

विदा होते हुए उन्होंने कहा, "अच्छा, नमस्कार ! कोई सन्देश लीला बहन के लिए ?" अन्तिम वाक्य उन्होंने प्रायः डरते-डरते कहा।

"उनसे मेरा नमस्कार कह दीजिएगा।"

"बस ?" प्रायः डरते-डरते मगनलालजी बोले।

"बस।"

"अच्छा !" कहकर उन्होंने जैसे एक ठण्डी साँस भरी और फिर धीरे से मोटर की ओर लौट चले।

जब कार चली गई तब मैं एकदम अनमने भाव से काफी देर तक उसी स्थान पर ज्यों-का-त्यों खड़ा रहा। मुझे याद आया, लीला ने एक दिन कहा था कि मगनलालजी उससे अपनी सगी बेटी के समान स्नेह करते हैं। बुड्ढे मुनीब की आँखों में मुझसे विदा होते समय अपरिसीम निराशा का-सा जो एक भाव सुस्पष्ट परिस्फुट हो उठा था वह लीला की उस बात के प्रकाश में मेरी भीतरी आँखों के आगे गाढ़े रंगों में प्रतिफलित हो उठा।

उस दिन से फिर एक अस्फुट बेचैनी, जिसे मैं अपने मनके अतल में गाड़ने

का पूरा प्रयत्न कर चुका था, रह-रहकर बीच-बीच में उभर उठने लगी। मेरा चेता जानता था कि जब तक लीला की स्मृति को मैं शरीर के भीतर धँसे हुए टूटे काँटे की तरह सुई की नोक से खोद-खोदकर जड़ से बाहर न निकाल डालूँ तब तक मेरे जीवन की वह गति, जो कुछ समय से अवरुद्ध-सी हो गई है, नया प्राण नहीं पा सकती। मुझे पूरा विश्वास था कि मैं उस असाधारण-सी स्मृति को राँची में कुछ दिन के एकान्तवास द्वारा एकदम मिटाने में सफल हो जाता, जब कि मैं उससे कई गुना बड़ी, महत्त्वपूर्ण और मार्मिक स्मृतियों को भुला सकने में समर्थ हुआ था। पर यह मेरी कल्पना के परे था कि वहाँ भी लीला का कोई 'सन्देशवाहक' अप्रत्याशित रूप से पहुँच जायगा।

फागुन का महीना था। आम के पेड़ों में गुच्छ-गुच्छ बौरों की बहार दिखाई देती थी। नीम की पुरानी पत्तियाँ मस्त फाल्गुनी हवा के हिलकोरों से नाचती-गाती हुई धरती पर गिरती जाती थीं, जैसे नई पत्तियों के निकल आने के उल्लास में वे अपने अस्तित्व को विलीन करने में ही जीवन की चरम सार्थकता मान रही हों। दिन-भर वे पत्तियाँ नीचे गिरती हुई जमीन पर बिछ जाती थीं, जैसे बसन्त के शुभागमन पर पाँवड़े बिछा रही हों।

कोयलों का आगमन अभी नहीं हुआ था, पर फाख्ते अपने छोटे-से हृदय में समाई हुई न जाने किस गहन-गम्भीर वेदना को मत्त स्वर में, पूरे प्राण-प्रवेग से बाहर निकाल रहे थे।

शुक्ल पक्ष आरम्भ हो गया था। उस दिन शायद सप्तमी थी। रात में प्रायः साढ़े बारह या एक का समय रहा होगा। चन्द्रमा पश्चिम आकाश के नीचे काफी ढल चुका था। मैं अपनी कुटिया के बाहर लेटा हुआ करवटें बदल रहा था। शायद एक छोटी-सी नींद पहले ही ले चुका था। अब नींद नहीं आती थी। पास ही कहीं से रातरानी की मस्तानी सुगन्धि मन्द-मन्द हवा में डोलती और थिरकती हुई मेरी नाक के पास आकर जैसे किलोलें कर रही थी। अस्पताल के चारों ओर के वातावरण में कुछ समय के लिए जैसे एकदम सन्नाटा-सा छा गया था।

करवटें बदलते-बदलते जब मैं थक गया तब सहसा न जाने क्या सोचकर उठ

बैठा और बाहर खुले मैदान में टहलने लगा। पश्चिम की ओर से पेड़ों से छन-कर आती हुई जो चाँदनी नीचे हरी दूब में या नीम की सूखी पत्तियों के ढेरों के ऊपर अस्पताल की इमारत पर पड़ रही थी वह मन्द-मन्द फागुनी हवा और रात-रानी की मन्द सुगन्धि के साथ मिलकर एक अनुपम काव्यमय वातावरण की सृष्टि कर रही थी।

मैं धीरे-धीरे टहल रहा था। सहसा उत्तर की ओर से एक विचित्र स्वर-तरंग मेरे कानों में आई। पहले मुझे लगा कि कोई झींगुर अपनी मस्ती में जमीन के नीचे से एक लम्बी तान ले रहा है। उसके बाद जब मैंने कुछ ध्यान से सुनने का प्रयत्न किया तब ऐसा लगा जैसे कब्र के भीतर से किसी का करुण-कोमल और अत्यन्त सुकुमार कण्ठ ऊपर की मिट्टी और पत्थरों के भार से एकदम दबा होने पर भी किसी अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र के रास्ते से फूट निकलने के लिए विकल हो उठा है। आवाज की बारीकी और अस्पष्टता के बावजूद वह गीत-स्वर-लहरी ऐसी मीठी और मोहक थी कि सुनकर मेरे प्राणों के कण-कण, जैसे युगों बाद, एक अपूर्व पुलक-कम्पन से नाच उठे।

धीरे-धीरे वह आवाज स्पष्ट से स्पष्टतर होती चली गई। तब लगा कि कोई बंगाली लड़की कुछ दबे हुए गले से, किन्तु परिपूर्ण भावमग्नता के साथ, एक लम्बी तानवाला गीत गा रही है। सुनकर लगता था जैसे अपने अन्तर की सारी भाव-वेदना, सम्पूर्ण रसमयता, उसने उस गीत-स्वर में घोल दी हो। धीरे-धीरे स्वर स्पष्ट से स्पष्टतर होता चला गया और तब मैं समझ गया कि वही लड़की गा रही है जिसने कभी स्वामीजी के अनुरोध पर रवीन्द्रनाथ का एक गीत हम लोगों को सुनाया था।

मैं नीचे हरी दूब पर पलथी मारकर बैठ गया और तन्मय होकर सुनने लगा। मेरे भीतर न जाने कितने युगों के कितने अवरोधों को वह स्वर-धारा धोती और बहाती जा रही थी। मुझे उस दिन की याद आने लगी जब लीला मेरी गीत-धारा के बहाव में बहकर सहसा परिपूर्ण भावोच्छ्वास के साथ मेरे स्वर-से-स्वर मिलाकर गा उठी थी, "भारतमाता ग्रामवासिनी!" और लीला का एक दूसरा ही रूप मेरे आगे उभरकर आने लगा, जिसकी ओर कभी मेरा ध्यान गया था, पर जिसे मेरा सचेत मन कुछ दूसरे ही चक्करों में उलझने के कारण भूल-सा गया था। उसके सहज-सुन्दर, लीलामय व्यक्तित्व का भाव-सौन्दर्य जैसे मूर्तिमान् होकर शुद्ध

और अकलुष रूप में मेरी आँखों में समा गया। मुझे लगा कि वह एकाकिनी नारी जीवन की सारी पार्थिव सुविधाओं के रहते हुए भी सुख की एक बूँद भी विश्व के किसी भी स्रोत से नहीं खींच पाई है। न तो उसके सहज सयानेपन की गम्भीरता उसके अन्तर के रीतेपन को भर सकी है और न उसके दबे हुए लड़कपन की अस्फुट चंचलता ही उसके सूने प्राणों में सहज आनन्द के उल्लास की बिजली संचारित कर सकने में समर्थ हो सकी है। अपनी इस मनःस्थिति में उसने पाया मुझ-जैसे व्यक्ति को, जिसके मन की कोमल रसमयी प्रवृत्तियाँ जीवन के दारुण अनुभवों के कारण कठोर और मठर बन गई हैं। पर मेरे हृदय के ऊपर के कई कठिन स्तरों के नीचे रसमय सागर लहरा रहा है, वह सूखा नहीं, कभी सूख नहीं सकता, इस अन्तर्हित सत्य का ज्ञान उसे कैसे हुआ? वह कौन-सी आँख उसने पाई है जो एक्स-किरणों की तरह किसी भी वस्तु या व्यक्ति के बाहरी ठोसपन का अस्तित्व कतई स्वीकार न करके सीधे एकदम भीतर के निरावरण सत्य को तत्काल ग्रहण कर लेती है? नहीं लीला, मैं तुम्हें कभी किसी भी हालत में दोषी नहीं ठहराऊँगा, मैंने मन-ही-मन कहा। तुम चाहे मेरी शर्त को मानो या न मानो, तुमसे मेरा मिलना फिर से हो पाए या न हो पाए, तुम्हारे प्रति मेरा अन्तर चिर-कृतज्ञ रहेगा। तुम्हारे व्यक्तित्व का वह रूप मैं देख चुका हूँ जो आज के भ्रष्टाचारपूर्ण और कृत्रिम जीवन में रेडियम के कणों की तरह दुर्लभ हो गया है, इसलिए मैं सन्तुष्ट हूँ। तुम्हारे अन्तर के उन प्रज्वलित कणों के चारों ओर बाहर से जिन आवश्यक चट्टानों के स्तूप इकट्ठा हो गए हैं वे तुम्हारे और मेरे बीच चाहे कैसा ही विराट् व्यवधान खड़ा क्यों न करें, वे सत्य नहीं हैं। सत्य तुम्हारे भीतर के वे प्रदीप्त कण ही हैं जो अब किसी भी हालत में मेरी आँखों से ओझल नहीं हो सकते। न जाने कितनी देर तक मेरा मन इसी तरह की भाव-धारा में डूबता-उतराता रहा।

वह उन्मादक स्वर-लहरी निरन्तर ऊपर को उठती हुई और चाँदनी की तरंग-तरंग में नाचती हुई जैसे समस्त विश्व की गलित पंकिलता को धो रही थी और समग्र मानव-जाति की घृणित स्वार्थजनित विकृतियों को थपकी दे-देकर सुला रही थी। लगता था जैसे कब्रों के भीतर कुढ़ती हुई मानवात्माएँ भी उसे सुनकर जाग उठी हैं और उसके साथ ही ईथर में उड़ने के लिए विकल हो उठी हैं; यह भूल रही हैं कि उनके पंख नहीं हैं।

गीत-स्वर के बन्द हो जाने पर भी मैं बहुत देर तक उसी स्थान पर उसी भाव-मग्न अवस्था में बैठा रहा। जब उठा तब मेरा मन उन निर्जल और सफेद बदली के टुकड़ों की तरह हलका हो चुका था जो पश्चिम-गगन में चाँद के चारों ओर तैर रहे थे। उसके बाद मैं अपने बिस्तर पर जाकर लेट गया।

रात की गाढ़ी नींद के बाद जब सुबह मक्खियों के उत्पातके कारण नींद उचटी तब भी उठने की इच्छा नहीं हो रही थी। मैं गरम चादर ठीक से ओढ़कर, करवट बदलकर फिर से सोने की तैयारी करने ही जा रहा था कि ऊँघती हुई आँखों के सामने केसरिया रंग की साड़ी पहने एक नारी-मूर्ति को खड़े देखा। क्षण-भर के लिए लगा कि जो नारी नींद में मेरी स्वप्न-वेदना के पंखों के सहारे नीचे उतरकर मेरे भाव-लोक में विचरण करती हुई, मेरे अशान्त मन को थपकियाँ देती हुई सुला रही थी, यह कुछ उसी से मिलती-जुलती है। दोनों हाथों से आँखें मलकर मैंने ध्यान से देखा। मैं क्या अब भी सपना देख रहा था? मैं देख रहा था कि लीला सामने खड़ी है। एक शान्त, स्निग्ध, मधुर वेदना उसकी मन्द-मन्द मुस्कराती हुई आँखों से जैसे चू-चू पड़ती थी।

मैं हड़बड़ाता हुआ उठ बैठा। "लीला," मैंने कहा, "कब आई तुम?" मेरी आँखों से उस समय निश्चय ही विस्मय का भाव व्यक्त हो रहा होगा। पर उस विस्मय में आनन्द और उल्लास का पुट कितना था—था भी या नहीं—यह केवल लीला ही बता सकती थी।

"मैं कल शाम ही को पहुँच गई थी। सोचा कि रात में तुम्हारे आराम में विघ्न डालना ठीक नहीं और सुबह इतमीनान से तुमसे मिलूँगी।"

"कोई पत्र दिये बिना ही तुम सीधे यहाँ पहुँच गईं; हम लोगों को कोई सूचना भी तुमने नहीं दी। यह बड़ा अन्याय किया तुमने," कहते हुए मेरे मुख का भाव निश्चय ही काफी गम्भीर हो गया होगा।

"सो तो देख ही रही हूँ," दबी हुई दुष्टतापूर्ण मुस्कान के साथ लीला बोली। "मैंने आते ही सबसे बड़ा अन्याय यह किया कि तुम्हारी मीठी-मीठी नींद में विघ्न डाल दिया। अब उठो। जल्दी नहा-धोकर तैयार हो जाओ और फिर मेरे साथ सीधे होटल चलो।"

"होटल में मैं क्या करूँगा?" कहता हुआ मैं धीरे से पलंग से नीचे उतर आया।

"वह बाद में बताया जायगा। पहले तुम तैयार तो हो लो!"

मैंने एक कुरसी बाहर निकालकर लीला के बैठने के लिए रख दी और स्वयं मुँह-हाथ धोने चला गया। वहाँ मैं यह सोचता हुआ मन-ही-मन मुस्कराने लगा कि मैंने लीला से पत्र द्वारा सूचना न देने की बात खूब कही। किस पते पर वह पत्र भेजती जब मैंने स्वयं कभी कोई पत्र ही उसके लिए नहीं भेजा।

नहाने-धोने और कपड़े बदलने में काफी देर लग गई। जब बाहर आया तब लीला बोली, "चलो, स्वामीजी से मिलकर तुम्हें इस जेल से छुड़ा लिया जाय। कहाँ हैं स्वामीजी?"

"तो तुमको स्वामीजी तक का हाल मालूम है?" आश्चर्य से मैंने कहा। "पर यह सब स्वेच्छाकृत-बन्धन था, लीला। यह जेल नहीं, मेरे लिए आश्रम सिद्ध हुआ।"

"आश्रम ही सही, पर हर आश्रम की अवधि की एक सीमा होती है, इतना तो तुम मानोगे ही। अब जब इस आश्रम के टूटने का समय आ पहुँचा है तब तुम्हें दुखी भी नहीं होना चाहिए।" उसके मुख पर वही चिर-परिचित दुष्टता-भरी मुस्कान खेल रही थी।

"स्वामीजी से मिले बिना मैं नहीं जा सकता," मैंने कहा।

"ठीक है। मैं स्वयं भी उनसे मिलने के लिए बहुत उत्सुक हूँ। कहाँ हैं वह?"

"अभी आते ही होंगे। भीतर होंगे," कहकर मैं स्वामीजी को देखने के उद्देश्य से भीतर गया, पर वहाँ कोई नहीं था।

"मालूम होता है आज तड़के ही वह अस्पताल चले गए हैं," मैंने कहा।

"तब चलो। हम लोग वहीं चलकर उनसे मिलें।"

हम लोग वहीं पहुँचे।

मैं स्वामीजी को इधर-उधर खोजने लगा।

"अटक गई! स्वामीजी, अटक गई!" बगलवाले बरामदे से आवाज आई।

मैं लीला को साथ लेकर वहीं पहुँचा जहाँ से आवाज आई थी। देखा, उसी नीले चश्मेवाले व्यक्ति के सामने स्वामीजी खड़े थे।

"स्वामीजी, लीला आई है। लीला, यही हैं स्वामीजी, जिनका उल्लेख मैंने किया था।"

लीला ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया। स्वामीजी ने भी पलटे में हाथ जोड़ दिए। उनके मुख पर मौन प्रसन्नता झलक रही थी।

"हिरन द्विज! हाः हाः हाः! हिरन द्विज!" पागल कामेश्वर बोल उठा। "इतने दिनों बाद समझ में आया मतलब! हिरन द्विज! बस, अब मेरा दिमाग ठीक हो जायगा स्वामीजी!"

"कैसे?" स्वामीजी ने विनोदपूर्ण मुस्कान मुख पर झलकाते हुए पूछा।

"देखते नहीं," कहकर उसने पहले लीला की ओर अपनी उँगली से संकेत करते हुए कहा, "हिरन!" फिर मेरी ओर उँगली दिखाते हुए बोला, "द्विज!" और फिर एक बार जोरों से 'हाः हाः' करके हँस उठा।

लीला ने संकोच से मुस्कराते हुए सिर नीचे की ओर कर लिया। मैंने संकेत से स्वामीजी को अपने पास बुलाया, फिर तीनों बाहर निकल आए। बाहर लीला से दो मिनट के लिए छुट्टी माँगकर मैं स्वामीजी को अलग ले गया और बोला, "लीला मुझे लिवा लेने आई है। अब आप की क्या राय है?"

"कोई बात उस सम्बन्ध में हुई थी?"

"नहीं।"

"जब वह तुम्हें लिवा लेने के लिए यहाँ तक आई है तब स्पष्ट है कि उसने तुम्हारी सब बातें मंजूर कर ली हैं। अब प्रसन्न होकर जाओ, चिन्ता की कोई बात नहीं है। मैं तुम्हें बधाई देता हूँ," कहकर स्वामीजी ने सस्नेह मेरी पीठ पर हाथ फेरा। उनकी मुस्कराती हुई आँखों में हलका वाष्प-सा छा गया था।

"अगर मुझे किसी शर्त पर जाना स्वीकार हुआ तब आपको भी चलना होगा, स्वामीजी। मैंने आपको बताया था कि योजना बहुत बड़ी है। बिना आप की सहायता के अकेले मुझसे कुछ न हो सकेगा। आप भाग्य की किसी अलक्षित योजना के अनुसार ही मुझे मिले हैं। अब आपको मैं छोड़ नहीं सकता।"

"मैं आऊँगा, आऊँगा, घबराते काहे को हो! समय आने दो!" मेरी पीठ पर उसी तरह हाथ फेरते हुए स्वामीजी बोले, "समय आने दो।"

उसके बाद हम दोनों लीला के पास जा पहुँचे। स्वामीजी ने लीला की ओर देखते हुए कहा, "आपने बहुत अच्छा किया जो इन्हें लेने स्वयं ही चली आईं, वर्ना यहाँ की हवा ऐसी है कि एक बार फँस जाने पर फिर कोई सहज में बाहर निकलना नहीं चाहता।"

लीला केवल हाथ जोड़े ससंकोच से मुस्कराती रही।

"कल फिर आप के दर्शन करने आऊँगा," मैंने कहा।

"मैंने कहा न था कि यहाँ का मोह छूटना आसान नहीं है," स्वामीजी अपनी मुस्कान में स्नेहपूर्ण व्यंग्य झलकाते हुए बोले। "अब जाइए, देर न कीजिए बहुत दिनों बाद आप दोनों का मिलना हुआ है। मुझे अब अधिक समय के लिए व्यवधानकारी न बनाइए।"

हम दोनों हाथ जोड़कर विदा हुए। लीला ने बताया कि वह मगनलालजी के साथ रेल से आई थी और ड्राइवर कार से आया था। मगनलालजी उसे स्वामी जी की कुटिया दिखाकर स्वयं अपने रिश्तेदार को देखने अस्पताल गये हुए हैं।

जब हम दोनों कार में बैठ गए और गाड़ी चल पड़ी तब मैंने कहा, "तुमने यहाँ आकर मुझे एक अपराधी की तरह अप्रत्याशित रूप से पकड़कर उचित नहीं किया।"

"बहुत ही अनुचित !" दुष्टता-भरी मुस्कान को व्यर्थ में दबाने का प्रयत्न करती हुई लीला बोली।

"और फिर तुमने व्यर्थ में यहाँ आने का कष्ट किया," अत्यन्त खिन्न भाव से मैंने कहा।

"क्यों ?" उसी दुष्टता-भरी तिरछी दृष्टि से मेरी ओर देखती हुई लीला बोली।

"इसलिए कि एक आवारा व्यक्ति के लिए चिन्तित होना किसी भी बुद्धिमान नारी का काम नहीं है।"

"पर मैंने कब कहा कि मैं बुद्धिमान हूँ ?"

"तब ठीक है," कहकर मैं मुँह फुलाकर चुप बैठा रह गया।

कुछ देर तक दोनों मौन बैठे रहे। सहसा लीला सड़क के दाईं ओर देखकर मुझे हिलाती हुई बच्चों की तरह चिल्ला उठी, "वह देखो, देखो, कितना बड़ा हवाई जहाज नीचे जमीन पर उतर आया है। बापरे ! हम लोगों पर टूटकर नहीं गिरा यही गनीमत है।"

मैं अनमना-सा हो गया था। लीला ने जब धक्का दिया तब कठपुतली की तरह मैंने उसकी दृष्टि का अनुसरण करते हुए बाहर की ओर झाँका। ठीक उतरते हुए हवाई जहाज के मॉडल पर एक सुन्दर-सा मकान किसी ने बनाया था। मैं पहले भी उसे देख चुका था। लीला की घबराहट देखकर मुझे बरबस हँसी आ

गई। लीला भी खिलखिला पड़ी। रास्ते-भर वह इसी तरह मुझे कभी खिझाने और कभी रिझाने का प्रयत्न करती रही। मैं भरसक गम्भीर बने रहने का प्रयत्न करता था, पर किसी अनमने क्षण में उसकी आकस्मिक चपलता के कारण मुस्करा भी पड़ता था। मुझे आश्चर्य हो रहा था इस बात पर कि सुबह जब मैंने इतने दिनों बाद पहली बार उसे देखा था तब उसके मुख पर एक सौम्य, गम्भीर और निर्विकार भाव देखा था। लगता था जैसे अन्तर के किसी तीव्र ताप से तपकर, पिघलकर उसके भीतर के सारे रूढ़ धातु-तत्त्व साफ हो गये हैं और असली सोना निखरकर झलझलाने लगा है। पर अब फिर उसका वही पुराना क्रिया आरम्भ हो गया था।

जब हम लोग होटल में पहुँचे तब मैंने देखा कि होटल यूरोपियन ठाठ का था। कमरे के भीतर प्रवेश करते ही मैं एक कौच पर हाथ-पाँव फैलाकर लेटा-सा बैठ गया था।

"यहाँ सामिष और निरामिष सभी तरह का खाना मिलता है," लीला ने कहा, "तुम्हें जिस तरह का भी खाना पसन्द है बोल दो। आर्डर दे दिया जाय।"

"मुझे भूख नहीं है," मैंने धीरे से कहा।

"क्या तुम सचमुच नाराज हो गए?" कहती हुई वह धम्म से मेरी बगल में बैठ गई।

"नाराज नहीं हूँ लीला," उसी तरह दोनों हाथ फैलाए हुए मैंने कहा।

"तब?" कहते हुए उसके चेहरे का रङ्ग एकदम बदल गया था। फिर वही तपःपूत सौम्य तथापि गम्भीर भाव उसकी आँखों में छा गया।

"मैं सोच रहा हूँ कि तुमने व्यर्थ ही इतनी दूर मेरे पास आने का कष्ट क्यों किया!"

"ओफ, मैं कुछ दूसरी ही बात समझ रही थी," एक हलका-सा अव्यक्त व्यंग्य उसके ओठों के इर्द-गिर्द खेल गया।

"क्या?"

"कोई खास बात नहीं, पर मैं कहती हूँ कि तुम्हें आज ही शाम को चलने की तैयारी करनी होगी।"

"कहाँ?" अकृत्रिम आश्चर्य से मैंने पूछा।

"मेरे साथ कलकत्ता और कहाँ?"

"हूँह् !" कहकर मैं बड़े ही ठण्डे भाव से मुस्कराया। फिर बोला, "तुम व्यर्थ ही के चक्कर में मत पड़ो, लीला। तुम्हारे साथ मेरा आना नहीं हो सकता। तुम अपने समाज में, अपने वर्ग के बीच में सुख, सन्तोष और शान्ति का जीवन बिता रही हो, इसलिए मुझ-जैसे अशान्त व्यक्ति को अपने बीच में घसीटकर, जान-बूझकर अशान्ति और असन्तोष मोल न लो। मेरे साथ पल-पल, तिल-तिल करके तुम्हारी आत्मा जलती, भुनती और कुढ़ती रहेगी। मेरे पास अशान्ति के शोलों और असन्तोष के विषैले बीजों के सिवा और है क्या? यह भूलकर भी न समझना कि तुम पार्थिव और भौतिक सुख-साधनों से मेरे भीतर की सामूहिक पीडा के रस को सोखकर धीरे-धीरे मुझे अपने वर्ग के साथ घुला-मिला लोगी। मेरे भीतर का धातु जिस तेजाब से गलकर घुल सकता है वह तुम्हारे पास नहीं है। मैं कलकत्ता अवश्य जाऊँगा जल्दी ही। वह कलकत्ता जो मुझे छः फीट लम्बी और तीन फीट चौड़ी जगह देने में असमर्थ रहा है, वह महानगरी जिसके कालाग्नि से जलते हुए महापेट के भीतर नाना प्रकार की पीड़ाओं, असन्तोषों, अत्याचारों और भोग-विलासों के सम्मिलित साधनों के मिश्रित रस निरन्तर विभिन्न रूप में पचते चले जाते हैं, वह मुझे कभी छोड़ नहीं सकता। उसका प्रतिपल का तिरस्कार ही मुझे निरन्तर अपनी ओर खींचता जाता है। मेरे अपने ही लोगों की मूक पुकार प्रति-क्षण मुझे बेचैन करती रहती है। मेरे वे दीन, दुर्बल और असहाय साथी जो समाज की हर समय जलती रहनेवाली भट्ठी में बिना किसी अपराध के तिल-तिल करके भुनते रहते हैं, वे मुझे बुला रहे हैं। मैं वहाँ अवश्य जाऊँगा, पर तुम्हारे साथ नहीं। माफ करना लीला, तुम्हारे वर्ग से मेरा सम्बन्ध किसी भी प्रकार, किसी भी रूप में नहीं हो सकता। व्यक्तिगत रूप से तुम्हारे प्रति मेरे दिल में सम्मान है, पर मैं यह भी जानता हूँ कि अपने वर्गमूल संस्कारों से मुक्ति पाना तुम्हारे लिए कितना कठिन है?"

लीला के चेहरे का साँवला रंग, जिसमें इस बार किसी कारण से शायद शरीर की क्षीणता, रक्तहीनता और भीतर किसी अव्यक्त निखार के सबब तनिक उजलापन उभरने लगा था, मेरी बातें सुनने पर और अधिक सफेद हो उठा। कुछ क्षण के लिए ऐसा लगा जैसे उसके भीतर की निराशा और घबराहट उसे पत्थर के आँसुओं में डुबो देगी। पर तुरन्त ही वह सँभल गई। अत्यन्त करुण, निरतिशय मार्मिक, बहुत ही धीमे किन्तु सुस्पष्ट स्वर में बोली, "मेरी उस बात को तुम इतनी जल्दी भूल गए जो एक दिन मैंने बड़ी ही गहरी पीड़ा के क्षण में तुमसे

कही थी कि 'मुझे भी तुम अपने ही लोगों में से एक समझो' ! तुमने मुझे इतने बड़े परिवर्तन-की ओर प्रेरित किया और प्रेरित करने के बाद उस परिवर्तन को कार्य-रूपमें परिणत करने के लिए समय दिये बिना ही तुम अचानक मुझे मझधार में छोड़कर भाग गए !" कहकर मर्मशोषी पीड़ा-भरी दृष्टि से वह कुछ देर तक मेरी ओर देखती रही ।

"मैं तुम्हें इसके लिए दोष नहीं देती," पत्थर के आँसुओं को पानी में बदलती हुई लीला बोली, "मेरे जीवन का ऊपरी ठाट देखकर तुम्हें यह कैसे विश्वास हो सकता है कि मैंने तुम्हारे ही लोगों में से एक होने की जो बात कही थी वह केवल मेरे मुँह की बात नहीं थी, मेरे अन्तर की भी वाणी थी । तुमने एक प्रस्ताव मेरे आगे रखा था, मैंने उसके लिए समय चाहा था । यह बिलकुल स्वाभाविक बात थी । उसका कारण मेरे अन्तर का संशय या दुविधा उतनी नहीं थी, जितनी व्यावहारिकता । पर तुमने उसका कुछ दूसरा ही अर्थ लगाया और तुम··· मुझे कोई सूचना दिये बिना ही भाग आए । क्या यह तुम्हारे समान अन्तर्दर्शी के लिए उचित था ?"

उसके अन्तर की सचाई से अत्यन्य प्रभावित होकर मैं उसकी ओर केवल ताकता ही रह गया । वह चुपचाप आँचल से आँखें पोंछ रही थी । मेरे भीतर एक अजीब-सी उथल-पुथल मच रही थी । विचित्र द्वन्द्वों का तूफान मेरे मनको तल से सतह तक झकझोर रहा था ।

काफी देर तक हम दोनों मौन होकर बैठे रहे । उस मौन के परदे के भीतर क्या-क्या अकल्पित और अनुमानातीत परिवर्तन हम दोनों के भीतर होते रहे और कौन-कौन से पुराने और नये तार हम दोनों के बीच टूटते और जुड़ते चले गये, यह देख पाना हमारे लिए सम्भव नहीं था, पर इतना मैं निश्चित रूप से अनुभव कर रहा था कि एक निराली ही क्रिया-प्रक्रिया हम दोनों के भीतर चल रही है ।

लीला का भावावेग उस मौन के दरमियान बहुत-कुछ शान्त हो चुका था, कुछ ऐसा मुझे लगा । उसने एक ब्वाय को पुकारा और दो व्यक्तियों के लिए टोस्ट और चाय का आर्डर दे दिया । इस बार मैंने कोई आपत्ति नहीं की ।

"तो क्या मैं यह समझूँ कि तुमने अपना मन स्थिर कर लिया है ?" ब्वाय के चले जाने पर मैंने कहा ।

"मेरा मन अस्थिर कब था ? तुम भी कभी-कभी बड़ा अजीब प्रश्न कर बैठते

हो !" उसकी कुछ-कुछ गीली आखें सहसा दुष्टता-भरी मुस्कान की उजली धूप में चमकने लगीं।

"मेरा मतलब यह नहीं था···"

"तब क्या था तुम्हारा मतलब ?" फिर वही दुष्टतापूर्ण मुस्कान उसकी आँखों में खेल गई, जिससे मैं बहुत घबराता था।

"मैं यह पूछना चाहता था कि मेरे प्रस्ताव को तुमने पूर्णतः निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया है ?"

"एक संशोधन के साथ," सहसा गम्भीर होकर लीला बोली।

"वह क्या ?" मैंने सन्दिग्ध दृष्टि से पूछा।

"वह यह कि अपनी सारी सम्पत्ति से एक भी पैसा मैं अपने लिए नहीं रख छोड़ूँगी। आज से जो कुछ भी मेरा है वह तुम्हारा होगा, जो कुछ तुम्हारा है वह सब मेरा होगा और जो-कुछ हम दोनों का है वह सबका होगा।"

"पर भोली नारी, मुझ अकिंचन के पास है ही क्या, जो मेरा सब-कुछ तुम्हारा होगा ?"

"तुम्हारे पास जो विशाल हृदय है, मैं अपना सब-कुछ देकर भी उसका मूल्य नहीं चुका सकती।"

"तुम सचमुच पागल हो लीला," मैंने कहा। एक ऐसी आत्म-विस्मृति मुझे घेरती जाती थी कि मैं क्या कह रहा हूँ और क्यों कह रहा हूँ, यह स्वयं नहीं समझ पा रहा था।

"तो मुझे भी यहाँ के पागलखाने में भरती क्यों नहीं करवा देते ?"

मैंने 'होः होः' करके ऐसा ठहाका मारा कि उसी क्षण दरवाजे से भीतर प्रवेश करने वाले ब्वाय के हाथ से चाय का 'ट्रे' गिरते-गिरते बचा।

"पर यह बड़ा गम्भीर प्रश्न है लीला," चाय का 'ट्रे' अनमने भाव से उसकी ओर सरकाते हुए मैंने कहा। "इस पर तनिक और गहराई से विचार कर लो।"

"गम्भीर हो चाहे हलका, मेरे इस अन्तिम निर्णय को अब वज्ररेख जानो," मेरे प्याले में चाय डालती हुई लीला बोली।

चाय पी चुकने के बाद लीला से कुछ समय की छुट्टी लेकर मैं स्वामीजी के

पास लौट चला। स्वामीजी के आगे जब सारी स्थिति स्पष्ट कर चुका तब वह बोले, "अब तुम्हें तनिक भी आनाकानी नहीं करनी चाहिए, तुम जाओ सीधे कलकत्ता।"

"पर स्वामीजी, दुनिया क्या मुझ पर सन्देह नहीं करेगी कि इतनी ढोंग-भरी बातों के बाद अन्त में मैंने एक धनी नारी से सम्पर्क स्थापित किया ?"

"तुम भी दुनिया के कहने-सुनने पर विचार करने लगे ?" एक म्लान मुस्कान [illegible] पर [illegible] लकाते हुए स्वामीजी बोले। "मानता हूँ कि दुनियावालों के बक- [illegible] है पर भले आदमी, तुम यह क्यों नहीं सोचते कि [illegible] गई ? अपना सर्वस्व पीड़ितों की सेवा में अर्पित [illegible] नियों के साथ एकप्राण नहीं हो गई, उनके वर्ग के समान स्तर पर, बल्कि उससे भी नीचे नहीं उतर आई जिनकी पीड़ा तुम्हें इतने दिन से पागल बनाती आई है ? जाओ ! कायरता त्यागो ! बिना तनिक भी दुविधा के लीला का साथ दो !"

"और आप ? आप क्या न चलेंगे ?"

"मैं भी समय पर अपने-आप पहुँच जाऊँगा। जाओ, देर न करो !" मेरी [illegible] पर स्नेहाघात करते हुए स्वामीजी बोले।

दूसरे दिन मैं लीला के साथ कलकत्ता रवाना हो गया।